शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव

लखनऊ विश्वविद्यालय से
पी एच० डी० के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध

शान्तिस्वरूप त्रिपाठी
एम ए पी एच डी
दिल्ली कालेज—दिल्ली विश्वविद्यालय



दिल्ली
रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

प्रकाशक	रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स ४८७२ चान्दनी चौक दिल्ली।
स्वत्वाधिकारी	शान्तिस्वरूप त्रिपाठी
मूल्य	रु० ३५.००
मुद्रक	निरंजनस्वरूप सक्सेना डिनाइट प्रेस दिल्ली

प्राक्कथन

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में आचार्य शङ्कर का अनेक दृष्टियों से अद्वितीय स्थान और योगदान है। शङ्कराचार्य एक महान प्रकाश स्तम्भ एवं ज्ञान के अक्षय स्रोत हैं। उनकी निर्मल एवं मोक्षप्रदायिनी विचारधारा में अवगाहन करके अनेकानेक प्रतिभाओं ने विकास की दिशा सम्प्राप्त की और स्थायित्व प्राप्त किया। आठवीं शताब्दी से लेकर आज तक वे अध्ययन, विवेचन एवं शोध के विषय बने हुए हैं। कबीर एवं उनके जीवन दर्शन तथा साधना को सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रदान करने वाले उनके गुरु रामानन्द जैसे युग प्रवर्तक व्यक्तित्व भी आचार्य शङ्कर से बहुत अंशों में प्रभावित हुए। आचार्य शङ्कर का ब्रह्मवाद एवं मायावाद हिन्दी के सन्त कवियों में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करके अज्ञान से ग्रस्त निराशा से पीड़ित तिमिराच्छन्न भारतीय जनता के शोषित, दमित एवं संत्रस्त जीवन को प्रशस्त करने और कोमलता प्रदान करने में सहायक बना। आचार्य शङ्कर की विचारधारा ने कबीर, नानक आदि सुन्दरदास जैसे विचारकों प्रतिभाओं एवं युगप्रवर्तकों को दिशा प्रदान की। आचार्य शङ्कर का अद्वैत दर्शन विषयक परिकल्पना निर्गुण हिन्दी-काव्य का मूलाधार है।

आचार्य शङ्कर का भारतीय दर्शन के इतिहास में परम महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक मत मतान्तरों और जटिल साधनाओं के फेर में पड़कर देश की चिन्तन शक्ति विशृंखलित हो रही थी। वैदिक समाज और साधना के प्रति जन मानस में अनास्था और विद्रोह सक्रिय हो रहा था। ऐसी स्थितियों में आचार्य शङ्कर का आविर्भाव उन शताब्दियों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। वैदिक व्यवस्थाओं पर आधारित संस्कृति और जीवन अनेक कारणों से गौरव च्युत हो रही

थी। चार्वाक आदि अनीश्वरवादी विचार-पद्धतियाँ गौण पड़ी थीं और इसका सर्वाधिक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि उक्त गाथाओं के अनुकरण पर अनेक साधक संतों को फिर उभरने का अवसर मिलता रहा। इसी सन्दर्भ में अनेक गुह्य और आचारविमुख सिद्ध-सम्प्रदायों को विकसित होने के लिए सबल प्रश्रय मिलता रहा। आचार्य शङ्कर के समक्ष दो विषम स्थितियाँ थीं। मनमाने ढंग से उभरी हुई साधना-तंत्रों की बाढ़ को रोकना और वैदिक साधना और चिंतन परम्परा को जनसाधारण के लिए सुलभ और बोधगम्य बनाना। एक ओर उन्होंने प्रस्थानत्रयी के भाष्य उपलब्ध कराए और उनके द्वारा अपने पूर्ववर्तियों के मनगढ़ंत तर्कों का उत्तर दिया। दूसरी ओर अपने भाष्येतर अथवा छोटी बड़ी रचनाओं के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त और साधना को जन-साधारण के लिए उपयोगी बनाया। निर्गुण काव्य पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव उक्त मत का समर्थन करता है। अद्वैत साधना-तत्त्व इतना व्यापक और विस्तृत है कि जिसके एक-एक पक्ष को लेकर विभिन्न विराट मीमांसाएं करके किसी निष्कर्षविशेष पर पहुंचता है और अन्ततः वही सिद्धान्त सन्तों की जनवाणी में अत्यन्त सरल और सरस सहस्र धाराओं में प्रस्फुटित होकर समस्त भारत की मानस भूमि को शीतल कर रहा है। निर्गुण सन्त-काव्य भी इसी विराट चिन्तन और साधन योजना की एक परम श्रेयमयी अविरल अबाध धारा है। शाङ्कर अद्वैत दर्शन-तत्त्व यदि इसमें किसी प्रकार उपेक्षित रहे तो यह काव्य निष्प्राण और निस्सार हो जाएगा।

निर्गुण काव्य कलेवर में अद्वैत दर्शन उसकी आत्मा के सदृश प्रतिष्ठित है किन्तु शाङ्कर दर्शन की व्यापकता और विशालता के बीच काव्य और दर्शन का सम्यक् विश्लेषण और मूल्यांकन कर पाना दुःसाध्य है। निर्गुण काव्य विशुद्ध जनवाणी का काव्य है। इसमें किसी सिद्धान्त या शास्त्र का शास्त्रीय क्रम नियम और सूत्रबद्धता में खोजना भ्रम ही होगा। प्रत्युत विद्वत्ता और शास्त्रीय ज्ञान गरिमा के अभाव के कारण यह चिरकाल तक आभिजात्य वर्गों और वर्णों द्वारा उपेक्षित रहा।

निर्गुण काव्य एक संश्लिष्ट दुर्गम और रहस्यमय चिन्तनधारा का अवदान है। इसमें मात्र नीच वर्णों से आए हुए साधकों को भी आयाम प्राप्त हुआ हो ऐसा नहीं। ऊँच और शिक्षित वर्गों के साधक भी इसमें दीक्षित हुए और पूर्ण निस्पृह एवं अनासक्त भाव से निर्गुण साधना को समर्पित हो गए।

कुल मिलाकर निर्गुण काव्य और साधना में समन्वय और सर्वग्राहकता की जो सामर्थ्य है पाण्डित्य विहीन होते हुए भी नैसर्गिक अनुभव-गरिमा से ओत प्रोत है। इसमें भौतिक भेदों से रहित परम दिव्य अध्यात्म बोध की वे ही दिशाएं हैं जिन्हें आचार्य शङ्कर ने अनेक शताब्दियों पूर्व प्रशस्त किया था।

अपने युग में निर्गुण सन्तों का दायित्व भी आचार्य शङ्कर से मिलता जुलता था। अनेक राजनैतिक और ऐतिहासिक कारणों से जन मानस विविध द्विधाओं, आतंकों और आशंकाओं से ग्रसित हो चुका था। इस मानसिक पराजय का महत्त्व देश के भविष्य के लिए राजनैतिक पराजय से कहीं अधिक है। राजनैतिक उपलब्धियाँ तो बाह्य हैं इसलिए गौण भी हो सकती हैं किन्तु खोए हुए नैतिक मूल्यों और मानसिक शक्तियों के ह्रास को पुनः प्राप्त करना या पूरा करना अपेक्षाकृत दुस्साध्य है। तुलसी ने रामकाव्य के द्वारा जीवन में मर्यादाओं के समावेश का सन्देश दिया है। इसके अतिरिक्त काव्य और नैतिकता का सम्बन्ध सगुण काव्य में अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु निर्गुण काव्य आद्योपान्त नैतिक तत्वों से पूर्ण है। जीवन के प्रति भौतिक और आध्यात्मिक सुधारवादी प्रक्रिया ही इस काव्य में प्रधान है। काव्य नैतिकता और सुधार आदि के पारस्परिक या अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं होते और यदि इस प्रकार के सम्बन्ध हो भी तो इससे न तो काव्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है और न इनकी अनिवार्य उपयोगिता ही है। नीति-काव्य में ही इस प्रकार के सम्बन्धों के विविध रूप उपलब्ध होते हैं किन्तु इससे काव्य में सरसता के संयोग कम हो जाते हैं। नीतिकाव्य अपेक्षाकृत अन्य काव्य विधाओं से कुछ नीरस होता है। निर्गुण सन्त काव्य में भी इस प्रकार के संयोग प्रायः उपस्थित हो जाते हैं किन्तु साधन के अन्तर्गत प्रेम के महत्त्व को सभी निर्गुण कवियों ने एकस्वर से स्वीकारा है। इनका प्रेम विह्वलता वैसी ही है जैसी किसी मूक की चोट, जिसे वह वाणी द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। निर्गुण कवियों की भाषा का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अनेक बोलियों का उस पर प्रभाव है। फिर भी सात्विक अनुभूतियों का भार उसमें इतना अधिक है कि अनेक अनुपयुक्त शब्द बहुत ही उपयुक्त और सार्थक प्रतीत होते हैं। सैद्धान्तिक सामञ्जस्य प्रस्तुत करने में तो ये कवि बड़े ही कुशल हैं। किन्तु इनके सामाजिक महत्त्व एवं तत्कालीन देश काल के अनुकूल व्यवहार और विचार-कौशल का उपयुक्त मूल्याङ्कन करने की अब भी आवश्यकता है।

निर्गुण कवि मात्र कल्पनालोक का प्राणी नहीं है। उसके हृदय में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के प्रति तीव्र आग्रह है। वैराग्य सदाचार अहिंसा

सत्य और तपस्या ही उनके अन्तिम मान हैं। जिस प्रकार तुलसी का राम चरितमानस आधुनिक युग में भी जनता में जीवित है उसी प्रकार निर्गुण काव्य का सन्देश आज की स्थितियों में भी जीवित है। निर्गुण काव्य में सुधारवादी तत्त्व समन्वय वृत्ति के परिणाम हैं। वस्तुतः वह सर्वथा धर्मयुक्त कर्मठ तथा वर्ग भेदहीन समाज निर्माण के प्रति सादर आग्रह है।

शाङ्कर अद्वैत दर्शन और निर्गुण काव्य का सगम गौरवमय भावना से युक्त एक तीर्थ है। निर्गुण काव्य में अद्वैत सिद्धान्त से उत्पन्न हार्दिक ध्वनि ने सुषुप्त और गौरवहीन भारतीय जीवन को तत्कालीन परिस्थितियों में नव चेतना प्रदान किया था और आज के जीवन में भी उसके सन्देश का नया अध्याय है। समस्त ग्रामीण जनता के मानस में शाङ्कर अद्वैत दर्शन निर्गुण कवियों की वाणी के माध्यम से उद्भासित हो रहा है। आज की अनेक विघटनकारी स्थितियों में उसके मन में दृढ़ता और शक्ति का संचार इसी माध्यम से हो रहा है। इस प्रकार के गौरवपूर्ण साहित्यिक अङ्ग की उपेक्षा होने से निर्गुण काव्य का वैशिष्ट्य प्रकाश में न आ सका। आज के नवीन युग सन्दर्भ और अनुसंधान प्रक्रियाओं में उस खोए हुए अतीत की खोज हो रही है। प्रस्तुत प्रबन्ध भी उसी की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

निर्गुण काव्य धारा के क्षेत्र में अनेक पन्थ और सम्प्रदाय परिगणित हैं। सन्त कबीरदास इसके अग्रदूत हैं और उनके प्रभाव से अभिभूत होकर अनेकानेक पन्थों और सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। इन सम्प्रदायों की सम्प्रदायगत साधनात्मक या प्रक्रियाजन्य उपचर्याएँ इस विषय से अलग रखकर विचार करने की बातें हैं। शाङ्कर दर्शन की निर्गुण काव्य में उपलब्धि स्वयं में ही अत्यन्त उपयोगी और विलक्षण संयोग है। इस प्रबन्ध में उक्त तथ्य का निरूपण परम नैपुण्य और कौशल से किया गया है। अनेक स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अद्वैत दर्शन और निर्गुण काव्य के समागम के माध्यम से संस्कृत भाषा और लोकवाणी गले मिल रही है। वैसे ही जैसे आचार्य शङ्कर और सन्त कबीरदास सन्त नानक साहब सन्त चरणदास और सन्त सुन्दरदास एक ही पंक्ति में खड़े हुए हैं। विषय की गम्भीरता सर्वत्र सुरक्षित है किन्तु गांभीर्य क्लिष्ट नहीं बनने दिया गया।

इतना महत्त्वपूर्ण विषय अब तक हिन्दी के शोधार्थी विद्वानों द्वारा उपेक्षित रहा। सन्त-काव्य पर प्रचुर शोध कार्य हुआ है और होता जा रहा है परन्तु शाङ्कर वेदान्त और निर्गुण काव्यधारा के सम्बन्ध की ओर विद्वानों की दृष्टि

नहीं गई। इस प्रभाव की ओर मैंने अपने प्रिय शिष्य श्री शान्तिस्वरूप त्रिपाठी का ध्यान आकर्षित किया। विषय की दुरूहता गम्भीरता, व्यापकता एवं महत्ता का परिचय एवं परिज्ञान सम्प्राप्त हो जाने के अनन्तर श्री त्रिपाठी ने इस क्षेत्र में अग्रसर होने की रुचि एवं उत्साह का प्रदर्शन और परिचय दिया। नित्य नए उत्साह, श्रम और लगन के साथ उन्होंने विषय का अध्ययन प्रारम्भ किया। क्रमशः तथाकथित शुष्क शाङ्कर वेदान्त उन्हें रस का सागर प्रतीत होने लगा। उनके परिश्रम और गहरे पैठ कर तत्त्व की खोज निकालने की प्रवृत्ति ने बड़ा बल दिया। लगभग चार वर्षों के समर्पित जीवन, अनवरत परिश्रम एवं लगन के फलस्वरूप उनका शोध प्रबन्ध परीक्षकों एवं विद्वानों द्वारा प्रशंसित और समर्थित हुआ। त्रिपाठीजी में विषय प्रतिपादन की सराहनीय क्षमता, वैज्ञानिक विवेचन की अच्छी शक्ति और विषय के मर्म को परखने की पूर्ण योग्यता है। फलतः उनकी लेखनी से गम्भीर विवेचना से पूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ जो शोध जगत में एक नवीन मानदण्ड उपस्थित करता है। ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर हम त्रिपाठीजी को बधाई देते हुए मंगल कामना करते हैं कि वे अनुभव, योग्यता और वय के पथ पर अग्रसर होते हुए और भी गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना करें।

माँ शारदा की उन पर असीम अनुकम्पा हो !

लखनऊ विश्वविद्यालय — त्रिलोकीनारायण दीक्षित

१६ फरवरी, १९६८। — एम० ए० पी-एच० डी० डी० लिट०

दो शब्द

प्रस्तुत शोध प्रबंध के दो पक्ष हैं—शाङ्कर दर्शन और निर्गुण काव्य पर उसका प्रभाव। इनमें प्रथम पक्ष का अनुशीलन अद्वैत दर्शन के सन्दर्भ में किया गया है। दूसरे पक्ष का अध्ययन ही इस प्रबंध का प्रधान लक्ष्य है। शाङ्कर अद्वैत दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निर्गुण काव्य का पुनर्मूल्यांकन करना सुकर और सुगम कार्य नहीं है। शाङ्कर दर्शन स्वयं में अत्यधिक व्यापक है उसकी विभिन्न दिशाएँ हैं। इस दर्शन-परम्परा के भीतर ही अनेक आचार्यों के विशिष्ट सिद्धांतों की अथ स्वीकृति विविध विचार पद्धतियों की सृष्टि करती है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष निर्गुण काव्य पर मात्र शाङ्कर-दर्शन का ही प्रभाव नहीं पड़ा है। अपितु इसमें भारतीय चिन्तन पद्धति में विकीर्ण प्रायः उन सभी पूर्ववर्ती विचार और साधन परम्पराओं का न्यूनाधिक समावेश है—जो उत्तर और दक्षिण भारत में प्रचलित थीं। उत्तर भारत में वेदान्त सूफी मत योग साधन तन्त्र मत बौद्ध और जैनादिक मत मतान्तरों का प्रभाव और प्रसार था। दक्षिण भारत में भक्ति की वैष्णव और शैव परम्परा में अनेकमुखी प्रगति हो रही थी। अस्तु तत्कालीन दर्शन और साधनाओं का प्रभाव मध्यकालीन काव्य पर पड़ना स्वाभाविक था और उसका सम्यक् रूप से आकलन करने के लिए निर्गुण काव्य की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

सगुण काव्य की अपेक्षा निर्गुण काव्य में कुछ सैद्धांतिक जटिलताएँ हैं जिनके कारण इसमें सगुण काव्य के समान लालित्य और भावपक्ष का अभाव रहता है। इसमें ज्ञानधारा की शुष्क नीरसता के प्रसंग अधिक रहते हैं और योग मार्ग की कठोर साधन पद्धतियों का अनुशासन निर्गुण संत वाणी में काठिन्य का आभास देता है किन्तु साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि इसमें भारतीय साधना और दर्शन तथा इतर विदेशी चिन्तन प्रणालियों का सनातन एवं वर्तमान सुरक्षित है।

इस ग्रन्थ में सिद्ध गोरखनाथ, संत कबीरदास, संत दादूदयाल, संत नानक, संत रैदास, संत सुन्दरदास, संत धरनीदास, संत भीखा, गरीबदास, दरिया साहब, संत दयाबाई, संत सहजोबाई आदि अनेक प्रमुख निर्गुण संतों की वाणियों के आधार पर विषय का प्रतिपादन किया गया है। सिद्धांत प्रतिपादन और प्रामाणिकता की रक्षा के लिए प्रारम्भ में तत्सम्बद्ध सिद्धांत की प्रवचनात्मक व्याख्या आवश्यकतानुसार यथास्थान की गई है। यह ध्यान रखा गया है कि विषय के आधारभूत सिद्धान्त की गरिमा सुरक्षित रहे और साथ ही उसकी व्यापकता विविध रूपों और रंगों के माध्यम से निरूपित होती रहे। इन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उनका विशद विवेचन किया गया है किन्तु विषय विवेचन को इनकी जटिलताओं में उलझाने का प्रयत्न नहीं किया गया और न इसमें मत मतान्तरों द्वारा खण्डन मण्डन का ही प्रयास है। केवल वे ही तत्व विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किये गये हैं—जिनका साक्षात् सम्बन्ध निर्गुण-काव्य से है। ब्रह्म, जीव, माया, प्रकृति, नाम, सिद्धि, कर्म, ज्ञान और पद, साधन सम्पत्ति आदि विषयों के उन्हीं पक्षों का विवेचन यहाँ हुआ है जिनका निर्गुण काव्य पर स्पष्ट प्रभाव है।

विषय प्रतिपादन शैली में सिद्धांत के तत्व ग्रहण एवं क्रमिक विकास क्रम को निरन्तर ध्यान में रखा गया है। ऐसे रहस्यमय तथ्य जो साधनात्मक अनुभव के विषय हैं यथासम्भव साधना के व्यावहारिक और अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर सरल एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। शोध ग्रंथ में उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र आदि के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों की योजनाबद्ध अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने का सफल प्रयास है।

इस प्रकार यह ग्रंथ निर्गुण काव्य की मूल प्रेरक भावधारा के अवगाहन करने का एक उपयोगी साधन है। इस अत्यन्त व्यापक विषय को लेखक ने जिस सहज रूप में सीधी भाषा में प्रकट किया है उसके कारण प्रस्तुत शोध प्रबंध की उपादेयता में निश्चय ही वृद्धि हुई है।

मुझे आशा है निर्गुण काव्य के जिज्ञासु पाठक डा० त्रिपाठी के गंभीर अध्ययन का उचित आदर करेंगे।

दिल्ली विश्वविद्यालय

—नगेन्द्र

भूमिका

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय शाङ्कर अद्वैत दर्शन का निर्गुण काव्य पर प्रभाव है। इस विषय का महत्त्व मात्र हिन्दी साहित्य मे ही नही अपितु भारतीय दर्शन के विकास और तत्सम्बन्धी साहित्य के एक अग के पूरक रूप म भी है। निर्गुण सत काव्य म यद्यपि दर्शन की प्रधानता है किन्तु वह प्रायः काव्य मर्यादाओ के भीतर ही सक्रिय ह। दर्शन पर काव्य की प्रतिष्ठा है। इन कवियो के द्वारा प्रणीत चिन्तन पद्धति शाङ्कर अद्वैत दर्शन का ही रूप ह।

कालक्रम के विचार से निर्गुण काव्य एक ओर महात्मा बुद्ध के परवर्ती युग धर्म से प्रभावित है और दूसरी ओर भारत के इतिहास के मध्य युग—मुसलमानी शासन काल—के अधिकाश से सम्बद्ध है। पूर्व और परवर्ती कालो की धार्मिक नतिक एव तत्त्व चिन्तन-सम्बन्धी चेतनाओ का प्रतिबिम्ब निर्गुण कविता म प्रतिभासित है। सद्धान्तिक गरिमा का प्रत्यक्ष इस बात से होता है कि इसमे उपनिषद्-तत्त्व सर्वत्र मुखरित है और आचार्य शङ्कर के गहन दर्शन की पूरी छाप है। आचार्य शङ्कर का दर्शन उस युग की आवश्यकताओ को देखते हुए क्रातिकारी दर्शन है। इस काल मे जन बौद्ध चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन तथा अनेक मत मतान्तर प्रचलित थे। वर्णिक सघ सगठन और शक्ति सामञ्जस्य से युक्त सामाजिक व्यवस्थाए छिन भिन्न हो रही थी। आचार्य शङ्कर ने अनेक ऐतिहासिक और राजनतिक घात प्रतिघातो से विचलित जन चेतना को एक बार पुन सुनियोजित करने का महान आयोजन किया था। इसी प्रकार निर्गुण सन्त-कवियो क समक्ष भी उनके काल की अनेक परिस्थितिजन्य चुनौतियाँ थी। जिस प्रकार आचार्य शङ्कर को अनेक वर्गो को समन्वय का रूप देकर एक व्यावहारिक चिन्तन मार्ग योजना अभीष्ट था और वे अपने मन्तव्य म पूर्ण सफल भी हुए—उसी प्रकार निर्गुण सन्तो को भी तत्कालीन समाज और साधना को एक विराट सामञ्जस्य देना था यद्यपि उनके आयोजन की सफलता विफलता पर देश का भविष्य निर्भर था। इतिहास साक्षी है कि वे भी अपने मन्तव्य म बहुत अशो मे कृतकार्य हुए।

निर्गुण मत सम्प्रदाय और [illegible] के विशिष्ट अंग हैं। इस रूप की भक्ति धारा [illegible] साहित्य का [illegible] है। भक्ति और शङ्कर [illegible] का यहाँ तक कि शङ्कराचार्य ने [illegible] है [illegible] और माया के द्वारा जगत [illegible] प्रमाणित किया है। निर्गुण काव्य के अध्ययन के लिए [illegible] का उपनिषद आदि [illegible] महत्त्व बताता है। [illegible] का [illegible] उत्तरवर्ती सम्पूर्ण निर्गुण कवि [illegible] की दृष्टि [illegible] और साहित्य के अद्भुत [illegible] का वास्तविक करना है। उक्त दृष्टियों में निर्गुण काव्य [illegible] मान्यता [illegible] रहा है। निर्गुण काव्य का समग्र भारतीय दर्शन और साहित्य पर प्रभाव है। उसकी [illegible] युग के अनुरूप और काव्य के [illegible] में पूर्णतः [illegible] है।

आचार्य शङ्कर के समय समय और विचार धारा में परिवर्तन का चुनौती थी। भक्त कवियों पर भी इस प्रकार का दायित्व था। भागवत समाज में इन्होंने बिखरी हुई अनेक धार्मिक इकाइयों और वर्गों को एक सूत्र में बाँधने का यत्न किया। इनके विभिन्न सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक या साधनात्मक भेद होते हुए भी सिद्धान्ततः वे भारतीय साधना पद्धति से अन्तगत अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से पोषक हैं। इस कथन की पुष्टि में प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री प्रमाण है। अस्तु इन अनेक दृष्टियों से शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव विषय का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत प्रबन्ध विषय अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित रहा है। विषय की मौलिकता के प्रति कतिपय विद्वानों ने संकेत अवश्य किया है किन्तु विषय की सार्थकता प्रतिपादित करने का यत्न कहीं नहीं किया गया। डा० श्यामसुन्दरदास ने कबीर ग्रन्थावली के भूमिका में संत कबीरदास के काव्य पर शाङ्कर वेदान्त के प्रभाव होने के प्रति संकेत किया है किन्तु विषय का विशद अध्ययन करने के लिए यह अपर्याप्त है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भी निर्गुण काव्य धारा पर अद्वैतवाद का प्रभाव स्वीकार किया है। निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री में कुछ स्थलों पर इस सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा की गई है। परन्तु प्रबन्ध के विषय निरूपण और दर्शन पक्ष के महत्त्वपूर्ण अंगों का उद्घाटन मात्र इतने से नहीं होता। टीकाकार श्री विचारदास द्वारा सम्पादित कबीर बीजक की टीका व भूमिका और टीका से भी ज्ञात होता है कि संत कबीरदास के काव्य पर उपनिषदों और वेदान्त दर्शन का प्रभाव है। इस बीजक में साखियों, शब्दों

और रमनिया की टीकाओं में अद्वैत दर्शन ध्वनित होता है। 'स्वामी दादूदयाल की वाणी' में पं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी ने स्वसम्पादित वाणी का अर्थ समझने के लिए वेदान्त प्रक्रिया का ज्ञान होना आवश्यक माना है। इस प्रकार कुछ संकेत मात्र ही प्रस्तुत अध्ययन की समीचीनता सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य विषय की प्रामाणिकता प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। विषय के महत्त्व को स्वीकार करते हुए और इस दिशा में विद्वानों का समुचित ध्यान न देना यह सिद्ध करता है कि विषय की अभी तक उपेक्षा होती रही है। विषय की उपेक्षा के अन्य कारणों का ठीक ठीक ज्ञान साध्य न होते हुए भी शाङ्कर वेदान्त की नीरसता और दुरूहता तो एक कारण हो ही सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा उक्त अभाव की पूर्ति हुई है। शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का व्यापक और विस्तृत क्षेत्र है। इस दर्शन परम्परा में अनेक उत्तम तार्किक चिन्तक और साधकों का समय-समय पर योगदान होता रहा है। शाङ्कर दर्शन में उन सभी आचार्यों का अनुदान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भारत के इतिहास में अनेक शतियों तक इस चिन्तन धारा का प्रसार रहा है। भारतीय साधना और संस्कृति पर उसकी अमिट छाप है। अतः उक्त कालान्तर में वर्तमान सभी अद्वैतवादी आचार्यों के विचारों के किसी समन्वित रूप का अनुसन्धान करना स्वयं में अत्यन्त जटिल समस्या है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत विविध अद्वैत भावनाओं का समावेश है। कहीं-कहीं यह दर्शन विशुद्ध तर्क योजनाओं पर आश्रित होकर बौद्धिक विलास की सामग्री प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न अद्वैत भावनाओं के समन्वय का मध्यम मार्ग खोज निकालना भी निरापद नहीं है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर विषय के अनावश्यक विस्तार से बचने का यथासंभव यत्न किया गया है। इस पक्ष में मत वैविध्य या मत मीमांसा का स्थान नहीं दिया गया है। पुनश्च, यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रबन्ध का मुख्य विषय शाङ्कर दर्शन नहीं है। मुख्य विषय निर्गुण काव्य विवेचन है जो शाङ्कर अद्वैत दर्शन के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। हिन्दी में ही नहीं अंग्रेजी में भी एक ग्रंथ का अभाव है जिससे समग्र शाङ्कर दर्शन का ठीक-ठीक दिशा-दर्शन हो सके।

निर्गुण काव्य अन्ततोगत्वा काव्य है दर्शन नहीं। इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तारपूर्ण स्थिति का तत्त्वान्वेषण करना निर्गुण काव्य की आत्मा के प्रति अन्याय होगा। अतः निर्गुण काव्य पर शाङ्कर अद्वैत दर्शन

का प्रमाणानुशीलन हो सकता है। निर्गुण काव्य में अनुभववादियों की तर्कयोजना और मत-वैविध्य की चर्चा करना भी अनुपयुक्त है क्योंकि ज्ञानानुभवी का इस विचार से कहीं भी मेल नहीं है। निर्गुण कवियों में दार्शनिक ज्ञान का सांगोपांग निरूपण नितान्त अनिवार्य धारणा है। इनमें से अधिकांश उन वर्गों के थे जिन्हें शास्त्र अध्ययन का अधिकार नहीं था। फिर इनकी साधना पद्धति भी किसी शास्त्र द्वारा नियन्त्रित नहीं थी। अतः उनमें किसी शास्त्र की पाण्डित्यपूर्ण शैली का अन्वेषण करने का यत्न करना भी निर्गुण काव्य के प्रति अन्याय होगा। ऐसी स्थिति में अन्य मतवादी आचार्यों के विविध मतों और आरोपों के संदर्भ में उक्त विषय का अध्ययन भी निरर्थक है। इस प्रबन्ध में शाङ्कर अद्वैत वेदान्त के अध्ययन के लिए मुख्यतः शाङ्कर-कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य, उपनिषद् भाष्य और गीता भाष्य को ही आधार रूप में स्वीकार किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य ग्रन्थों या पुस्तकों का भी आश्रय लिया गया है जिनमें निर्विरोध शाङ्कर सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। अध्ययन-काल में ऐसा अनुभव भी किया गया है कि शाङ्कर दर्शन का जो भी अंश निर्गुण काव्य को प्रभावित कर रहा है वह अत्यन्त सुबोध, शुष्क बौद्धिक तर्कों से मुक्त तथा साधन के लिए उपयोगी है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही अध्ययन के निष्कर्षों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि निर्गुण वाणी में भी उपनिषदों में प्रतिपादित चिन्तन या साधनात्मक तत्त्वों की उपादेयता स्वीकृत की गई है। अपने भाष्यों में आचार्य शाङ्कर ने सर्वत्र उपनिषद्-तत्त्व को ही प्रधानतः उद्धृत किया है। ब्रह्मसूत्रों का आधार उपनिषद् सिद्धान्त ही है। अतः निर्गुण सन्त वाणी का भी उपनिषद् ही प्रकाश स्तम्भ है। यथावसर निर्गुण वाणी की सार्थकता सिद्ध करने के लिए इस प्रबन्ध में उपनिषद् उद्धृत की गई हैं। अध्ययन की दूसरी सीढ़ी पर पहुँच कर हमको भाष्यों में स्थिर मतों का आश्रय लेना पड़ता है। आचार्य शाङ्कर कृत प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) के भाष्य में स्वीकृत सिद्धान्त भी निर्गुण काव्य को समझाने में सहायक हैं। तत्पश्चात् विवेक चूडामणि आदि तथा अन्य पुस्तकें या अन्य विद्वानों के लेखों या निबन्धों का आश्रय उसी स्थिति में लिया गया है जहाँ विषय को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता समझी गई है।

इस प्रबन्ध में निर्गुण काव्य का अध्ययन करने के लिए अभी तक प्रकाशित ग्रन्थों या बानियों का ही चयन किया गया है। वस्तुतः किसी भी निर्गुण

काव्य ग्रन्थ या निर्गुण सन्त वाणी का अध्ययन उसके विविध पक्षों की प्रामाणिकता प्रतिष्ठित करने के लिए नहीं किया गया है। जो ग्रन्थ या बानियाँ सामान्य रूप से प्रामाणिक समझी जाती हैं उनका ही विश्लेषणात्मक अध्ययन शाङ्कर सिद्धान्त की मर्यादाओं का ध्यान में रखते हुए किया गया है। इस प्रसङ्ग में डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल सम्पादित गोरखबानी का अध्ययन क्रम में प्रथम स्थान लिया गया है। सन्त कबीरदास के पूर्व सिद्धों और नाथों की परम्परा में गोरखनाथ परम प्रसिद्ध हैं। ये यद्यपि योग मार्गी हैं और भक्तों या सन्तों की कोटि में नहीं आते किन्तु इनके परवर्ती युग में सन्त कबीरदास आदि निर्गुण कवियों पर इनका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अस्तु कालक्रम को ध्यान में रखते हुए गोरखबानी को भी हमने अपने अध्ययन क्षेत्र में स्वीकार कर लिया है और यथासम्भव इस पर शाङ्कर दर्शन के प्रभाव की ओर सङ्केत किया है। गोरखबानी की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता हमारे अध्ययन से सम्बद्ध नहीं है अतः उसकी ओर ध्यान न देकर शाङ्कर सिद्धान्त निरूपण की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है।

सन्त कबीरदास के काव्य पर शाङ्कर अद्वैत दर्शन के प्रभाव का विवेचन करते समय हमारे पास दो काव्य ग्रन्थ थे—बाबू श्यामसुन्दरदास सम्पादित कबीर ग्रन्थावली और श्री विचारदास सम्पादित बीजक। कबीर ग्रन्थावली की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ में प्रस्तुत भूमिका के आधार पर इसे प्रामाणिक मान लिया गया है। उक्त बीजक भी एक सम्मान्य सम्पादन है और उसकी प्रामाणिकता भी स्वीकृत कर ली गई है। सन्त दादूदयाल के काव्य का अध्ययन वलवडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित प्रति और चन्द्रिका प्रसाद सम्पादित स्वामी दादूदयाल की वाणी से किया गया है। सन्त नानक के सिद्धान्तों का अध्ययन सुन्दर गुटका से किया गया है। इसमें अनेक नानक मतानुयायी सन्तों की बानियाँ सङ्कलित हैं। वस्तुतः सन्त नानक के काव्य का अध्ययन ही इस प्रबन्ध का लक्ष्य नहीं है वरन् यावत् उपलब्ध—निर्गुण वाणी में शाङ्कर सिद्धान्त का अनुशीलन करना ही इसका मन्तव्य है। अतः सुन्दर गुटका में प्रस्तुत वाणी का अध्ययन शाङ्कर मत का ध्यान में रख कर किया गया है। इस सम्बन्ध में मात्र सन्त नानक की वाणी अभिप्रेत नहीं है अभिप्रेत वह समस्त निर्गुण काव्य का क्षेत्र है जिस पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट होता हो। अनेक निर्गुण सन्तों की रचनाएं नानक के नाम पर ही प्रचलित हैं। इसी प्रकार नानक नाम से रचना करने वाले भी कई व्यक्ति

हो सकते हैं। किन्तु इस विवाद की ओर ध्यान देना प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय से बाहर की बात होगी। अतः इस विषय में निर्गुण काव्य की प्रतिपाद्य ही प्रमुख है—कवि की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता की चर्चा करने का इस प्रबन्ध में अवसर नहीं है। इसी विचार से निर्गुण सम्प्रदाय के काव्य के अध्ययन का आधार निर्णयसागर और सामान्यतः प्रचलित सुन्दर ग्रन्थ को हमारे प्रबन्ध में स्वीकृत हुआ है। सन्त चरनदास के साहित्य के अध्ययन का आधार भी बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित चरनदास की बानी और सन्त चरनदास कृत भक्तिसागर है। सुन्दर ग्रन्थावली के द्वारा भी अध्ययन भी हमारे प्रबन्ध के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रबन्ध में उद्धृत प्रायः सभी शेष वाणियाँ बेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई हैं।

यह प्रबन्ध चार खण्डों में विभाजित किया गया है—

१ प्रथम खण्ड – शाङ्कर पूर्ववर्ती अद्वैत भावना का स्वरूप। इस खण्ड में वेद, उपनिषद्, बौद्ध दर्शन और ब्रह्मसूत्रों में उपलब्ध अद्वैत भावना का अध्ययन किया गया है।

२ द्वितीय खण्ड – शाङ्कर अद्वैत दर्शन का सिद्धान्त पक्ष। इस खण्ड में आचार्य शाङ्कर के अनुसार ब्रह्म, शक्ति, प्रकृति, माया, अविद्या तथा जीव आदि तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

३ तृतीय खण्ड—निर्गुण काव्य का सिद्धान्त पक्ष और उस पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव। इस खण्ड में शाङ्कर मत की तुलना करके निर्गुण काव्य में ब्रह्म, माया, जीव-तत्त्वों की विवेचना की गई है।

४ चतुर्थ खण्ड—निर्गुण काव्य का साधना पक्ष और उस पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव। इस खण्ड में अद्वैत साधना मार्ग में स्वीकृत कर्म, ज्ञान, उपासना, भक्ति और समाधि साधना की व्याख्या और निर्गुण काव्य में इनका स्थान निर्धारण किया गया है।

प्रथम खण्ड निम्नलिखित तीन प्रकरणों में विभक्त किया गया है—

१ वेद और उपनिषदों में अद्वैत भावना का स्वरूप।
२ बौद्ध दर्शन में अद्वैत भावना का स्वरूप।
   अ—शून्याद्वैतवाद।
   आ—विज्ञानाद्वैतवाद।
३ वेदान्त दर्शन का स्वरूप।

भारतीय साधना और चिन्तन पद्धति के आदिस्रोत वेद हैं। शाङ्कर अद्वैत दर्शन भारतीय दर्शन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है जिसके मूल में पूर्ववर्ती चिन्तन प्रणालियों की क्रिया या प्रतिक्रिया है। इस विचार से वैदिक साहित्य में अद्वैत भावना का स्वरूप स्थिर करने का यत्न किया गया है। वैदिक संहिताओं में अनेक देवताओं की उपासना का विधान है। उपासना और कर्म साधनाओं की अधिकता के कारण चिन्तन तत्त्व यहाँ क्षीण है। अद्वैत-दर्शन सूक्ष्म और तात्त्विक चिन्तन मार्ग है अतः कर्म और उपासना की स्थूल प्रक्रियाओं से उसका विरोध है। किन्तु वेद प्रामाण्य का गौरव भारतीय साधनाओं को सदैव आकृष्ट करता रहा है अतः अद्वैत दर्शन में भी वेद-प्रामाण्य के प्रति आग्रह होना उचित ही है। वैदिक बहुदेववाद के अनेक मत्रांशों से अद्वैत भावना के उद्गार होते दिखाई देते हैं। इन उद्गारों में भले ही साम्प्रदायिक शैली का सुसम्बद्धता न हो किन्तु अनेकता में एकता का दर्शन होता है। सृष्टि के पश्चात् वर्णित विषय में अद्वैत सत्ता का साक्षात्कार वैदिक संहिताओं में होता है। यहाँ मान यह सकते हैं कि वैदिक साधना द्वारा स्थूल उपासना या कर्म प्रक्रियाओं से हटकर क्रमशः चिन्तन जन्य सूक्ष्म मानस आधार पर स्थित होने के लिए अग्रसर हो रही है। वैदिक दर्शन उपनिषद् के रूप में चिंतन प्रधान हो जाता है।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण में उपनिषद्-तत्त्व और दर्शन का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उक्त तत्त्व दर्शन में साधना और चिंतन के अनेक पक्ष हैं। इन पक्षों में नियमबद्ध विकास क्रम स्थापित करने का विद्वानों ने यत्न किया है। इस सम्बन्ध में डा॰ ड्यूसन के वर्गीकरण का उल्लेख प्रसङ्गवश किया गया है। इसमें काल क्रम स्थापित करने का प्रयास है। किन्तु हमको ऐसा प्रतीत हुआ कि उपनिषदों का वर्गीकरण विषय क्रम का आधार मानकर किया जाना चाहिए। इस प्रकरण में हमने संकेत किया है कि स्थूल वैदिक साधना सूक्ष्म से निरन्तर सूक्ष्मतर होती जा रही है। उपनिषद् ज्ञान चिंतन प्रधान होता जाता है और चिंतन के कई स्तर भी हैं। इन्हीं स्तरों को चिंतन-सम्बन्धी विषय वस्तु के आधार पर हमने वर्गीकृत किया है। शाङ्कर अद्वैत दर्शन की मूलाधार ये उपनिषदें हैं और भारतीय साधना विचार और जीवन को इन्होंने प्रभावित किया है। आचार्य शङ्कर ने इन्हें श्रुति प्रामाण्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र की रचना का आधार भी श्रुति या उपनिषद् दर्शन है। अस्तु प्रबन्ध में इस प्रकरण का विषय में अन्य साधना सम्बन्ध न होते हुए भी

यह शाङ्कर दर्शन को स्पष्ट करता और निर्गुण काव्य के मूलस्रोतों का भारतीय दर्शन में गुह्यरहस्यात्मक तत्त्वों का वर्णन करने के लिए यह महत्त्वपूर्ण समझा गया है। भारतीय दर्शन में वैदिक चिन्तन तत्त्वों — ब्रह्म, जीव और प्रकृति — इन तीनों की मीमांसा प्रधान है। षड्दर्शन (सांख्य, न्याय, योग, मीमांसा, वैशेषिक और वेदान्त) में इन्हीं तत्त्वों का विवेचन हुआ है। उपनिषदों में इन तत्त्वों से सम्बन्धित चिन्तन और विचार प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते हैं। भारतीय दर्शन की विशेषता है कि उसमें चिन्तन और साधना के तत्त्व घनिष्ठ रूप से सम्मिलित हैं। आचार्य शङ्कर और निर्गुण काव्य में भी ये ही विशेषताएँ हैं। इस प्रकार वैदिक काल में उपनिषदों में उपलब्ध तत्त्वज्ञान और साधन प्रक्रियाओं की समन्वयशीलता उत्तरकाल में आचार्य शङ्कर, सिद्धों, नाथों और योगियों की साधन प्रणालियों से होती हुई निर्गुण काव्य में प्रतिबिम्बित हो गई है। इसी विचार से उपनिषद् तत्त्व का विवेचन इस प्रकरण में किया गया है।

प्रबन्ध के द्वितीय प्रकरण में बौद्ध दर्शन की विवेचना है। यह प्रकरण भारतीय दर्शन के विकास क्रम में एक शृङ्खला के समान है। विद्वानों का मत है कि शाङ्कर दर्शन पर बौद्धदर्शन का प्रभाव है। विज्ञानवाद की चिन्तन प्रणाली में विज्ञान की अखण्ड चेतन्य सत्ता शाङ्कर मत में स्वीकृत ब्रह्म चैतन्य के समकक्ष मानी जाती है। शून्यवाद में शून्य की निर्विकल्पक अनिर्वचनीय सत्ता की तुलना विद्वानों ने उपनिषदों में स्थापित ब्रह्म की अनिर्वचनीय स्थिति के अनुरूप स्वीकार की है। उधर निर्गुण काव्य पर बौद्धमतों के प्रभाव की ओर भी निर्गुण काव्य के आलोचकों का ध्यान गया है और इस विचार से विज्ञानवाद और शून्यवाद का अध्ययन यहाँ उपयोगी समझा गया है। भारतीय दर्शन में अद्वैत भावना के विकास के विविध रूप हैं और बौद्धदर्शन का चिन्तनपक्ष भी अद्वैत दर्शन का एक रूप है। अतः उक्त प्रकरण की सामग्री को प्रासंगिक मान कर माध्यमिक और योगाचार बौद्ध मतों की विचार प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। निष्कर्ष में आचार्य शङ्कर द्वारा उक्त मतों का खण्डन प्रस्तुत करके शाङ्कर अद्वैत दर्शन की स्थापना की गई है। आचार्य शङ्कर ने उक्त मतों में साक्षी कूटस्थ सत्य का अभाव प्रदर्शित करके निरीश्वर दर्शन और नास्तिक मतों का खण्डन किया है।

प्रथम खण्ड के तृतीय प्रकरण में वेदान्त दर्शन के स्वरूप और ब्रह्मसूत्रों पर विचार प्रकट किए गए हैं। ब्रह्मसूत्रों के आधारभूत तत्त्वों का विवेचन

इस प्रकरण म सक्षेप म किया गया है। इसम यह मत प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्मसूत्रा की व्याख्या अनेक आचार्यों ने अपने आम्नाय सिद्धान्ता से प्रभावित हाकर की है। सूत्रो से निष्पक्ष और सम्प्रदाय निरपेक्ष अभिमत प्राप्त करना कठिन है क्याकि सूत्रा म निहित सिद्धान्ता की सीमाए सूत्रा की सगुम्फित और सक्षिप्त भाषा से प्राप्त नही होता। पुनश्च, ब्रह्मसूत्रा का अति व्यापक अध्ययन करना इस प्रबन्ध का मूल उद्देश्य भी नही है। इन सूत्रा की अद्वैत द्वैत और अनवादी व्याख्या अनेक आचार्यों ने की है। अत अनावश्यक विस्तार की उपेक्षा करके सूत्रा की शङ्कर सम्मत व्याख्या ही इस प्रकरण म स्वीकृत की गई है। इस प्रकार प्रबन्ध का प्रथम खण्ड समाप्त होता है। इसम कल्याण के विशेषाङ्का डा० राधाकृष्णन और डा० दास गुप्त के दशन ग्रथा स सहायता ली गई है। शाङ्कर भाष्य उपनिषदा और श्रीमद्भगवद् गीता क स्वतन्त्र अध्ययन से निष्कष प्रस्तुत किए गए हैं। बौद्धदशन के अध्ययन म महायान सूत्रालङ्कार लङ्कावतारसूत्र विंशिका त्रिंशिका और माध्यमिक कारिकाआ का स्वतन्त्र अध्ययन भी सहायक सिद्ध हुआ है।

प्रबन्ध क द्वितीय खण्ड म शाङ्कर अद्वैत दशन का अध्ययन किया गया है। इसम उक्त दशन का अध्ययन मात्र दाशनिक तत्त्वा म सीमित है। विषय की व्यापकता का ध्यान इसम अवश्य रखा गया है किन्तु विषय के उन पक्षो की व्याख्या नही की गई है जिनकी निगुण काव्य म अवतारणा करना कठिन या असम्भव हाता। निगुण काव्य साधना दशन और काव्य का समन्वित रूप है। अत मात्र दाशनिक सिद्धान्त की खाज करना असगत है। अत अद्वैत साधना और उसकी भावभूमि को भी सिद्धान्त क साथ साथ इस विवेचन म सम्मिलित करने का यत्न किया गया है। आकार और विषय को ध्यान म रख कर प्रस्तुत खण्ड म निम्नलिखित एकान्त प्रकरण-योजना है —

१ आचाय शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप।
२ आचाय शङ्कर क अनुसार सष्टि का स्वरूप।
३ आचाय शङ्कर क अनुसार आत्मा अथवा जाव का स्वरूप।
४ आचाय शङ्कर क अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप।
५ आचाय शङ्कर क अनुसार विद्या का स्वरूप।
६ आचाय शङ्कर क अनुसार कम का स्वरूप।
७ आचाय शङ्कर क अनुसार उपासना का स्वरूप।
८ आचाय शङ्कर क अनुसार आचाय अथवा सद्गुरु का महत्व।

९ आचार्य शङ्कर के अनुसार ज्ञान का स्वरूप।
१० आचार्य शङ्कर के अनुसार श्रुति युक्ति और अनुभव का महत्त्व।
११ आचार्य शङ्कर के अनुसार साधन चतुष्टय का स्वरूप और महत्त्व।

प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में उपर्युक्त सभी विषयों का समाधान है। विषय सामग्री के द्वारा सिद्धान्त का व्याख्या में स्पष्ट करने का यत्न किया गया है प्रथम विवेचन में साधनात्मक तत्त्व सुरक्षित रहे और दूसरा यह कि विषय विकास का वैज्ञानिक क्रम उपलब्ध हो सके। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करते हुए ब्रह्म शब्द की परिभाषा ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के पर्यायवाची शब्द ब्रह्म का सच्चिदानन्द स्वरूप निर्गुण सगुण स्वरूप अवतार भावना और ब्रह्मवाद के अन्तर्गत स्वीकृत ब्रह्म की अनिर्वचनीय ख्याति का विवेचन किया गया है। प्रकरण में ब्रह्मवाद सिद्ध करने का यत्न नहीं किया गया क्योंकि निर्गुण वाद के अन्तर्गत ब्रह्म भावना का अध्ययन किसी नव योजना में करना अभिप्राय होगा। साधन जन्य आस्था ही उक्त विषय में अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार सृष्टि प्रकरण में अविद्या माया प्रकृति और अध्यास तत्त्वों का निरूपण करते हुए मायावाद या विवर्तवाद को आधार मान कर सिद्धान्त का आलोचनात्मक रूप प्रस्तुत नहीं किया गया है। आचार्य शङ्कर के भाष्यों में उक्त वादों का उल्लेख नहीं है। विद्वानों की धारणा है कि आचार्य शङ्कर मायावादी थे किन्तु उनका मायावाद स्पष्ट रूप में मायावाद नहीं है कि उनकी माया उपनिषद् कथित अविद्या का पर्याय है। उनके अनुसार माया का मिथ्यात्व तत्त्व के अभाव या शून्यता का लक्ष्य नहीं करता। आचार्य शङ्कर ने माया शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में बहुत ही कम किया है। आचार्य गौडपाद और आचार्य शङ्कर के माया सिद्धान्तों में भी भेद है। ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि बौद्ध सिद्धान्तों में स्वीकृत माया का शाङ्कर दर्शन पर प्रभाव नहीं है।

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म और जीव का अभेद स्वीकार किया है। अभेद दर्शन अद्वैतवाद का मूलाधार है। किन्तु जीव की व्यावहारिक स्थिति में अज्ञान जन्य भेद है। इस सम्बन्ध में श्रुतियों में निर्दिष्ट अभेद प्रतिपादक रचना को आचार्य शङ्कर ने प्रमाण माना है। शाङ्कर दर्शन परमार्थ दर्शन है। इसमें व्यावहारिक पक्ष का विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं किया गया है। आचार्य ने व्यवहार को अविद्यात्मक मानकर यावत स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों और विषयों का ज्ञान साधना [illegible]

भी द्वैत सत्ता का उन्होंने अस्वीकार नहीं किया। साधन भी व्यवहार और द्वैतज्ञान का ही रूप है। द्वैत जन्य ज्ञान और व्यावहारिक वैषम्य लौकिक विषय है। परमार्थ साधन में ज्ञान होने तक इनकी सहायता ली जा सकती है। आचार्य शङ्कर ने कर्म को भी अज्ञान जन्य माना है और लोक संग्रह एवं सत्व शुद्धि के लिए ही उसकी उपयोगिता है। पारमार्थिक आत्मा का जीव भाव अज्ञान और कर्म से उत्पन्न होता है। अद्वैतवाद का प्रतिपाद्य और प्राप्तव्य ब्रह्म ज्ञान है जो जीव के परम पुरुषार्थ का ही रूप है।

ज्ञान की उत्पत्ति में विद्या कर्म उपासना या भक्ति का महत्त्व शङ्कर ने स्वीकार किया है। आचार्य शङ्कर ने इन समस्त साधनों में से विद्या साधन को सर्वश्रेष्ठ माना है। कर्म उपासना तथा अन्यान्य साधन ज्ञान के अधिकारी भेद के अनुसार उपयोगी हैं। अपरोक्षानुभूति में आचार्य शङ्कर ने योग साधन को महत्त्व दिया है किन्तु समस्त योगाङ्गों की परिभाषा उन्होंने ज्ञान साधन को प्रधान मान कर उसके क्रियात्मक पक्ष की उपेक्षा की है। उन्होंने योग साधन में मानसिक या आन्तरिक पक्ष को ही श्रेष्ठ माना है। साधन रूप में स्वीकृत ज्ञान को भी उन्होंने मानसिक क्रिया माना है। ज्ञान प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम साधन साधन चतुष्टय है। उपनिषदों और गीता श्रीमद्भगवद्गीता में उक्त साधना का महत्त्व स्वीकृत है। ब्रह्मसूत्रों में निर्दिष्ट ब्रह्म जिज्ञासा के पूर्व उक्त साधना में साधक की गति होनी चाहिए। कुछ साधकों में यह साधन सम्पत्ति जन्म संस्कार जन्य होती है और कुछ में अभ्यास द्वारा उपार्जित। किसी भी रूप में हो ब्रह्म जिज्ञासा और ज्ञानोपलब्धि में साधन चतुष्टय और उसके अन्तर्गत शमादि साधन की अनिवार्यता ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शङ्कर ने स्वीकृत की है। प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में उक्त विषयों का यथानिक और स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सहायक ग्रन्थों में शङ्कर भाष्यों का सर्वाधिक उपयोग इस खण्ड की सामग्री जुटाने के लिए किया गया है।

तृतीय खण्ड में प्रवेश करते समय प्रकरण-योजना में व्यवधान उपस्थित हो गया है। एकादश प्रकरण के पश्चात द्वादश या बारहवाँ त्रयोदश या तेरहवाँ तथा चतुर्दश या चौदहवाँ प्रकरण प्रबन्ध में नहीं मिलते। मुद्रण में इन प्रकरणों और प्रकरण क्रम की हानि हो गई है।

प्रबन्ध के तृतीय खण्ड का आरम्भ पन्द्रहवें प्रकरण में होता है। यह खण्ड प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। जैसा कि विगत पृष्ठों पर हमने कहा

है कि वास्तव में ब्रह्म, आत्म और प्रकृति इन तीन वस्तु की मीमांसा है। शाङ्कर दर्शन में मात्र ब्रह्म विचार हुआ है। इसी हेतु इस दर्शन को अद्वैतवाद या केवलाद्वैत कहा है। उसमें सर्वत्र एक ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है। जीव और प्रकृति भी परब्रह्म की अनन्त सत्ता में अन्तर्भूत हैं। जीवत्व और संसार की उपलब्धि जीव के अनादि अविद्यात्मक संस्कारों के कारण है। इसी ब्रह्मवाद का दूसरा पक्ष शाङ्कर मायावाद कहा जाता है। अद्वैत दर्शन के इस पक्ष में प्रकृति अविद्या अथवा माया की मीमांसा की गई है। मायावाद का लक्ष्य भी अन्त में ब्रह्म की सिद्धि करना है। निर्गुण काव्य में इन्हीं सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव है। इस खण्ड में हम निर्गुण काव्य में प्रविष्ट होकर उपर्युक्त तीन वस्तु का अध्ययन करते हैं।

तृतीय खण्ड में हम अध्ययन-योजना इस क्रम में विभाजित करते हैं

१ पन्द्रहवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में ब्रह्म का स्वरूप।
२ सोलहवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में सृष्टि का स्वरूप।
३ सत्रहवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में माया का स्वरूप।
४ अठारहवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में आत्मा अथवा जीव का स्वरूप।

पन्द्रहवें प्रकरण में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता एवं इन ग्रंथों पर आचार्य शङ्कर के भाष्यों के आधार पर ब्रह्म-स्वरूप निर्धारण करके इस विषय में निर्गुण सन्त काव्य से उपयुक्त उद्धरणों का चयन किया गया है। प्रबन्ध में प्रायः संकेत किया गया है कि निर्गुण काव्य में काव्यत्व प्रधान है और दर्शन प्रासंगिक है। इसी प्रकार इस काव्य में दर्शन-तत्त्व की तुलना में साधना तत्त्व प्रधान है। दार्शनिक सिद्धान्तों का महत्त्व काव्य और साधना की उपेक्षा करके प्रतिपादित करना निर्गुण सन्त काव्य के साथ अन्याय होगा। उक्त प्रकरण में ब्रह्मस्वरूप निरूपण करते हुए इन बातों का ध्यान रखा गया है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म जिज्ञासा को साधक करने के लिए ब्रह्म जगत के जन्मादि का कारण कहा गया है। जगत की स्थिति है अतः इसके रचयिता ब्रह्म की जिज्ञासा करणीय है। उपनिषदों में जगत सृष्टि सम्बन्ध में प्रायः विवेचन हुआ है। इस विषय में किसी वाद विशेष की स्थापना उपनिषदों में नहीं की गई। पीछे भाष्यकारों और आचार्यों ने स्व स्व सम्प्रदायानुसार अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। निर्गुण कवियों ने अपनी वाणी में भी उपनिषद् की सृष्टि सिद्धान्त विशदता स्वीकार की है। उनके काव्य में भी ब्रह्म को जगत्कारण स्वीकार किया गया है। शाङ्कर मत में ब्रह्म-जगत्कारणत्व प्रासंगिक महत्त्व

रखता है। ब्रह्म कारणवाद के अन्तर्गत जगत की अभिन्न निमित्तोपादानरूपता प्रतिपादित करके आचार्य शङ्कर ने जगत और ब्रह्म में अभेद सिद्धान्त की पुष्टि की है। चिन्तन के अनेक स्तरों के परिप्रेक्ष्य में अविद्या और अध्यासवाद सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में विवर्त भावना का सूत्रपात किया है। तत्पश्चात अनिर्वचनीय ख्याति के द्वारा ब्रह्म और जगत की अनादि रूपता प्रतिष्ठित करते हुए अद्वैत ब्रह्म सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। लगभग यही तात्विक प्रक्रिया निर्गुण काव्य में ब्रह्म भावना व्यक्त करते समय प्रतिपादित है।

निर्गुण काव्य संश्लिष्ट काव्य है। इसमें दार्शनिक सिद्धान्त की शुष्कता काव्यगत रसमयता का आश्रय पाकर सरस हो गई है। काव्य में प्रतिष्ठित ब्रह्म भावना यदि मात्र ब्रह्मवाद होती तो काव्य की महत्ता क्षीण हो जाती। किन्तु निर्गुण सन्तों ने ब्रह्म को स्वामी मित्र माता पिता प्रियतम सहायक उद्धारक और प्रेरक आदि विविध रूपों में देखा है। वे निरन्तर उसको सर्वव्यापी सारी रूपों में देख रहे हैं। उनका सौन्दर्य-बोध मधुर और विलक्षण है। निर्गुण निराकार होते हुए भी ब्रह्म अनन्त मानसिक एवं साधनोपयोगी अनुभूतियों का आलम्बन है। निर्गुण सन्त साधना में मनस तत्त्व की प्रधानता है। इसी हेतु ध्यानादि योग-सम्मत साधन सम्पत्ति की इसमें विशेष स्थिति है। ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप भी इसीलिए इन सन्तों की चिन्तन परम्परा के अनुकूल है। निर्गुण सन्तों के अनुसार ब्रह्म सृष्टि रचना करके अपनी शक्ति और सामर्थ्य का परिचय देता है। प्रेम पिपासु साधकों से विविध पदार्थ सत्ता के माध्यम से अपना दर्शन देता है। आवश्यकता पड़ने पर वह उनकी सहायता करता है। वह अपने भक्तों का योग-क्षेम धारण करता है। ज्ञान-साधन से वह ज्ञेय है अथवा ज्ञान ही परब्रह्म का रूप है। ज्ञान मार्ग में प्रेम और भक्ति साधन सहायक है। निर्गुण सन्त काव्य में प्रेम-तत्त्व संव्याप्त है किन्तु बहुत ही व्यापक और रस सिद्ध है। शाङ्कर अद्वैत दर्शन से यह तत्त्व अतिरिक्त है किन्तु शाङ्कर सिद्धान्त से प्रतिकूल नहीं है। इस प्रकार की भावनाएं निर्गुण सन्तों की पराभक्ति भावना को व्यक्त करती हैं। इन्हीं स्थितियों में निर्गुण काव्य अधिक सरस और मनोरम हो गया है।

निर्गुण सन्तों का निर्गुण ब्रह्म चिन्तन क्षेत्र में अवाङ्मनसगोचर व्यवहारातीत एवं स्थूल सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य और अचिन्त्य है। किन्तु ऐसा ही ब्रह्म सर्वशक्तिमान् सर्वसुलभ प्रसिद्ध नित्य एवं भक्तवत्सल है। वह माया

का स्वामी और स्वय मायापति भी है। व   ... म ... है। वह निर्गुण होते हुए भी तटस्थ लीला करता रहता है। संसार उसकी माया का प्रसार है। उसकी अखण्ड सत्ता म अनन्त नाम रूपात्मक जगत् के रूप म आभास हो जाया करता है। परमात्मा की उपाधि ...ये ... ... परिणाम उपाधि ... किन्तु परमात्मा होते हुए भी यह स्वरूप आच्छन्न करती है। ... ... ब्रह्मज्ञान से विमुख करती है। ब्रह्म पूर्ण सत्य है संसार मिथ्या ... ... । उसका स्वरूप ज्योतिर्मय है। ... ... और ... का ... रही है। ... पारमार्थिक ... ... है। ... ... भी माया के प्रति ... है। ... उसकी क्रीडा कौतुक और ... मात्र है। ... ... विचारों म युक्त है।

निर्गुण ब्रह्म सगुणाविर्भाव होकर ... ... म प्रकट ... । ... । भक्तो की अभिलाषा पूर्ण करने म वह सर्वथा समर्थ है। वस्तुत वह आप्त काम और पूर्णकाम है। वह शरीर के बन्धन म नही बधता। किन्तु भक्त साधको को उसी रूप म प्राप्त होता है जिसम वे उसका ध्यान करते हैं। तब वह नृसिंह रूप म हिरण्यकश्यपु का संहार करता है राम के रूप म रावण का वध भी करता है कृष्ण के रूप म गोपियो के साथ रासलीलाए भी करता है। निर्गुण पन्थ म इस प्रकार के व्याख्यान प्रासंगिक ही कहे जाते हैं। ये भक्ति भावना से प्रेरित उद्गार हैं।

निर्गुण काव्य म भक्ति भावना का सर्वांगपूर्ण रूप उपलब्ध है। नवधा भक्ति का भी उल्लेख हुआ है। किन्तु यह भावात्मक साधन पक्ष निर्गुण ब्रह्म को ही समर्पित है। इस प्रबन्ध म इस विषय पर विचार नही किया गया है क्योंकि शाङ्कर दर्शन म इस कोटि की भक्ति को साधना के अधिकार भेद से सम्बद्ध करके उपयोगी या अनुपयोगी कहा गया है। निर्गुण भक्तियो ने चिन्तन की परमोच्च स्थिति म ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है। यहाँ ये चिन्तन भावना से विशेष प्रभावित हैं। ब्रह्म की अद्भुत क्रियान्वित के साथ साथ उसके निर्गुण निर्विकार रूप का वर्णन करते करते ये भाव विभोर हो जाते हैं। चिन्तन सिद्धान्त से प्रेरित होकर ये शून्य भावना की ओर अग्रसर होने लगते हैं। ये जगत् मिथ्यात्व एव अध्यास सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति से साधना क्षेत्र म वेदान्त सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक पक्ष के निकट आ जाते हैं।

निर्गुण ब्रह्म भावना का य साधना और चिन्तन पक्षो का समन्वय करती

हुए अद्वैत ब्रह्म सत्ता की शाङ्करपरक व्याख्या के साथ उक्त काव्य में प्राप्त होता है। शङ्कर ब्रह्मनिर्वचन का आधार उपनिषद् और इनकी तत्त्व दृष्टि शाङ्कर अद्वैतवादी है। प्रबन्ध के इस प्रकरण में इन्हीं पक्षों को प्रस्तुत किया गया है। बौद्धदर्शन के अन्तर्गत विज्ञान और शून्य सिद्धान्त के प्रभाव का विवेचन इसमें अलग से नहीं किया गया है। शून्य शब्द के साधनात्मक रूप एवं उसकी ब्रह्मवादी समीक्षा की ओर अवश्य ध्यान दिया गया है।

प्रबन्ध के सोलहवें प्रकरण में निर्गुण कवियों की सृष्टि सम्बन्धी विचार धारा का परिचय दिया गया है। निर्गुण काव्य में अद्वैत सिद्धान्त सम्मत सृष्टि सम्बन्धी निम्नलिखित भावनाएं उपलब्ध हैं —

१ विवर्त भावना।
२ प्रतिबिम्ब भावना।
३ प्रणव भावना।

इन भावनाओं में विवर्त भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और निर्गुण काव्य में इसका प्रभाव स्पष्ट है। शाङ्कर ब्रह्मवाद में चिन्तन के क्षेत्र में विवर्त सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण स्थिति है। अध्यास सिद्धान्त के द्वारा जगत की अनादि और नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करके भी उसका मिथ्यात्व स्वीकार किया गया है। विवर्त सिद्धान्त से अनिर्वचनीय जगन्मिथ्यात्व की व्याख्या की जाती है। निर्गुण काव्य में शाङ्कर अद्वैतवाद के प्रभाव की पुष्टि करती हुई उक्त भावना का प्रमुख स्थान है। अद्वैत ब्रह्म सत्ता में द्वैतजन्य जगदा-भास की व्यावहारिक स्थिति है, किन्तु परमार्थ में अकथनीय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है। ब्रह्म के इस आध्यात्मिक स्वरूप में अविद्या पर पदार्थ सत्ता की स्थिति का निर्वचन विवर्तवाद करता है। निर्गुण काव्य में जहाँ एक ओर सृष्टि क्रम वर्णन उपलब्ध है वहीं सृष्टि के विवर्त रूप की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है।

प्रतिबिम्ब भावना की स्थिति विवर्त से कुछ भिन्न है। विवर्त भावना में पाञ्चभौतिक पदार्थसत्ता का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया जाता है और प्रतिबिम्ब भावना जगत को ब्रह्म की प्रतिच्छाया रूप में स्वीकार करती है। जिस प्रकार छाया या प्रतिबिम्ब की स्थिति छाया डालने वाले पदार्थ या व्यक्ति पर निर्भर करती है वैसे ही समस्त विश्व प्रतिबिम्ब परब्रह्म पर आधारित है। वस्तुतः छाया आभास मात्र है और आभास मिथ्या होता है। आभासक ब्रह्म ही सत्य है और इस सत्याभास से जगत की मिथ्या स्थिति में

धारण करता है। वस्तुतः इसकी स्थिति नहीं किन्तु चैतन्य स्वरूप परब्रह्म के चैतन्य से प्रकाशित होकर इसका अस्तित्व प्रामाणिक होता है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है पर माया उसके ज्ञान से प्रकाशित होकर ज्ञान स्वरूप प्रतीत होती है। भौतिक विषयों और पदार्थों में मनुष्य की आसक्ति इसी मिथ्याज्ञान से आकृष्ट होकर हो जाती है। पृथ्वी जल अग्नि आदि पंच भूतों की गति और क्रिया भी परब्रह्म के अधीन है। मन-बुद्धि आदि गुणों में पक्षपात, द्वेष रागादि नैमित्तिक तत्त्व आदि प्रकृति के परिणाम एवं उदाहरण हैं। ये सभी ब्रह्म की इच्छा से प्रेरित होकर मायात्मक व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं। प्रकृति के तीनों गुण और इनसे उत्पन्न व्यावहारिक पदार्थ सत्ता भी माया का रूप है।

मात्र ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। बाह्य मिथ्या प्रतीति माया का रूप है। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है किन्तु माया नश्वर है। यही जन्मती और मरती है। निर्गुण ब्रह्म अगति और गति आदि द्वन्द्व से या विरोधी भावों से मुक्त है किन्तु माया में गति है। माया अपने मधुर आकर्षण तथा बल पूर्वक बन्धन उत्पन्न करती है। संसार में मनुष्य के लिए जहाँ इतना सुन्दर आकर्षण है वहाँ स्त्री और धन का आकर्षण की स्थितियाँ अपरिहार्य हैं। वे समस्त लोक व्यवहारों के प्रेरित करने वाले प्रबल साधन हैं। पत्नी माता व परिवार कुल एवं सामाजिक सम्बन्ध माया के द्वारा ही उत्पन्न किये गये हैं। मान बुद्धि एवं अहंकार से निष्पन्न भौतिक विषय उपासना में परिवर्तित किये गये कर्म और शरीर के सजाने शृंगार आदि के लिए की गई क्रियायें भी माया के रूप हैं। आचार्य शङ्कर ने माया तत्त्व की व्याख्या इन व्यावहारिक एवं दैनिक जीवन की क्रियाओं की विशदता के साथ नहीं की है। माया सिद्धान्त नित्यानित्य विवेक एवं वैराग्य साधना में परिगणित अनेक तत्त्वों की प्रतिनिधियाँ हैं।

शाङ्कर अद्वैत दर्शन में अविद्या अथवा माया के दो स्तर प्रत्यक्ष होते हैं — दैवी और लौकिक। दैवी पक्ष में यह ब्रह्म की शुद्ध शक्ति है और लौकिक पक्ष में व्यावहारिक जीवन की भौतिक और मानसिक विषमताओं से पूर्ण अज्ञान दशा। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में इसके दैवी स्वरूप की व्याख्या करते हुए इसे सृष्टि प्रसंग से सम्बद्ध किया है। उपनिषदों में अविद्या और सृष्टि को एक प्रत्यक्ष सत्य रूप में स्वीकार किया गया है। विवेक चूडामणि आदि ग्रन्थों में माया की व्याख्या कुछ विस्तृत है और उस पर सिद्धान्त दृष्टि अधिक प्रखर है। माया के स्वरूप में व्यावहारिक मिथ्यात्व के संकेत स्पष्ट हैं किन्तु उसके लौकिक पक्ष की सीमायें अस्पष्ट हैं। इस श्रेणी के ग्रन्थों

म माया का सम्बन्ध मन से जुड गया है और उसकी व्यंजना दूषण में परिवर्तित होती जा रही है। निर्गुण काव्य में माया का यह नैतिक पक्ष ही प्रधान है। इसका भी सीधा सम्बन्ध मन के विकारों से है। माया और मन की इस निकटता की बहुत स्पष्ट स्थिति आचार्य गौडपाद की कारिकाओं में है। किन्तु इन कारिकाओं में माया के दार्शनिक पक्ष की विशदता है जिससे उसकी व्यावहारिक विपुलता का अनुमान लगाना कठिन है। इस अवस्था में आचार्य गौडपाद के सिद्धांत के प्रभावांश का निर्गुण काव्य में विश्लेषण करना असम्भव है।

शाङ्कर सिद्धांत में विवेचनापूर्वक प्रकृति, अविद्या और माया आदि तत्वों के सूक्ष्म भेदों का निर्देश किया जाता है। कुछ तत्व सांख्यदर्शन के पुरुष प्रकृति द्वैतवादी मत, कुछ उपनिषद् दर्शन के सृष्टि के विकासवादी सिद्धांत और कुछ मनोवैज्ञानिक विचार-दर्शन पर आधारित हैं। निर्गुण काव्य में भी इसी प्रकार के सैद्धांतिक स्तर उपलब्ध हैं। किन्तु विचार की चरम परिणति विवर्त, आभास और स्वप्न इत्यादि वादों में है। नैतिक स्तर पर माया का सम्बन्ध नतिकता से भी है। निर्गुण कवियों ने अविद्यात्मक पदार्थ सत्ता में एक ओर स्वप्न की असारता रखी है और दूसरी ओर इसकी ही भ्रांतिकता की प्रबल शक्ति का रूप दिया है। इसी प्रसंग में माया और मन एक ही धरातल पर उतर आते हैं और यह अनादि नैसर्गिक ईश्वरीय माया—स्थूल और पार्थिव जगत में बिखरी हुई दिखाई देती है। प्रबन्ध में इसी हेतु माया प्रसंग के साथ मन के सम्बद्ध विवेचन को भी स्थान दिया गया है।

प्रबन्ध के अठारहवें प्रकरण में निर्गुण काव्य में आत्मा अथवा जीव सम्बन्धी विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। शाङ्कर दर्शन में जीव और ब्रह्म की अभेदात्मक सत्ता स्वीकार की गई है। उक्त दर्शन और निर्गुण काव्य पर उसके प्रभाव का यह प्रत्यक्ष उज्ज्वल पक्ष है। दोनों में ही जीव की व्यावहारिक और पारमार्थिक स्थितियाँ स्वीकृत हैं। अविद्या सिद्धांत का महत्व यहाँ एक बार पुनः उदित होता है। जीव के आध्यात्मिक स्वरूप को विकृत करने का दायित्व अविद्या पर जाता है। आचार्य शङ्कर और निर्गुण सन्त दोनों ही इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि जीव विशुद्ध ब्रह्म स्वरूप है। अविद्याजन्य उपाधि से इनमें भिन्नता की उपलब्धि होती है।

जीव की व्यावहारिक अवस्था में मायाकृत अज्ञान आवरण उसे आच्छादित करते रहते हैं। जीव अविद्या के सम्मोहन से अभिन्न होकर स्वरूपज्ञान से विमुख रहता है। साधना की अनिवार्यता इसीलिए स्वीकृत की गई

है कि उसमें प्रभाव रूप आचरण भय होता है। आचार्य शङ्कर ने व्यावहारिक जीव की भौतिक मर्यादाओं का विवेचन नहीं किया है। किन्तु निर्गुण काव्य ने अविद्या अथवा माया के क्षेत्र में व्यावहारिक जीव का स्वरूप स्पष्ट किया है। जीव इन प्रभावपूर्ण व्यवहार का उ ा आभास का है और व्याव हारिक स्तर पर उनके आचार न ा का माग स्पष्ट भी किया है। निर्गुण काव्य म व्यावहारिक जीव को अज्ञानग्रस्त माना गया है। मनार म जम लेकर वह अपनी मत्ता को भूल गया है। शरीर को ही आत्मा मान कर उसका पोषण करता है। व्यावहारिक जीव के लिए जन्म मरण भय निरन्तर प्रस्तुत रहते हैं। उसकी भोग शक्ति कभी तृप्त नहीं होती। इन्द्रियां से भोग जाने वाले भोग वृद्धावस्था या रोग प्राप्ति के कारण भोग नहीं जा सकते। भोगेच्छा की प्रबलता और भोगने म असमर्थ होने से प्राणी दुःखी होता है। निर्गुण कविया ने जीव को उसकी अज्ञान दशा का स्मरण पुन पुन दिलाया है। उसे अनेक प्रकार की चेतावनियाँ दी हैं। पारमार्थिक जीव जल में मिले हुए लवण के समान ब्रह्म स्वरूप से अविभाज्य है।

निर्गुण कविया के अनुसार पारमार्थिक जीव माया से मुक्त होता है। उसकी ज्ञानमयी स्थिति होती है। ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म स्वरूप ही होता है। शरीर धारण करके भी उसे शरीराभिमान नहीं होता। ज्ञान दशा में जीव ब्रह्म सत्ता म प्रतिष्ठित होता है और द्वैतजन्य प्रपञ्चात्मक जगत का अभाव होता है। व्यावहारिक जीव में प्रकृति के गुण प्रधान होते हैं। वे उसको भौतिक व्यापारों के प्रति आकृष्ट और आसक्त करते हैं। उसकी पारमार्थिक अवस्था में इनका अभाव होता है।

प्रबन्ध के चतुर्थ खण्ड म जीव को अज्ञान बन्धन से मुक्त करने वाले साधना का विवेचन किया गया है। उक्त खण्ड म निर्गुण काव्य म साधन पक्ष को इस प्रकार नियोजित किया गया है —

१ उन्नीसवा प्रकरण — निर्गुण काव्य म ज्ञान का स्वरूप।

२ बीसवा प्रकरण — निर्गुण काव्य म कर्म का स्वरूप।

इक्कीसवाँ प्रकरण — निर्गुण काव्य म भक्ति और उपासना का स्वरूप।

४ बाईसवा प्रकरण — निर्गुण काव्य म सद्गुरु का महत्त्व।

५ तेईसवा प्रकरण — निर्गुण काव्य म श्रुति युक्ति और अनुभव का महत्त्व और स्वरूप।

६ चौबीसवां प्रकरण—निर्गुण काव्य में नित्यानित्य वस्तु विवेक।

७ पच्चीसवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में इहामुत्रार्थ फल भोग वैराग्य का स्वरूप।

८ सन्त-काव्य में षट साधन सम्पत्ति का स्वरूप।

९ छब्बीसवाँ प्रकरण—प्रथम साधन—शम।

१० सत्ताइसवाँ प्रकरण—द्वितीय और तृतीय साधन—दम और उपरति

११ अट्ठाइसवाँ प्रकरण—चतुर्थ साधन—तितिक्षा।

१२ उन्तीसवाँ प्रकरण—पंचम साधन श्रद्धा।

१३ तीसवाँ प्रकरण—षष्ठ साधन—समाधान।

१४ इकतीसवाँ प्रकरण—निर्गुण काव्य में मुमुक्षा का स्वरूप।

उपसंहार।

उपर्युक्त सामग्री में ज्ञान कर्म और उपासना या भक्ति साधना की शाङ्कर अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार तात्विक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। किन्तु अन्य साधन रूपों की सार्थकता क्रियात्मकता व्यावहारिकता या अनुभवमूलकता में है। अतः उपर्युक्त तीनों साधनों का सैद्धान्तिक निरूपण चतुर्थ खण्ड में किया गया है। साधन चतुष्टय और तद्गत शमादि साधन-सम्पत्ति का विवेचन स्वतन्त्र रूप से निर्गुण काव्य में तत्सम्बन्धी लक्षणों के आधार पर किया गया है। निर्गुण काव्य में ज्ञान-साधन की स्थिति सर्वोपरि है। कर्म साध्य न होकर ज्ञान का एक साधन मात्र है। भक्ति को भी ज्ञानोपलब्धि में सहायक रूप में स्वीकार किया गया है। भक्ति का विशद विवेचन इस प्रबन्ध में प्रस्तुत नहीं किया गया है क्योंकि आचार्य शाङ्कर ने भक्ति और प्रेमजन्य साधनाओं का वर्णन प्रासंगिक रूप में ही किया और इनका प्रतिपादन अद्वैतवाद की ज्ञान धारा के प्रतिकूल भी है। पर निर्गुण काव्य में भक्ति और प्रेम या मधुर भावनाओं से प्रभावित अनेक भावपूर्ण और मार्मिक स्थान भी हैं।

निर्गुण काव्य के साधना पक्ष में नित्यानित्य विवेक और वैराग्य साधना का प्रभाव सर्वाधिक व्यापक है। इसमें माया, सृष्टि आदि तत्वों की व्याख्या भी इन साधना के गंभीर प्रभाव में प्रस्तुत की गई है। षट साधना में इन्द्रिय निग्रह और मुमुक्षा भाव निर्गुण काव्य में सर्वोपरि है।

प्रबन्ध में उपर्युक्त सभी विषयों का अध्ययन शाङ्कर अद्वैत-दर्शन के सन्दर्भ में किया गया है। निर्गुण काव्य में उपलब्ध सामग्री का शाङ्कर दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सम्यक् मूल्याङ्कन करने के लिए विषय का सर्वत्र मौलिक

चिन्तन और व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव होती रही है। प्रबन्ध में सर्वत्र मौलिक विवेचन को ही प्राथमिकता दी गई है। मौलिक दृष्टि से विषय प्रतिपादन करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में हमको लखनऊ विश्वविद्यालय की टगोर लाइब्रेरी से पुस्तकों से सामग्री एकत्रित और सकलित करने में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रबन्ध के विषय की स्वीकृति और कार्य करने की प्रेरणा लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० दीनदयालुजी गुप्त से प्राप्त हुई। यह कार्य डा० त्रिलोकीनारायण जी दीक्षित के निर्देशन में पूर्ण हुआ। इस सम्बन्ध में डा० दीक्षित की प्रेरक और धैर्य प्रदायिनी वाणी अविस्मरणीय है। इस प्रबन्ध के सशोधन एवं सिद्धान्त सम्बन्धी सुधारों के लिए हम स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी के चिर कृतज्ञ हैं जिन्होंने इसका अधिकांश भाग सुना और पढ़ा है। स्वामी अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थजी ने भी इस विषय को सुनकर शोध कार्य में अग्रसर होने के लिए आश्वासन दिए हैं। प० कृष्णशङ्करजी शुक्ल अध्यापक हिन्दी विभाग डी० ए० वी० कालेज कानपुर (सम्प्रति हिन्दू कालेज—दिल्ली विश्वविद्यालय) के स्नेहमय सहयोग के बिना यह कार्य पूर्ण होना असम्भव सा था। उन्होंने अनेक पुस्तकों और सुझावों के द्वारा कार्य को आगे बढ़ाते रहने का निरन्तर प्रोत्साहन दिया है अतः उनके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। एक बार हम अपने सभी गुरुजनों का स्मरण हो आता है जिन्होंने बाल्यावस्था से लेकर आज तक हमारे मन और बुद्धि को विद्यानुराग के संस्कार से संस्कृत किया है और यह कार्य सपादित करने के योग्य बनाया है। मैं उन सभी गुरुजनों का चिरऋणी हूँ। अपने परम श्रद्धास्पद अग्रज श्री लालमणिजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में वाणी समर्थ नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण महान निस्पृह भाव से अध्ययन के लिए प्रोत्साहित मात्र ही नहीं किया है वरन् हमारे विद्यानुराग से उन्हें सच्चा सुख मिला है और उन्होंने बाल्यकाल में ही हमारे लिए अपने अन्तःकरण में अनेकानेक महत्त्वाकांक्षाएँ सचित रखी हैं। उनके ही निरापद सरक्षण में इस कार्य की पूर्ति हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है। अतः उनके प्रति आभार प्रदर्शन मेरा कर्तव्य है। इसके प्रूफ संशोधन में परम स्नेही मित्र श्री रामचन्द्र तिवारी – सम्पादक 'भारतीय हिन्दू' का प्रमुख सहायता प्राप्त हुई है। तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

प्रूफ संशोधन में सतर्कता बरत जाने पर भी इस ग्रन्थ में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है विज्ञ विद्वान इन सबको सुधार कर पढेंगे।

डा० नगेन्द्र अध्यक्ष हिन्दी विभाग— दिल्ली विश्वविद्यालय ने इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अपने दो शब्द देकर इसके गौरव की वृद्धि की है। डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने विषय की महत्ता प्रमाणित करने वाला प्राक्कथन देकर मुझे अध्ययन में अग्रसर होने का आशीर्वाद और प्रोत्साहन दिया है। इन विद्वानों के प्रति मैं एक बार पुनः आभार प्रकट करता हूँ।

दिल्ली कॉलेज, दिल्ली
२७ फरवरी, १९६८

विद्वज्जन कृपाभिलाषी
शान्तिस्वरूप त्रिपाठी

विषय-क्रम

प्रथम खण्ड

शंकर-पूर्ववर्ती अद्वैत भावना का स्वरूप

शून्यता का व्यापक रूप, शून्य से जगत सृष्टि, शून्य सिद्धान्त की समीक्षा, प्रतीत्य समुत्पादवाद का शून्य सिद्धान्त में महत्त्व, शून्यवाद और जागतिक सत्य, तथता और ज्ञान, शून्य और अविद्या, पारमार्थिक सत्य का स्वरूप, शून्य और धर्माधर्म, गति-अगति, शून्य और आत्मा-अनात्मा, कर्म, काल, शून्य सिद्धान्त और स्वभाव-निःस्वभाव, शुभाशुभ, निर्वाण का स्वरूप, शून्यवाद और लौकिक-अलौकिक सत्ता की स्थिति, आचार्य शङ्कर द्वारा शून्य मत की आलोचना, डा० राधाकृष्णन का शून्यवाद सम्बन्धी मत, डा० दास गुप्त के अनुसार शून्य सिद्धान्त की समीक्षा।

पृष्ठ ५८ से पृष्ठ ७१ तक।

विज्ञानाद्वैतवाद

बौद्धों की योगाचार शाखा के अन्तर्गत विज्ञानाद्वैतवाद का स्वरूप निरूपण, विज्ञानवाद की परिभाषा, विज्ञानवाद और शून्य सिद्धान्त की तुलना, विज्ञानवाद और शून्यवाद के विकास का क्रम, प्रतीत्य समुत्पादवाद और विज्ञानवाद, प्रतीत्य समुत्पादवाद सिद्धान्त, विज्ञानवाद के अनुसार सृष्टि का स्वरूप, आलयविज्ञान का स्वरूप और महत्त्व, आलयविज्ञान और चेतनसत्ता, विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान का स्वरूप, आलयविज्ञान और वासना, विज्ञानवाद में नैरात्म्यदृष्टि, अविद्या स्वरूप, विवेकज्ञान का स्वरूप और महत्त्व, निर्वाण का स्वरूप और महत्त्व, सृष्टि का अजातत्व, विज्ञानवाद और अद्वैतवाद, आचार्य शङ्कर द्वारा विज्ञानवाद की आलोचना, विज्ञानवाद का खण्डन, डा० राधाकृष्णन का मत, डा० दास गुप्त का मत, अद्वैतवाद और विज्ञानवाद पर एक तुलनात्मक दृष्टि, ब्रह्मसूत्र और विज्ञानवाद, आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार ब्रह्मसूत्र और विज्ञानवाद की विवेचना, विज्ञानवाद और अद्वैतवाद में अन्तर प्रदर्शित करने वाले कुछ बिन्दु।

पृष्ठ ७१ से पृष्ठ ८३ तक।

तृतीय प्रकरण

वेदान्त दर्शन का स्वरूप—

वेदान्त शब्द की व्युत्पत्ति, वेदान्त शब्द की सार्थकता, ब्रह्मसूत्र का स्वरूप, वेदान्त दर्शन का परिमाण, वेदान्त दर्शन के अध्याय, प्रस्थानत्रयी और वेदान्त सूत्र, सूत्रों में स्वीकृत प्रमाण, सूत्रों में श्रुति और स्मृति का महत्त्व, ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म, माया, जीव, प्रकृति, कर्म, ज्ञान और मोक्ष आदि तत्त्वों का सूक्ष्म दृष्टि से विचार।

काव्य में ब्रह्म का सगुण रूप, निगुण कवियों की अवतार भावना निगुण कवियों के अनुसार ब्रह्म की अनिर्वचनीयतायें, निगुण ब्रह्म की महत्ता आचार्य शङ्कर और निगुण सन्तों के द्वारा समान ब्रह्म भावना की स्वीकृति उपनिषद् आचार्य शङ्कर और निगुण सन्त कवियों की ब्रह्म भावनाओं का तुलनात्मक विवेचन शून्य शब्द विचार।

सोलहवाँ प्रकरण

निगुण काव्य में सृष्टि का स्वरूप

विवर्त भावना

सृष्टि और माया का मिथ्यात्व ब्रह्म शक्ति और विवर्त सिद्धान्त 'विवर्त' शब्द की व्याख्या उपनिषदों में विवर्त भावना गीता में विवर्त भावना का स्वरूप ब्रह्मसूत्र और आचार्य शङ्कर के अनुसार विवर्त भावना का स्वरूप निर्धारण, निगुण काव्य में विवर्त भावना की अवतारणा ब्रह्म और सृष्टि का सम्बन्ध विवर्त सिद्धान्त के द्वारा अनेक सन्देहों का निराकरण।

प्रतिबिम्ब भावना

ब्रह्मसूत्र और आचार्य शङ्कर के अनुसार प्रतिबिम्ब भावना का स्वरूप सृष्टि और जीव में प्रतिबिम्ब भावना का आरोप प्रतिबिम्ब सिद्धान्त में अविद्या का स्थान निगुण सन्तों द्वारा प्रतिबिम्बवाद की स्वीकृति प्रतिबिम्बवाद जीव और जगत का स्वरूप।

प्रणव भावना

उपनिषदों में ओङ्कार की सर्वमान्यता माण्डूक्य उपनिषद् में प्रणव द्वारा सृष्टि विकास का सिद्धान्त उक्त सिद्धान्त और आचार्य शङ्कर का अभिमत ओङ्कार की तीन मात्राओं का रहस्य निगुण सन्तों द्वारा उक्त मत की स्वीकृति निगुण काव्य में सृष्टि का विकास क्रम।

ब्रह्मसूत्र के अनुसार सृष्टिक्रम गोरखनाथ के अनुसार सृष्टिक्रम, सन्त कबीरदास के अनुसार सृष्टिक्रम, सन्त दादूदयाल के अनुसार सृष्टिक्रम सन्त सुन्दरदास के अनुसार सृष्टिक्रम सन्त चरणदास के अनुसार सृष्टिक्रम।

सत्रहवा प्रकरण

निर्गुण काव्य म माया का स्वरूप —

माया का परिभाषा माया का स्वरूप और उसकी व्याख्या माया और मायावी ईश्वर का स्वरूप माया अविद्या शक्ति अज्ञान प्रकृति ग त ी की मायकता पर विचार निर्गुण काव्य म माया सिद्धान्त के अध्ययन का आधार मूल शाङ्कर सिद्धान्त निर्गुण कविया के अनुसार माया का स्वरूप माया ब्रह्म के अधीन उसकी शक्ति सृष्टि-कारण माया का विवचन निर्गुण कविया क अनुसार माया म विश्वोत्पत्ति का कथन मायावी विविधरूपता सृष्टि की मायारूपता विवचन त्रिगुणात्मक सृष्टि और माया का सम्बन्ध माया प्रपच विवचन माया और जीव बन्धन माया की कुटिलता छलना वचना का प्रवृत्तिया माया का मिथ्यात्व निराकार ब्रह्म म माया ही आकार का कारण माया जीव क आवागमन का कारण निर्गुण सन्ता क अनुसार माया की प्रबलता और उसकी शक्ति की अकथनीयता नान —माया नाश का साधन माया मन उपसहार।

पृष्ठ ८८ से पृष्ठ ३३४ तक।

अठारहवाँ प्रकरण

निर्गुण काव्य म आत्मा अथवा जीव का स्वरूप —

निर्गुण काव्य म आत्मा अथवा जीव के स्वरूप के अध्ययन के आधार आचाय शङ्कर क अनुसार आत्मा जीव सिद्धान्त की पुनरावृत्ति विवक चूडामणि का ता य निर्गुण काव्य म आत्मा का निर्गुण निरुपाधिक अजन्मा और अमृतरूप आत्मा की अन्तरूपता जीव की व्यावहारिकता जीवत्व और उपाधि जीव की व्यावहारिकता पारमार्थिक आत्मा म बन्धन मो ा का अभाव जीव और ब्रह्म का अनन्य निरूपण जीव भाव और प्रतिबिम्ब भावना पारमार्थिक आत्मा का अकर्तृत्व व्यावहारिक आत्मा का कर्तृत्व व्यावहारिक जीव का बन्धन-कारण जीव का अविद्या कम अविद्या और जीव प्रकरण का उपसहार।

पृष्ठ ३ ४ से पृष्ठ ७/ तक।

चतुर्थ खण्ड

निगु ण का य का साधन पक्ष और उस पर शाङ्कर अद्व त वेदा त का प्रभाव

उ तीसवा प्रकरण

तीसवा प्रकरण

इकतीसवां प्रकरण

उपसहार

प्रथम खण्ड

शङ्कर-पूर्ववर्ती अद्वैत भावना का स्वरूप

परिचय

प्रबन्ध के इस खण्ड में हम निम्नलिखित विषयों और सामग्री पर विचार करेंगे —

(१) वेद और उपनिषदों में अद्वैत भावना का विचार।

(२) बौद्ध दर्शन में अद्वैत सिद्धान्त की रूपरेखा पर विचार।

(३) वेदान्त दर्शन का स्वरूप विचार।

प्रस्तुत खण्ड में हम शंकर पूर्ववर्ती चिन्तनधारा में उपलब्ध अद्वैत सिद्धान्तों की मीमांसा करेंगे। इस दृष्टि से हम देखेंगे कि वेद में अनेक देवताओं की उपासना का विधान है, परन्तु सभी देवता वस्तुतः एक रूप हैं और अनेक नामों से उनका सम्बोधन होता है। उपनिषदों के स्वरूप का विचार करते हुए हम देखेंगे कि ये उपनिषदें ही अद्वैत दर्शन के आधार हैं। वेदों की चिन्तनधारा और उपनिषदों की चिन्तन पद्धतियों में अन्तर निश्चित करते हुए हम इनमें एक विकास क्रम स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे।

शून्य सिद्धान्त का प्रभाव तो सन्तों के काव्य में स्पष्ट ही है अतः यहाँ शून्य का विवेचन आवश्यक है। हम शून्य का विचार हम सन्तों के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण से सम्बद्ध करेंगे।

इस खण्ड के अन्त में हम वेदान्त दर्शन के स्वरूप का विचार करेंगे। वेदान्त दर्शन में आये हुए सूत्रों के वक्ता अभिमत को हम शंकर के भाष्य की सहायता के बिना ग्रहण नहीं कर सकते। इसी कारण हम केवल वेदान्त दर्शन की रूपरेखा मात्र पर विचार करेंगे और इस सिद्धान्त को शंकर दर्शन से सम्बद्ध करेंगे एवं उसका विवेचन प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

परिचय

प्रबन्ध क इस खण्ड में हम निम्नलिखित विषयों और सामग्री पर विचार करगे —

(१) वद और उपनिषदों में अद्वैत भावना का विचार।

(२) बौद्ध दशन में अद्वैत सिद्धान्त की रूपरेखा पर विचार।

(३) वेदान्त दर्शन का स्वरूप विचार।

प्रस्तुत खण्ड में हम शंकर पूर्ववर्ती चिन्तनधारा में उपलब्ध अद्वैत सिद्धान्त की मीमांसा करेंगे। इस दृष्टि स हम देखेंगे कि वेद में अनक देवताओं की उपासना का विधान है, परन्तु सभी देवता वस्तुत एक रूप हैं और अनेक नामों से उनका सम्बोधन होता है। उपनिषदों के स्वरूप का विचार करत हुए हम देखेंगे कि य उपनिषदें ही अद्वैत दर्शन क आधार हैं। वदों की चिन्तनधारा और उपनिषदों की चिन्तन पद्धतियों में अन्तर निश्चित करते हुए हम इनमें एक विकासक्रम स्थापित करन का प्रयत्न करेंगे।

शून्य सिद्धान्त का प्रभाव तो सन्तों क काव्य में स्पष्ट ही है अत यहाँ शून्य का विवेचन आवश्यक है। इस शून्य का विचार हम सन्तों के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण से सम्बद्ध करेंगे।

इस खण्ड क अन्त में हम वेदान्त दर्शन क स्वरूप का विचार करेंगे। वेदान्त दर्शन में आय हुए सूत्रों क प्रयत अभिमत का हम शंकर के भाष्य की सहायता क बिना विवेचन नहीं कर सकत। इसी कारण हम केवल वेदान्त दर्शन की रूपरेखा मात्र पर विचार करेंगे और इस सिद्धान्त को शंकर दर्शन स सम्बद्ध करेंगे एवं उसका विवेचन प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

परिचय

प्रस्तुत प्रकरण में वेदान्त दर्शन के विकास-क्रम को ध्यान में रखकर वैदिक दर्शन पर एक दृष्टि डाली गई है। इसमें वेद शब्द की व्युत्पत्ति का विचार करते हुए अद्वैत सिद्धान्त सम्मत माया, जीव और ज्ञान आदि तत्त्वों का संक्षेप में स्वरूप निरूपण किया गया है।

वैदिक साहित्य और दर्शन के वैविध्य और विस्तार के बीच ■ अद्वैत सिद्धान्त सूत्रों की खोज दुष्कर कार्य है और प्रबन्ध के मूल विषय से उनका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। आचार्य शङ्कर का अद्वैत दर्शन मुख्यतः उपनिषदों पर आधृत है। इसी विचार से यहाँ वैदिक संहिताओं का विस्तृत विवेचन अनुपयुक्त समझा गया है और उपनिषदों में उपलब्ध वस्तु का ही किंचित् विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्मसूत्रों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि इन सूत्रों की सृष्टि उपनिषदों के आधार पर की गई है जैसा कि 'श्रुतत्वाच्च' ब्रह्मसूत्र १ १ ११, ३ २ ३६। 'श्रुतेश्च' ब्रह्मसूत्र २ १ २७। 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' ब्रह्मसूत्र १ २ १६। आदि सूत्रों से प्रकट है। अतः उपनिषदों को वेदान्त दर्शन का आधार मानकर औपनिषद् विषय, वस्तु विकास क्रम और दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है।

उपनिषदों में उपलब्ध सामग्री को बिना किसी आचार्य के भाष्य के समझना भी कठिन है। दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने अपने मतों और सम्प्रदायों के आवेश में उपनिषद् भाष्य प्रस्तुत किए हैं। इन अवस्थाओं में औपनिषद् ज्ञान को 'इदमित्थं' कह कर स्वीकार करने का साहस भी सहसा नहीं होता। किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में शोध विषय को ध्यान में रखते हुए उपनिषदों के शाङ्कर भाष्य को स्वीकार करना युक्तियुक्त प्रतीत हुआ और इसी दृष्टि से सर्वत्र शङ्कर सम्मत शब्दार्थों, भावार्थों और अन्यान्य अर्थों का ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म, जीवात्मा, माया, प्रकृति, विद्या, ज्ञान, कर्म और उपासना आदि तत्त्वों को शाङ्कर भाष्यों के अनुसार ही समझा और समझाया गया है।

प्रथम प्रकरण

वेद और उपनिषदों में अद्वैत भावना का स्वरूप

भारतीय साहित्य और दर्शन का प्रारम्भ वेद से होता है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री का स्रोत भी हम वेद में खोजने का प्रयत्न करेंगे। वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है। दिवादि 'विद्' धातु का अर्थ है सत्ता। रुधादि 'विद्' धातु का अर्थ विचारणा भी परिलक्षित है। 'विद्लृ लाभे' धातु भी वेद शब्द में परिलक्षित होती है। 'विद चेतनाख्यान निवासेषु' धातु चुरादि भी है, जिसका रूप है—वेदयते। वेद ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि अभीष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक उपाय का बोध करानेवाला ग्रन्थ वेद है —

इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।[1]

वेद पदार्थ का 'विद्यते इति वेदः' 'विन्दति इति वा वेदः' 'वेत्ति इति वेदः' तीनों प्रकार से निर्वचन किया जा सकता है। सत्तार्थक 'विद्' धातु से 'विद्यते' बनता है। लाभार्थक 'विद्' धातु से 'विन्दति' बनता है। 'विद्यते' सत्ता भावद्योतक है, 'वेत्ति' ज्ञानभाव का द्योतक है एवं 'विन्दति' रसभाव समर्पक है।[2]

पहले हम वेद में उपलब्ध वस्तु का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। इस सामग्री को हम उपनिषदों में प्राप्त अद्वैत दर्शन सम्बन्धी सूत्रों से सम्बद्ध करेंगे।

वेद में इन्द्र, वरुण, प्रजापति आदि अनेक देवताओं का वर्णन हुआ है। इससे यह प्रतीत होता है कि अनेक देवता अनेक रूपों में प्रतिष्ठित हैं अतः वैदिक उपासना बहुदेववादी है। वेद में अनेक देवता अवश्य हैं परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है कि वेद बहुदेववादी है। ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, यम और मातरिश्वा एक ही

---

१ वेदान्तांक (कल्याण) पृष्ठ ५३ 'वेद और वेदान्त' लेख।

२ वेदान्त अंक, पृष्ठ ३८८ 'वेद का स्वरूप विचार' लेख।

परमात्मा के नाम है[3]। इसी प्रकार यजुर्वेद में एक ही ईश्वर को अग्नि आदित्य वायु चन्द्रमा शुक्र ब्रह्म आप और प्रजापति कहा गया है।[4] हम अपने प्रबन्ध के सभी प्रकरणों में यह मत निश्चित करेंगे कि अद्वैत दर्शन के अनुसार अनेकमुखी भौतिक अथवा व्यावहारिक सत्ताओं का निषेध किया गया है। अतः वेद में भी हम इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण बात देखते हैं कि अनेक देवताओं को एक ही ब्रह्म का रूप माना है। इसी प्रकार ऋग्वेद में कल्याणकारी सखा रूप और पिता रूप परमात्मा को अद्वय कहा गया है[5]। इस अद्वय शब्द का अर्थ आचार्य सायण ने दो से रहित होना किया है[6]। डाक्टर राधाकृष्णन् के अनुसार बहुदेववाद धार्मिक चेतना के प्रतिकूल है।[7]

वेद में माया और मायावी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है[8]। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग बहुवचन में प्रायः हुआ है। अतः यहाँ यह निश्चय किया जा सकता है कि माया शब्द मिथ्यारूप भौतिक अनेक रूपता के लिए प्रयुक्त हुआ है। आचार्य सायण के अनुसार माया शब्द का अर्थ लोकप्रसिद्ध कपट है[9]। इस प्रकार हम वेद में एक ब्रह्म की प्रतिष्ठा और माया की अनेकरूपात्मकता देखते है। परन्तु वेद के सम्बन्ध में हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि वहाँ अद्वैत दर्शन का सांगोपांग विवेचन उपलब्ध होता है। वेद में अनेक विषयों का समावेश है इसलिए वहदाकार वेद में एक स्थान पर अद्वैत वेदान्त के सूत्रों को ढूंढ निकालना कठिन है। इस विषय में हम केवल यह स्थिर करते है कि अद्वैत दर्शन की प्रवृत्तियाँ वेद में वर्तमान हैं।

---

३ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६।

४ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२।१।

५ उत नः पिता चरं शिवं शिवाभिरूतिभिः
सखा सुशेवस्य सखा सुशेवा अद्वयाः ॥३॥ ऋग्वेद अ० ... अ० ५ व० ६।

६ अद्वया द्वयरहिता ... ॥ —ऋ० भाष्य ... अ० ... व० ६।

७ Worship the plurality of Gods for religious consciousness ... —Indian Philosophy ..., page 91

८ ... मायाभिरिन्द्र मायिनं ... शुष्णम्॥
... प्र ... ॥ —ऋ० अ० १।अ० ४।व० ६।अ० १।अ० २।सू० ५१।

९ मायाभिः लोकप्रसिद्धैः कपट
... ॥

अब हम उपनिषद्-ज्ञान पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे और उपनिषदों की स्वरूप प्रतिष्ठा करते हुए वैदिक प्रवृत्तियों का प्रारम्भ में संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

उपनिषद् के स्वरूप पर विचार करने पर हमको वैदिक साहित्य की रूपरेखा पर विचार करना आवश्यक है। विज्ञान स्तुति इतिहास, कर्म उपासना और ज्ञान इन छः विषयों का समावेश वेद के स्वरूप के अन्तर्गत किया गया है। संहिता विधि आरण्यक और उपनिषद्—ये वेद के चार स्वरूप हैं। संहिता को ही मंत्र, ब्राह्मण अथवा ऋषि भी कहते हैं। संहिता के अतिरिक्त वेद का दूसरा भाग ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण के कर्म उपासना और ज्ञानभेद से विधि आरण्यक और उपनिषद् ये तीन विभाग हैं[१०]। प्रस्तुत वेद के स्वरूप विभाजन पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उपनिषद् वेद के ज्ञान प्रकरण की प्रकाशिका है। उपनिषद वस्तुतः ज्ञान प्रतिष्ठापक वेद का ही अंग है। यह बात शंकर द्वारा प्रस्तुत उपनिषद् की परिभाषा से भी स्पष्ट हो जाती है। तैत्तिरीय उपनिषद के सम्बन्ध भाष्य में शंकर ने कहा है कि अपना सेवन करनेवाले पुरुषों के गर्भजन्म और जरा आदि का उच्छेदन करने या नाश करने के कारण 'उपनिषद्' शब्द से विद्या का कथन होता है। अथवा ब्रह्म के समीप ले जानेवाली होने से या इसमें परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है इसलिए यह विद्या उपनिषद है[११]। कठोपनिषद् में शंकर ने उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति का वर्णन किया है। विशरण (नाश) गति और अवसादन (शिथिल करना) इन तीन अर्थोंवाली तथा 'उप और नि' उपसर्गपूर्वक एवं क्विप् प्रत्ययान्त 'सद्' धातु का यह उपनिषद् रूप बनता है। इस उपनिषद शब्द से वेद्य ब्रह्म विषयक विद्या का प्रतिपादन किया जाता है[१२]। इस प्रकार शंकर द्वारा प्रस्तुत उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति से अद्वैत ज्ञान लक्षित है।

उपनिषद् शब्द के स्वरूप विचार के अनन्तर अब हम उपनिषद् और

---

१० देखिए वेदान्त अंक (कल्याण), पृ० ३८५ 'वेद का स्वरूप विचार' लेख।

११ उपनिषदिति विद्योच्यते, तच्छीलिनां गर्भजन्मजराद्युपनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति।

—तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य। पृ० ११।

१२ सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते।

—कठ उ०। सम्बन्ध भा०। पृ० १२।

वेद में अद्वैत दर्शन के स्वरूप निर्णय की दृष्टि से और दोनों में विषमता के विचार से आगामी प्रसंग प्रस्तुत करेंगे। हम जहाँ वेद में अनेक देवताओं की उपासनाएं देख चुके हैं वहां उपनिषद् में हम ब्रह्म अथवा आत्मा की प्रतिष्ठा होते देखेंगे। यद्यपि संहिताओं में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु उपनिषद् में ब्रह्म एक दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक क्षेत्र में वर्णित हुआ है जब कि संहिताओं में ब्रह्म उपासना भक्ति का य और कौतूहल का विषय बना रहा। अतः संहिता और उपनिषद् में एक तात्विक भेद यह निश्चित हुआ कि अद्वैत दर्शन का मूल ब्रह्म सिद्धान्त उपनिषदों में ही पुष्ट हुआ जिसके आधार पर वेदान्त दर्शन का सृजन हुआ। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार प्रकट करेंगे।

वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में दूसरी मुख्य बात है कर्म का इन देवताओं से प्रयोजन। वैदिक कर्म देवताओं से भोग की याचना करता है। परन्तु उपनिषद् वैराग्य को लक्ष्य करती है। अतः कर्म की प्रतिष्ठा करना भी अद्वैत दर्शन का मुख्य प्रयोजन नहीं है। अतः उपनिषदों के ब्रह्म और संहिता के देवता में भी स्वरूप एवं लक्षण भेद है। ब्रह्म के लक्षण इसी प्रकरण में आगे कहेंगे।

कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उपनिषदों के ज्ञान काण्ड की उद्भावना विकास क्रम की दृष्टि से तीसरी मुख्य बात है। इस दृष्टि से हम देखेंगे कि संहिताओं में प्रतिष्ठित देवगण का अनेक रूपात्मक स्वरूप उपनिषदों में समाप्त हो गया। अनेक विध भौतिक पदार्थ उपनिषदों में एक रूप हो गए और पदार्थों की विविधता एवं विषमता एक ही सत्य के अनेक नाम रूप निश्चित किये गये। भौतिक पदार्थों की अनित्यता और ब्रह्म की नित्यता इन उपनिषदों में कही गई। ज्ञान के क्षेत्र में कर्म ज्ञान का केवल सहायक रह गया। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति अभ्युदय और निःश्रेयस प्रेय और श्रेय के दो क्षेत्र पृथक पृथक हो गये।

आगामी पृष्ठों में हम उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर उपनिषद् और संहिताओं की विषमताओं का विचार अद्वैत दर्शन के विकास क्रम की दृष्टि से करेंगे।

वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है। सन्देह होता है कि क्या यह देवता व्यक्तिगत कल्पनाओं पर आश्रित होकर अनेक शक्तियों का सृजन करता है? नहीं। यहाँ तो जीवन स्थितियां और आवश्यकताओं के अनुरूप ही सम्बद्ध देवताओं की कथायें प्रचलित हैं। इनकी शक्तियां प्रत्यक्ष हैं। इनको मानव स्वरूप का मान्यता दी जा सकती है। उपनिषद् के समक्ष इस

देववाद की मान्यता का प्रश्न है। एक साथ अनेक शक्तियाँ यदि स्थित हों तो उनमें स्वभावतः संघर्ष होगा। सृष्टि में जो उसकी अनेक क्रियाओं में एक नियम की अनुभूति का प्रत्यक्ष होता है उसमें विषमता उत्पन्न होगी। एक शक्ति सृष्टि की रचना करेगी तब अन्य उसे नष्ट करेगी। एक देवता अपने भक्त को वरदान देगा तो दूसरा अभिशाप। इस प्रकार वैदिक देववाद की स्वीकृति अग्राह्य हो जाएगी। भोगवादी देवता राग द्वेष के क्षेत्र हो जाएंगे। अतएव इस देव सत्य को एक नियम में संयमित करके उपनिषद् ने अद्वैत सत्य की प्रतिष्ठा की। एक ही देवता को अनेक नामों से आह्वान कर सकते हैं। भावना के अनुसार एक ही सत्य अपना आकार तदनुरूप बनाता देखा जाता है।

उपनिषद् ने वस्तुतः किसी देववाद को प्रोत्साहन नहीं दिया। शक्ति रूप में जिस देववाद को वैदिक समाज ने ग्रहण किया उसमें जिस प्रकार के सत्य की संस्थापना थी वह भी वेदान्त ने ज्यों का त्यों नहीं माना। उपनिषद् ने शक्ति का कोई आकार निश्चित नहीं किया। पदार्थ शक्ति युक्त और शक्ति रहित भी देखे जाते हैं। अतः पदार्थ ही शक्ति है ऐसा कहना युक्ति युक्त नहीं। उपनिषद् ने शक्ति को एक शक्तिवान पदार्थ से भिन्न रूप दिया। स्थूल पर सूक्ष्म को आसीन किया। इन्द्रियगम्य अनुभव और प्रत्यक्षों पर अतीन्द्रिय सत्य का दर्शन उपनिषद् ने किया। वैदिक उपासना का एक यह नितान्त मौलिक प्रकरण था।

उपनिषद् और वेद दोनों में विरोध मानने की आज्ञा वैदिक धर्म नहीं देता किन्तु वेदान्त वेद द्वारा उपदिष्ट उपासना की पुनरावृत्ति नहीं करता, यह निश्चित है। उपनिषद् का उपासना नियमाश्रय रहा है। वह अनुभवगम्य सत्य का प्रत्यक्ष कराती है। स्थूल पर सूक्ष्म, अनेक पर एक आकार पर निराकार और सगुण पर निर्गुण सत्य की व्यवस्था अद्वैत के अन्तर्गत करता है।

उपनिषद् भौतिक पदार्थ सत्ता की पुष्टि नहीं करता अपितु उसकी एक आध्यात्मिक दिशा है। यह अध्यात्म यद्यपि विशुद्ध ज्ञान-दशा नहीं है वरन् यह अध्यात्म भाव के संयोग से रस दशा का द्योतक है और हृदय की विशालता के हेतु से भावप्रवणता से ओत प्रोत है।

विद्या पढ़ना विद्या पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान लेना दान देना आदि वैदिक उपासना के बहिरंग साधन हैं। वस्तुतः एक स्वस्थ और विकासशील समाज की स्थापना इसका लक्ष्य है और इसमें वैदिक धर्म का उद्देश्य स्पष्ट लक्षित होता है। वर्ण-विभाजन सामाजिक व्यवस्था है राजनीति नहीं।

आश्रम विभाजन जीवन की स्वाभाविक दशाओं का वर्गीकरण है। ये अनेक व्यक्तित्वों को एकीकृत करने के प्रयत्न हैं। एक विशाल समाज के, उसकी आवश्यकतानुसार, ये विभाजन किये गये थे।

यज्ञ की भी व्यापक परिभाषा की जा सकती है। उपासना की चरम दशा में वह योग साधना के निकट आता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एक रूपता को व्यक्त करने के लिए वेद में यज्ञ का रूपक प्रस्तुत किया गया है। शरीर रचना के साथ एक स्वाभाविक यज्ञ विधि परिपालित है। इसी प्रकार सामाजिक और राजनैतिक विधानों में भी यज्ञ का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक समाज में बौद्धों की नाशशीलता और क्षणिकता एवं दुःखवाद नहीं है। इन्द्र प्रजापति जैसी शक्तिशाली प्रभुता, वीरता और उत्साह के प्रतीक हैं। कुबेर सम्पत्ति का स्वामी और बृहस्पति विद्या का स्तम्भ है। ये सब उस समाज की समृद्धि के प्रमाण हैं। जीवन में प्रगति के प्रति उत्साह प्रधान है, सम्पत्ति के प्रति निरुत्साह नहीं। वैदिक आचार यद्यपि भोगवाद के वातावरण में पुष्ट हुआ है परन्तु वह विशृंखल नहीं होने पाया जिससे नियन्त्रित वर्णाश्रम धर्म पर व्याघात होता[1]। डा० राधाकृष्णन के अनुसार वैदिक धर्म देवता और मनुष्य के पारस्परिक आदान-प्रदान लाभ और हानि का प्रश्न है। उपनिषदों की चिन्तनधारा के समक्ष वैदिक साधना अति साधारण कोटि की है। इस भोगवाद की कामना में नैसर्गिक प्रेरणा है, उत्तेजना का परिणाम नहीं। वैदिक उपासना के अन्तर्गत यद्यपि अनेक देवताओं की प्रतिष्ठा है परन्तु अनेक साधक एक ही तथ्य के प्रति अभिमुख जान पड़ते हैं। अनेक देवताओं की ओट में अनेक सम्प्रदायों की रचना होकर वैदिक धर्म में अव्यवस्था नहीं आने पाई। आज भी अनेक भारतीय धर्म के सम्प्रदाय उपासना भेद मानते हुए भी वेद को ही प्रमाण मानते हैं। यह भी वैदिक उपासना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वैदिक उपासना में धर्म और संस्कृति की गहरी छाप है और विधि निषेधों की प्रचुरता है।

उपनिषदों की साधना यद्यपि वेद विरोधिनी नहीं है परन्तु संहिताओं में उपदिष्ट उपासना का अपेक्षाकृत एक विकसित स्वरूप उसकी अपनी

---

1 [illegible] presented by the B[illegible] the simple [illegible] of [illegible] of [illegible] M[illegible]tions with [illegible] and [illegible]
—[illegible] page 11

विशेषता है। उपनिषद में एक प्रतिक्रिया और प्रगति है। वेद मानव विकास के प्रारंभिक पृष्ठ हैं और उपनिषद उस विकास की चरम गति है। साधारणतः देखने में आता है कि जीवन विकास का वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैदिक वातावरण स्वस्थ समाज के द्वारा पुष्ट किया गया है। भोग और देवताओं का वभव जीवन में राग द्वेष की प्रेरणा देता है। सुख और आसक्ति की अस्पष्ट उत्तेजना विचार को अधिक अवकाश नहीं देती। परन्तु उपनिषद न्याय और तर्क को भी आश्रय देता है जिसमें मानव बुद्धि और व्यवहार ज्ञान के लिए भी पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ है। उपनिषद की उपासना वेद की आस्था का तिरस्कार नहीं करती अपितु उसको अधिक दृढ़ता के साथ इस आधार पर अधिष्ठित करती है।

साधना और भोग एक साथ चलकर साधारणतः सफलता की पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते। वेद का विकास देवता की अनुकम्पा के आश्रित था। देवता भी मनुष्य की सामग्री एवं सकल्प के लिए लालायित था। इस प्रकार निष्काम अर्चना की पराकाष्ठा वेद में अधिक लक्षित नहीं होती[१४]। डा० राधाकृष्णन के अनुसार यद्यपि वैदिक साधना अधिक आह्लादक थी परन्तु यह साधना निम्न कोटि की थी। भौतिक पदार्थों की स्थूलता के बीच से चिन्तन धारा अग्रसर न हो सकी। साधना और विलास एक-दूसरे से पृथक होकर बंधन और मोक्ष की योजना स्वभावतः कर रहे थे। उपनिषद् में योग और भोग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गये हैं। उपनिषद् में भौतिक पदार्थों के भोग के प्रति एक प्रकार की कठोर अवज्ञा की भावना है। उपनिषद में जगत का क्लेश रूपना का तिरस्कार है। भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में भी सन्देह उत्पन्न हो गया है। राज धर्म और समाज धर्म पालन करनेवाले, कर्म करनेवाले बलिष्ठ भुजदण्डों की क्रिया में भी शिथिलता आ गई है। वैदिक उपासना भी जीवन का एक आवश्यक कर्तव्य था और उपनिषदें उसको अधिक ब्रह्म पूर्वक ग्रहण किए हुए हैं। उपनिषदों के चिंतन क्रम में कर्मकाण्ड प्रतिपादक वैदिक संहिताओं की अपेक्षा अंतर आ गया है। संहिताओं में वस्तु के स्थायित्व और क्षणिकता का समस्या है। उपनिषद स्थायित्व या नित्य को लक्ष्य करके अग्रसर होती है। उपनिषद नित्य सत्य में क्षण क्षण परिवर्तन होते देखना नहीं चाहती। कर्म द्वारा उपार्जित समृद्धि जीवन के छिद्रों की

---

१४ The religion of the Vedas certainly was more joyous but it was at a lower form of religion where thought never penetrated beneath the husk of thing —Indian Philosophy page 116

आश्रम विभाजन जीवन की स्वाभाविक दशाओं का वर्गीकरण है। ये अनेक व्यक्तित्वों को एकीकृत करने के प्रयत्न हैं। एक विशाल समाज के उसकी आवश्यकतानुसार ये विभाजन किये गये थे।

यज्ञ की भी व्यापक परिभाषा की जा सकती है। उपासना की चरम दशा में वह योग साधना के निकट आता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता को व्यक्त करने के लिए वेद में यज्ञ का रूपक प्रस्तुत किया गया है। शरीर रचना के साथ एक स्वाभाविक यज्ञ विधि परिचालित है। इसी प्रकार सामाजिक और राजनतिक विधानों में भी यज्ञ का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक समाज में बौद्धों की नाशशीलता और क्षणिकता एवं दु:खवाद नहीं है। इन्द्र प्रजापति जैसी शक्तिशाली प्रभुताएं वीरता और उत्साह के प्रतीक हैं। कुबेर सम्पत्ति का स्वामी और बृहस्पति विद्या का स्तम्भ है। ये सब उस समाज की समृद्धि के प्रमाण हैं। जीवन में प्रगति के प्रति उत्साह प्रधान है, समाप्ति के प्रति निरुत्साह नहीं। वैदिक आचार यद्यपि भोगवाद के वातावरण में पुष्ट हुआ है परन्तु वह विशृंखल नहीं होने पाया जिससे नियमित वर्णाश्रम धर्म पर व्याघात होता[13]। डा० राधाकृष्णन के अनुसार वैदिक धर्म देवता और मनुष्य के पारस्परिक आदान प्रदान लाभ और हानि का प्रश्न है। उपनिषदों की चिंतनधारा के समक्ष वैदिक साधना अति साधारण कोटि की है। इस भोगवाद की कामना से नैसर्गिक प्रौढ़ता है उत्तेजना का परिणाम नहीं। वैदिक उपासना के अन्तर्गत यद्यपि अनेक देवताओं की प्रतिष्ठा है परन्तु अनेक साधक एक ही तत्त्व के प्रति अभिमुख जान पडते हैं। अनेक देवताओं की ओट में अनेक सम्प्रदायों की रचना होकर वैदिक धर्म में अव्यवस्था नहीं आने पाई। आज भी अनेक भारतीय धर्म व सम्प्रदाय उपासना भेद मानते हुए भी वेद को ही प्रमाण मानते हैं। यह भी वैदिक उपासना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वैदिक उपासना में धर्म और संस्कृति की गहरी छाप है और विधि निषेधों की प्रचुरता है।

उपनिषद् की साधना यद्यपि वेद विरोधिनी नहीं है परन्तु संहिताओं में उपलब्ध उपासना का अपेक्षाकृत एक विकसित स्वरूप उसकी अपनी

13 At th[illegible] t[illegible] of [illegible] se[illegible]ted by the Br[illegible]hmanas the s[illegible]mple rel[illegible]g[illegible]n [illegible] of sacr[illegible]f[illegible] [illegible] tions w[illegible]th [illegible] g[illegible] [illegible] aqu[illegible] [illegible] [illegible] proft a[illegible]d l[illegible]s

—*Ind[illegible]a Ph[illegible]lo[illegible]o[illegible]y page 117*

विशेषता है। उपनिषद में एक प्रतिक्रिया और प्रगति है। वेद मानव विकास के प्रारंभिक पृष्ठ हैं और उपनिषद उस विकास की चरम गति है। साधारणत देखने में आता है कि जीवन विकास का वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वदिक वातावरण स्वस्थ समाज के द्वारा पुष्ट किया गया है। भोग और देवताओं का वैभव जीवन में राग द्वेष की प्रेरणा देता है। सुख और आसक्ति की अनन्य उत्तेजना विचार को प्रश्रय नहीं देती। परन्तु उपनिषद न्याय और तर्क को भी आश्रय देता है जिसमें मानव बुद्धि और व्यवहार ज्ञान के लिए भी पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ है। उपनिषद की उपासना वेद की आस्था का तिरस्कार नहीं करती अपितु उसको अधिक दृढ़ता के साथ दृढ़ आधार पर अधिष्ठित करती है।

साधना और भोग एक साथ चलकर साधारणत सफलता की पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते। वेद का विलास देवता की अनुकम्पा के आश्रित था। देवता भी मनुष्य की सामग्री एवं सङ्कल्प के लिए लालायित था। इस प्रकार निष्काम अर्चना की पराकाष्ठा वेद में अधिक लक्षित नहीं होती[१४]। डा० राधाकृष्णन के अनुसार यद्यपि वदिक साधना अधिक आह्लादक थी परन्तु यह साधना निम्न कोटि की थी। भौतिक पदार्थों की स्थूलता के बीच से चिन्तन धारा अग्रसर न हो सकी। साधना और विलास एक दूसरे से पृथक होकर बंधन और मोक्ष की योजना स्वभावत कर रहे थे। उपनिषद् में योग और भोग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हो गये हैं। उपनिषद् में भौतिक पदार्थों के भोग के प्रति एक प्रकार की कठोर अवज्ञा की भावना है। उपनिषद में जगत की कल्पना का तिरस्कार है। भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में भी सन्देह उत्पन्न हो गया है। राज धर्म और समाज धर्म पालन करनेवाले कर्म करनेवाले बलिष्ठ भुजदण्डों की क्रिया में भी शिथिलता आ गई है। वदिक उपासना भी जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य था और उपनिषदों ने उसको अनिच्छा पूर्वक ग्रहण किये हुए हैं। उपनिषदों के चिन्तन क्रम में क्रमशः प्रतिपाद्य वदिक संहिताओं की अपेक्षा अन्तर आ गया है। आत्माओं में वस्तु के स्थायित्व और क्षणिकता की समस्या है। उपनिषद् स्थायित्व या नित्य का लक्ष्य करके अग्रसर होती है। उपनिषद् नित्य सत्य में क्षणभंगुर परिवर्तन होने देखना नहीं चाहती। कर्म द्वारा उपार्जित समृद्धि आनन्द के स्रोतों के

---

१४ The religion of the Vedas certainly was ... lower form of religion where thought ... the husk of thing
—Indian Philosophy, Vol. I, ...

चिरन्तन पूर्ति नहीं कर सकती। उपनिषद् इस प्रकार की शिथिल प्रश्नावलियों का उत्कट उत्तर है। विकास क्रम को ध्यान में रखकर उपनिषद की स्थितियों का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

कर्म और फल की अनित्यता ने विरक्ति के लिए स्वतः प्रेरणा दी। चिंतन के विकास के साथ परिवर्तनशील एवं क्षणिक पदार्थों में चतुर्दिक एक शाश्वत तत्व की खोज उपनिषदों ने की। वस्तुतः वेद की उपासना का कर्मण्यता एक जिज्ञासा वृत्ति के प्रति अभिमुख होती गई। वैदिक समाज कर्म करके थकान अनुभव कर रहा था। प्राणी को लोक परलोक की अनेक समस्याएं बोझ लग रही थीं। अस्तु, उपनिषद् दर्शन का चिंतन क्रम स्वाभाविक परिस्थितियों में प्रस्तुत हुआ। डा० राधाकृष्णन के अनुसार वैदिक ज्ञान उपनिषदों की अन्तर्दृष्टि की निश्चयता की अपेक्षा अति निम्न कोटि की साधना थी। इससे मुक्ति की आशा नहीं थी अतः उपनिषदों का उद्भावन हुआ।[१४]

उपनिषदें निवृत्ति मार्गी हैं। वेद में अनेक साधनाओं का विस्तार है। वेद जीवन की भौतिक (स्थूल) आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं कर सका किन्तु उपनिषदों ने एक सत्य की खोज में अनेक भौतिक सत्यों की उपेक्षा की। इस उपेक्षा दृष्टि ने वेद की सांसारिक आसक्ति के विरुद्ध अनासक्ति को प्रधानता दी। बाह्य सृष्टि की स्थूल सुन्दरता के अन्तराल में परोक्ष मनोरमता का प्रत्यक्ष उपनिषदों ने किया है। वेद की कामयी प्रेरणा की गति उपनिषदों में मनन की दुरूहता में स्थित हो गई। भाव पर बुद्धि की प्रतिष्ठा हुई। सत्य के निर्णय के लिए तर्क की आवश्यकता प्रतीत हुई। उपनिषदों ने ब्रह्म सत्य को जिसके अधिष्ठान होने से अनेक असत्य भी सत्य प्रतीत हो रहे हैं प्रकाशित किया। उपनिषदों ने मानव विकास की धारा की दिशा में भौतिक अवस्था प्रस्तुत की। डा० राधाकृष्णन के अनुसार आत्मज्ञान भावना की पुनरावृत्ति युग की आवश्यकता थी[१५]। उपनिषदों ने जीवन की आत्मभावना को मौलिकता प्रदान की।

जहाँ तक जीवन और उसके लिए सुख और आनन्द की आवश्यकता का प्रश्न है उपनिषदों ने एक सुविधाजनक योजना की पुष्टि की। अभ्युदय और

१४ It is al o r cogn ed th t th V d kn wl d e i much inf rior to the true d i n l t and will not l bera e u

१५ Th l of sp tuality was the n d of the a e imme sed in f m l sm In th Up nishad we t nd r turn t the fr sh sp ing of the p r tu l l fe —I d an Pl losoph, pp 113 117

नि श्रेयस श्रेय और प्रेय आदि सिद्धान्त एक ही सत्य के दो रूपान्तरों में भेद बतते हैं। वेद में जिस लोक परलोक की स्वीकृति है उसकी वस्तुस्थिति भी उपनिषदों से भिन्न है। वेद अभ्युदय और प्रेय सत्य को दृढता से ग्रहण करता है किन्तु उपनिषद नि श्रेयस और श्रेय को ही लक्ष्य मानती है। लोक परलोकवाद और दुःख सुख प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान वेदान्त से भिन्न है। उपनिषदों का इस ओर अधिक ध्यान नहीं है। वह तो केवल एक चरम सत्य की अनिर्वचनीय सीमायें निश्चित करना चाहती है जहाँ या तो इस प्रकार की समस्यायें ही नहीं उठतीं अथवा जैसे एक ही दीपक से अनेक पदार्थ एक साथ आलोकित होते हैं वैसे ही अनन्त सन्देह और असत्य उस सत्य से स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं। यही उपनिषदों द्वारा प्रतिष्ठित ज्ञान मार्ग है।

प्रस्तुत निबन्ध के इन पिछले पृष्ठों पर हमने वैदिक साधना में उपनिषदों की तुलना करते हुए देखा कि उपनिषदों के चिंतन का विकास अति स्वाभाविक था। वैदिक साधना मनुष्य की बढ़ती हुई जिज्ञासा का उत्तर देने में पूर्णतः सफल नहीं थी अतः उपनिषदों की शाला में साधना ने एक नया मोड़ लिया। यद्यपि इस विकास को हम नितान्त मौलिक नहीं कह सकते क्योंकि उपनिषदों के ज्ञान का आधार ये संहितायें ही हैं। हाँ, चिन्तन को नूतन मोड़ देने का श्रेय उपनिषदों को अवश्य है। इस सम्बन्ध में हम विचार कर चुके हैं।

अब हम उपनिषदों का वर्गीकरण विषय की दृष्टि से करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस वर्गीकरण की आवश्यकता हमें इसलिये प्रतीत हुई कि भारतीय चिंतन पद्धति में अद्वैत दर्शन की स्थिति और स्वरूप का मूल्यांकन इसके बिना सुगम न होगा। उपनिषदें वेद का ही भाग हैं किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड के समकक्ष उपनिषदें ज्ञान को प्रतिपाद्य है। ऐसी स्थिति में इस वर्गीकरण से हम चिंतन के क्षेत्र में ज्ञान के स्वरूप का एक क्रमबद्ध परिचय पा सकेंगे।

वर्गीकरण के सम्बन्ध में उपनिषदों के अनेक अध्येताओं में से यहाँ डा० ड्यूसन रानाडे और डा० राधाकृष्णन् के नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० ड्यूसन द्वारा प्रस्तुत अध्ययन सामग्री की इस प्रसंग में आलोचना की गई है जिसका परिचय हम अगले पृष्ठों पर प्राप्त हो सकेगा। वर्गीकरण के सम्बन्ध में डा० ड्यूसन विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार —

(१) प्राचीन गद्य उपनिषदें —

बृहदारण्यक।
छान्दोग्य।
तैत्तिरीय।
ऐतरेय।
कौषीतकि।
केन।

(२) प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषदें —

ईश।
कठ।
मुण्डक।
श्वेताश्वतर।

(३) प्रश्न —

मैत्रायिणी।
माण्डूक्य ये पिछले युग की उपनिषदें हैं।

(४) संन्यास।

योग।
सामान्य वेदान्त।

वैष्णव, शैव, शाक्त और अन्य छोटी उपनिषदें आथर्वण उपनिषदें कही गयी हैं।[१७]

उपर्युक्त विभाजन को प्रोफेसर रानाडे युक्तिसंगत नहीं मानते। इनके अनुसार गद्यात्मक और पद्यात्मक होने से उपनिषदें प्राचीन या अर्वाचीन नहीं कहे जा सकते[१८]।

डा० ड्यूसन आथर्वण उपनिषदों की सामग्री अथर्ववेद से प्राप्त हुई मानते हैं। इन उपनिषदों की सामग्री में विचार की गम्भीरता उतनी नहीं है जितनी प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त होती है। अथर्ववेद में ऋग्वेद जैसी भक्ति और कोमलता का अभाव है। उसमें धार्मिक प्रौढ़ता और चमत्कार

१७. [illegible] Ph[illegible] pa[illegible]
१८. [illegible] (सं [illegible]) में [illegible]।

तथा रहस्यपूर्ण प्रक्रियाओं की प्रचुरता है। अस्तु इन उपनिषदों में भी चिंतन और भावमयता का अभाव सा प्रतीत होता है।

डा० राधाकृष्णन उपनिषदों की रचना ईसा से ६ शताब्दी पूर्व अनुमान करते हैं। उनके अनुसार वैदिक क्रियाओं की रचना पूरी होने और बौद्धों के आविर्भाव के मध्य का काल उपनिषद् युग है। १००० ई० पू० से लेकर ३०० ई० पू० उपनिषदों का काल है[१६]। ये शङ्कराचार्य द्वारा अनूदित और आलोचित मुख्य उपनिषदें मानते हैं। डा० राधाकृष्णन प्राचीन उपनिषदों को गद्यात्मक कहते हैं।

डा० ड्यूसन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विनिगमक पूर्णत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। विभाजन पर उपनिषदों में वर्णित विषय का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर विदित होता है कि प्राचीन गद्य और प्राचीन पद्य उपनिषद समकालीन अथवा क्रमागत विकास की परिणाम नहीं हो सकती। प्राचीन गद्य उपनिषदों की विशेषताओं और लक्षणों के आधार पर गद्यात्मक और पद्यात्मक विभाजन खरा नहीं उतरता। प्राचीन गद्य उपनिषद वैदिक कर्म भावना की अपेक्षाकृत उत्तरकालीन उपनिषदों के प्रभाव में अधिक है। ये उपनिषद सर्वदा और सर्वत्र संन्यास और पलायन को प्रोत्साहन नहीं देती। ये वर्णित यज्ञादि आश्रम धर्म के पालन और संतति परम्परा स्थिर रखने की आवश्यकता समझती है। अग्नियों के लिए आहुतियों की जीवन पर्यन्त रक्षा का विधान बताती है। इनमें साम गान के प्रति विशेष श्रद्धा और आग्रह है। इसके विरुद्ध प्राचीन पद्यात्मक उपनिषदों में विषय धारा का वेग वर्णिक कर्म पुरस्सर के प्रति उदासीन होता जाता है। गद्यात्मक प्राचीन उपनिषदों में विद्या अविद्या का वैसा संघर्ष पूर्णरूप से दिखाई नहीं देता जैसा पद्यात्मक उपनिषदों में। पद्य के अन्तर्गत प्रकृति दार्शनिक सिद्धान्त की कठोरता अनुभव कर रही है। प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदों में पुनर्जन्म की यन्त्रणाओं का भय दिखा कर संसार की उसकी प्राकृत अवस्थाओं से विरक्त करने का वैसा पुनः पुनः प्रयत्न नहीं है जैसा कि पद्यात्मक उपनिषदों में है। प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप देववाद के सम्पर्क में नहीं है। वहाँ उसका स्वरूप अधिक गम्भीर मनन और भावना की अपेक्षा रखता है। उसकी निर्गुणता में लेशमात्र भी व्यावहारिकता और उपासना सम्बन्धी विकृति का आरोप नहीं जान पड़ता।

१६ The accep d dates for the early Upanishad are 1000 B C Some of the later Upanishads on which Samkara has commented are post Buddhist c and belong to about 400 or 300 B C The oldest Upanishads are those in prose

—*Ind an Pl lo op l page 141*

पिछले पृष्ठों पर हमने डा० ड्यूसन द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों के वर्गीकरण की आलोचना की। उस आलोचना के समानान्तर ही हमने विषय की दृष्टि से उपनिषदों का विभाजन प्रस्तुत किया। चूकि विषय के आधार पर उपनिषदों का विवेचन डा० ड्यूसन ने नहीं किया है, अत यहाँ आवश्यक है कि विषय के आधार पर प्रस्तुत वर्गीकरण पर विचार किया जाय। अत पिछले विभाजन के प्रत्येक खण्ड पर हम यहा विचार करेंगे। इस विवेचन से उपनिषदों के वर्गीकरण की सार्थकता पर प्रकाश पड़ेगा। पिछले पृष्ठों पर हमने विषय की दृष्टि से उपनिषदों को पाँच विभागों में विभक्त किया है। उक्त विभाजन को यहा अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पुन उद्धृत किया जाता है —

अ—वैदिक साधना के अधिक निकट उपनिषद्।
य उपनिषदें वैदिक उपासना के तत्वों से पूर्ण हैं किन्तु इनका अन्तिम लक्ष्य ज्ञान है।

आ—वैदिक साधना के निकट होते हुए भी कुछ उपनिषदें उपासना प्रधान न होकर आचार को प्रमुखता देती हैं।

इ—१—वैदिक साधना के निकट होते हुए कुछ उपनिषद् सृष्टि वर्णन अथवा सृष्टि विकास का वर्णन करती हैं।

२—निवृत्ति ज्ञानवादी उपनिषदें वैराग्य की प्रतिपादक हैं।

—समन्वित साधना प्रधान पूर्वकालीन उपनिषदों में ज्ञान वैराग्य और साहस का समन्वय है। इसलिए उन्हें समन्वित साधन प्रधान कहा है।

४—अद्वैतात्मवादी उपनिषदें आत्मा के स्वरूप का ही विशद निरूपण करती हैं।

५—उत्तरकालीन धर्मसाधना प्रधान उपनिषदों में साम्प्रदायिकता के विभिन्न मतान्तरों के बीज वर्तमान हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण में वैदिक साधना के प्रभाव में आई उपनिषदों को तीन प्रकार में विभाजित किया गया है। इस प्रकार का उपनिषदों का वर्गीकरण के ध्यान में रखा गया है। इनका विवरण आगामी पृष्ठों में किया जा रहा है।

वैदिक साधना के अधिक निकट उपनिषद

(१) वैदिक साधना के अधिक निकट, उपासना प्रधान उपनिषदों में उपासना भेद से अनेक प्रतीकों को ब्रह्म रूप में स्वीकार किया है। ये उपनिषदें वैदिक यज्ञादि की योजना का एक भौतिक रूप स्थिर करती हैं जिसका पर्यवसान ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य में होता है। ब्रह्म का स्वरूप देवताओं से भिन्न है। ब्रह्म शक्ति रूप में गृहीत हुआ है परन्तु वह शक्ति मायिक नहीं है। ब्रह्म का अकन एक विशुद्ध सत्य के रूप में हुआ है। सृष्टि एक प्रत्यक्ष सत्य प्रतीत होती है। इनमें सृष्टि मिथ्यात्व की भावना उतनी प्रबल नहीं है, जितनी ईश्वरत्व की। ईश्वर द्वारा सृष्टि का विधान उपनिषदों की प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक सर्जन में एक ही सत्य की अनुस्यूति प्रवण श्रुतियों द्वारा की गई है। सृष्टि सृजन में सांख्य की प्रकृति और पुरुष की क्रम बद्धता का इन उपनिषदों में अभाव है। यह विशेषता अद्वैत सिद्धान्त के पक्ष में है। सृष्टि काण्ड में यह ब्रह्मवाद की स्पष्ट घोषणा है। जल आकाशादि पंच तत्वों को देवताओं की रूपरेखा दी गई है परन्तु इन देववाद का भौतिकता और ब्रह्म की आध्यात्मिक दिशाओं की विषमता और व्यवधान स्पष्ट है। आचार प्रधान उपनिषदों में लोक व्यवहार की परम्परा की रक्षा करते हुए ब्रह्मचर्यादि द्वारा ज्ञानार्जन करने का लक्ष्य है। वेदाध्ययन देवकर्म पितृकर्म स्वाध्याय और दानादि वेदविहित कर्म भावना की लोकोपयोगी स्थिति इनमें है। इनके अनुसार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ज्ञानार्जन करना चाहिए। अन्न की रक्षा और सदुपयोग एक सामाजिक आवश्यकता की व्यवस्था देता है। ऋग्वेदादि में लोक परलोक भावना का जो रूप उपलब्ध होता है वह भौतिक और स्वर्ग के सुखों के प्रति अधिक सन्नद्ध है किन्तु औपनिषद ज्ञान का लक्ष्य इससे विलग है। लोक धर्म का पालन कामना की प्रेरणा नहीं $_{1}$ हो कर्म का कर्तव्यता ही मानता है। अद्वैत दर्शन के विकास के ये पूर्व रूप सिद्धान्त दृढ़ है। इनका प्रतिपादन खण्डन मंडन का उद्देश्य नहीं रखता। ब्रह्म को एक सत्य सिद्ध करने के ये प्रारम्भिक प्रयत्न हैं। परलोक भावना के साथ वैदिक देवयान पितृयान सिद्धान्त के सम्पर्क में भी ये उपनिषदें हैं। वेदों में पुनर्जन्म सिद्ध करने के पुष्ट प्रमाण नहीं है। परन्तु इन उपनिषदों में यह सिद्धान्त दृढ़ता से विकसित होता प्रतीत होता है। जैसे जैसे कर्म विचार जगत की सामग्री की प्राकृतिक धारणा करता जाता है, उसी गति से पुनर्जन्म में भारतीय दर्शन में एक आस्था उपस्थित करता आता है। उपासना प्रधान, आचार प्रधान और सृष्टिवादी उपनिषदें अद्वैत दर्शन की पुष्टि क

और भक्ति उपासना और कर्म के प्रारंभिक चरण हैं। यहाँ भक्ति साधना के निकट उपनिषदों का विवरण संक्षेप में दिया गया।

निवृत्ति ज्ञानवादी उपनिषद

(२) निवृत्ति ज्ञानवादी उपनिषद् निवृत्ति प्रधान हैं। छान्दोग्य और तैत्तिरीय आदि उपनिषदों की अपेक्षा इनमें वैराग्य तत्व की प्रधानता है। लोक धर्म और उपासना के प्रति इनका विशेष अनुराग नहीं। भक्ति साधना के निकट उपनिषदों में आश्रम कर्मों और आचार की उच्चता, यज्ञ-यागादि का सम्मान अधिक है। इन उपनिषदों में विद्यादि के क्षेत्र में मधु और दहरादि उपासना सम्बन्धी प्रतीक शक्तियाँ हैं परन्तु इन उपनिषदों में विद्या को एक दार्शनिक रूप प्रदान करने के प्रयत्न हैं। विद्या के प्रतिकूल अविद्या की भावना अपना नूतन आकार धारण करती प्रतीत होती है। यह अविद्या लौकिक व्यवहार और पदार्थों के प्रति आरोपित होती जान पड़ती है। ज्ञान अज्ञान के पर्याय रूपों में विद्या अविद्या भावना प्रबल हो रही है। इन उपनिषदों में मोक्ष और बंधन की सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। पुनर्जन्म की समस्या का उदय इसी स्थल पर होता है जिसका अवसान कर्म सिद्धान्त को और अधिक विकसित करना है। कर्म सिद्धान्त को विकसित करने से यहाँ तात्पर्य है कि कर्म को जन्म और मुक्ति का साधन माना जाना। कर्म करके जीव बंधन में पड़ता है और कर्म से मुक्त हो कर जीव बंधन से मुक्त हो जाता है। कर्म का फल भोगने के लिए जन्म होता है परन्तु कर्म के शेष न रहने पर प्राणी योनि धारण नहीं करता[१]। कर्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म में मानो अन्योन्याश्रयत्व भाव स्थापित हो गया है। कर्म एक क्रिया मात्र नहीं है अपितु उसमें मनोवैज्ञानिकता आगन्तुक हो गई है। भौतिकता का मूल्य लोकोपयोगी दृष्टिकोण से न आँका जाता वरन उसका आध्यात्मिकता के प्रकाश में ग्रहण होता है। इन उपनिषदों में प्रकृति का स्वरूप काव्यात्मक नहीं रहा। उसका सम्बन्ध विद्या अविद्या की सूक्ष्मता के साथ तिरोहित हो गया। यहाँ मनुष्य परमात्मोन्मुख हो रहा है। माया तत्व अंकुरित हो कर मुक्ति में व्याप्त होना चाहता है। भक्ति का प्रारंभिक रूप यहाँ पर नहीं। राग और प्रकाश का पुनः स्मरण करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। भक्ति, प्रकृति आदि अनाध्यात्मिक बन गये। सूर्य और स्वर्ग इन उपनिषदों में तुच्छ हो गये हैं। इन उपनिषदों में आनन्द में स्थायित्व

मु० उ० [illegible] ॥

मु० उ० [illegible] ॥

लाने की अभिलाषा ह। कम और कर्माशयो के साधनभूत उपादान हेय हो गये है। इन उपनिषदो म मोक्ष का विधान ह। यह मोक्ष अतीन्द्रिय ह। अस्तु उस तत्व में अलौकिकता ह। किसी तत्व की सत्यता एक मात्र ब्रह्म सत्य से पृथक नही ह। इस प्रकार अद्वैत दशन अपनी प्रौढता धारण कर चुका ह। परा विद्या और अपरा विद्या द्वारा एक सत्य को व्यवहार और परमाथ रूप म विभक्त करने का प्रयत्न किया गया ह। सगुण और निगुण साधनाओ की सीमायें निर्धारित की गई है। अद्वैत सिद्धान्त की प्राप्ति के हेतु ये बातें आवश्यक है —

(१) आत्मा और ब्रह्म म अभेद ह।
(२) आत्मा ही एक मात्र सत्य ह।
(३) आत्मा मन बुद्धि और वाणी द्वारा ग्राह्य नही ह।
(४) आत्मा स्वत ज्ञान स्वरूप ह। ज्ञान साधन नही स्वत साध्य ह।

इन उपनिषदो म सांख्य और योग के बीज वतमान है। सांख्य के अनुसार प्रकृति और सृष्टि के स्वरूपो का आभास इनम मिलता ह। यद्यपि श्रवण मनन आदि प्रक्रियाए प्राचीन गद्य उपनिषदो म मिलती है परन्तु इनका सुचारु व्यवस्थित क्रम उनमे नही ह। इन उपनिषदो म योगादि साधनाए दशन क साथ मिश्रित होने के लिए उत्सुक ह। दाशनिक विचारो म जो उदारता और सवग्राहकता प्राचीन उपनिषदो की सम्पत्ति ह उनका ह्रास इन निवृत्तिवादी उपनिषदो म परिलक्षित होता ह। वैराग्य को पल्लवित करने के लिए दु खवाद की भूमिका प्रस्तुत की जा रही ह। जीव और ब्रह्म म भेद का भी निर्देश ह। जीव और ब्रह्म क बीच अज्ञान और अविद्या के आवरण का भी आभास मिलता ह। जीव में ईश्वर की अपेक्षा हीनता और विवशता क भी प्रमाण है। ईश्वर म नियन्ता और जीव म नियन्त्रित का सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष होता ह। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओ का उपनिषदो म दाशनिक महत्त्व ह। इन अवस्थाओ का वणन प्राचीन उपनिषदो म भी प्राप्त होता ह किन्तु इन उपनिषदो म इनका एक मौलिक रूप है और इनमे सवहिम भाव तथा आत्मत्रय की योजना ह।

पूवकालीन समन्वित साधना प्रधान उपनिषद्

(३) इस वर्गीकरण म कालक्रमबद्धता का उतना ध्यान नही रखा गया जितना विषयक्रम का। विषय क विकास की दृष्टि स श्वेताश्वतर उपनिषद ही मुख्यत इस श्रेणी की उपनिषद है। यह कहना कि श्वेताश्वतर की सपूण वस्तु अन्य प्राचीन उपनिषदो क समान सुदूर अतीत की नहीं जान पडती, उचित

नहीं है। श्वेताश्वतर में अधिक प्राचीन और कम प्राचीन दोनों प्रकार की विचार परम्पराओं का योग हो गया है। इस संयोग पर ध्यान देने से विदित होता है कि प्राचीन सामग्री के प्रकाश में ही यह उपनिषद् एक साधना प्रधान प्रगति कर रही है। इसके अतिरिक्त प्रकृति और माया तत्व की एक नवीन दिशा का संकेत मिल रहा है। इसकी ब्रह्म भावना में ईश्वरत्व सम्मिलित हो रहा है। ब्रह्म की सगुणता और निर्गुणता की सीमायें नितान्त स्पष्ट हो गई हैं। विरक्ति भावना निवृत्ति ज्ञान प्रधान उपनिषदों से भी अधिक विस्तृत है। ब्रह्म में कार्य और कारण भेद अधिक स्पष्ट है। विद्या अविद्या प्रकृति और माया के सम्बन्ध में अधिक है। अद्वैत दर्शन का वह रूप जिससे अद्वैतवाद की सीधी कड़ियाँ जोड़ी जा सकती हैं इसमें झलकता है।

श्वेताश्वतर का चिन्तन अन्य पूर्ववर्ती उपनिषदों से अधिक स्थूल है। जीव और ब्रह्म में भेद का निर्देश है।[१] इसी प्रकार की अभिव्यक्ति यद्यपि मुण्डक में पहले पहल ही हो चुका है परन्तु श्वेताश्वतर का वातावरण अधिक साधनाभिमुख होने के कारण स्वामित्व और अधिकृत सम्बन्धों के प्रति संकेत करता है। साधना की प्रधानता इस उपनिषद् की मुख्य विशेषता है। सांख्य और योग सिद्धान्तों का प्रभाव भी है।[२] योग की साधना प्रक्रियाओं का अधिक दर्शन मिलता है।[३] यद्यपि योगसाधना के अंकुर इसके पूर्ववर्ती उपनिषदों में भी वर्तमान हैं परन्तु वह भावना राजयोग या ज्ञानयोग या ध्यान की ही अवस्थाएं कही जा सकती हैं। इस उपनिषद् में शरीर शुद्धि आदि हठयोग की स्वीकृति का अनुमान कराते हैं।[४] इस उपनिषद् के पूर्व कठ में भी योग की

१ [illegible] समाने [illegible] परिषस्वजाते।
[illegible] [illegible] अभिचाकशीति ॥६॥
[illegible] पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्य[illegible] [illegible]महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

—श्वेताश्वतर । अ० ४

२ [illegible] समुत्थिते [illegible] योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।

—श्वेताश्वतर । २।१२

३ [illegible] [illegible] ब्रह्म [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥

—श्वेताश्वतर । ४।[illegible]

४ [illegible] [illegible] में पुष्ट होता है। [illegible] श्वेताश्वतर
[illegible] [illegible]।

परम्परा वर्तमान है। परन्तु उसमें योग एक आध्यात्मिक साधन के रूप में ही गृहीत हुआ है जरा रोग प्राप्ति से निवृत्ति के लिए नहीं। यहाँ पर योग धर्म का साधन है। श्वेताश्वतर के चिन्तन में उपासना और साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए अधिक व्यग्र भाव है—तत्व प्रकाश के लिए कम। योगादि साधनों की आवश्यकता उपासना सम्पन्नता की पूरक है।

इन उपनिषदों में पुनर्जन्म सिद्धान्त कर्म के आधार पर दृढ़ हो गया है। जन्म मृत्यु आदि अत्यन्त हेय हो गए हैं। श्वेताश्वतर समस्त निवृत्ति प्रधान उपनिषद् है। यही उद्देश्य कठ का भी है। परन्तु कठ की दृष्टि आत्मस्वरूप निरूपण की ओर अधिक है और श्वेताश्वतर की ब्रह्म प्रतिपादन की ओर। कर्म की अवहेलना निःक्षेपण की गई है। प्राचीन उपनिषदों में जीवन का नितान्त वर्जन नहीं था। उनमें जीवन में एक स्वस्थ आनन्द था। परन्तु क्रमशः जीवन और जगत उपेक्षित होते गए। इन उपनिषदों में जगत और जीवन अविद्या के अन्धकार में धंसे हुए हुए से प्रतीत होते हैं। वैराग्य की प्रचण्डता ही इनमें क्रियाशील है। श्वेताश्वतरादि उपनिषदों में श्रद्धादि द्वारा उपासना का उद्भव हैं जो भक्ति के संकेत हैं। भावना और हृदय की आगरूकता के लक्षण हैं परन्तु उनमें हृदयतत्व का उत्तरोत्तर अभाव मिलता जाता है। वहाँ बुद्धितत्व की प्रधानता बलवती होती जाती है। ये लक्षण अद्वैतवाद की भूमिका को प्रस्तुत ही नहीं करते, अपितु उसे पूर्ण भी करते हैं। अद्वैत दर्शन के विकास में ये उपनिषदें बड़े महत्व की हैं क्योंकि आगामी युगों में विचार के साथ धर्म का रूप भी पुष्ट हो रहा था। कर्म में यद्यपि अनास्था उत्पन्न की जा चुकी थी, परन्तु गतिशील जीवन का निष्क्रिय होना कठिन है। अतः कर्मवाद की स्वीकृति निष्कामता की ओट में करनी पड़ी। अब उपासना अपनी कामना पूर्ति का माध्यम मात्र नहीं रह गई। उसका उद्देश्य सत्य का साक्षात्कार करना हो गया। सत्य का साक्षात्कार करने के हेतु योगादि द्वारा ध्यानादि प्रक्रियाओं की महत्ता बढ़ गई। उपनिषदों में यह धारणा दृढ़ है कि साक्षात्कार का स्वरूप ज्ञानमय है। अस्तु उस ज्ञान की जिज्ञासायें उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसाओं में ब्रह्म और धर्म नाम से हुई हैं। इस प्रकार प्राचीन युगों की उपासनाओं के साथ ही ज्ञान को प्रधानता देते हुए योगादि तत्वों का समन्वय इन उपनिषदों में प्राप्त होता है।

अद्वैतात्मवादी उपनिषद

(४) अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवाद की दिशा ज्यों ज्यों निश्चित होती जाती है वैसे ही बिखरे हुए अनेक विरोधी सिद्धान्तों का एक समन्वित

रूप प्राप्त होता है। इस श्रेणी में माण्डूक्य और मैत्रायिणी का उपनिषदों को लिया गया है। विकासक्रम की दृष्टि से ये उपनिषदें उस मात्रा में विचार शृंखला की उदारता में उतनी पुष्ट नहीं हैं जितनी कि एक मत या सिद्धान्त उपस्थित करने में। माण्डूक्य उपनिषद् में प्रणवोपासना का उपदेश है। प्रणवोपासना वैदिक साधना के अन्तर्गत चरम सत्य के निर्वचन का प्रतीक है। प्रायः सभी उपनिषदों ने प्रणव को ब्रह्म वाचक स्वीकार किया है और इसी की उपासना का आदेश किया है। माण्डूक्योपनिषद् में प्रणव केवल उपासना का लक्ष्य नहीं है वरन् उसकी एक दार्शनिक महत्ता भी स्वीकार की है। अ, उ, म् इन तीन मात्राओं के आधार पर एक सत्य को तीन प्रकार से ग्रहण करने का प्रयत्न किया गया है। उपनिषद् दर्शन इतना व्यापक है कि वह एक साथ पूर्णतः ग्रहण नहीं किया जा सकता। अनेक आचार्यों और विचारकों ने उसको अपने मत के अनुसार घुमाव देने के प्रयत्न किये हैं। ऐसी दशा में उपनिषदों के एक निश्चित मत का पता लगाना दुःसाध्य है। ठीक इसी प्रकार माण्डूक्य का निश्चित मत क्या है यह कहना कठिन है। फिर भी मूल उपनिषद के अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि माण्डूक्य ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रमाणित करना चाहता है। परन्तु सृष्टि के अनेक विध तत्त्वों के विरोधी गुणों कर्मों और स्वभावों को एकता में किस प्रकार समेट लिया जाय इस सिद्धान्त को माण्डूक्य ने प्रकाशित किया है। इस एकता के प्रतिपादन से मायावाद अभेदवाद अजातवाद आभासवाद आदि अनेक वादों को प्रेरणा मिलती है। यहाँ तक कि बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद और शून्यवाद आदि ध्वनित होने लगते हैं।

इस उपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ सत्य एक ही सत्य के विभिन्न नाम रूप हैं। एक ही आत्मा विश्व तैजस और प्राज्ञ भेदों से सृष्टि आदि रूपों में विकीर्ण हो गया है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदि भेदों से ही परम तत्त्व अवगत होता है। अद्वैतवाद का प्रतिपादन करनेवाला यह एक ही प्रारम्भिक उपनिषद् ग्रंथ है। साधना और धर्मप्रधान उपनिषदों में योगतत्त्व का उल्लेख हो चुका है। माण्डूक्य में तुरीयतत्त्व की सत्ता और स्वरूप का निरूपण हुआ है जो योग की निर्विकल्पात्मक समाधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। मैत्रायिणी उपनिषद् में इन्हीं उपनिषदों का स्पष्टीकरण है। इसमें आत्मा की उत्पत्ति का कथन है जिससे संसार का आभास प्राप्त होता है।

धर्मानुष्ठान आदि क्रियाओं को मोक्ष साधन स्वीकार न करते हुए आत्मा को शारीरिक व धर्म में आने का कारण माना गया है। इन उपनिषदों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी मलिन हो गया है। उसके स्थान पर अजातिवाद सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा ही ब्रह्म है और जीव एवं ब्रह्म में अभेद है इस बात की पुष्टि करते समय सर्वात्मवाद और एकात्म भावना का एक सुसगठित सिद्धान्त सिद्ध होता है। इन उपनिषदों की सामग्री और विचार पद्धति को देखकर यह सन्देह होता है कि सम्भवतः इनकी रचना बौद्ध कालीन है। बौद्धों की अनित्यता और कर्म एवं वासना के अंकुर इनमें समाहित जान पड़ते हैं। फिर भी ये उपनिषद् वेदसम्मत हैं। स्वप्न सुषुप्ति, मृत्यु आदि पुरुषों का उपन्यास छान्दोग्य में यथा पूर्व हो ही चुका है। अतः इन उपनिषदों के वर्ण्य विषय सर्वथा वैदिक हैं। इन उपनिषदों के मुख्य मत इस प्रकार हैं —

(१) आत्मा ही ब्रह्म है।
(२) आत्मा परमार्थिक तत्व है।
(३) उसकी अनुभूति की अवस्था तुरीय है।
(४) उसका पारमार्थिक स्वरूप वाणी और बुद्धि का विषय नहीं है।

उत्तरकालीन धर्म साधनाप्रधान उपनिषदें

(५) जहाँ अद्वैत साधना का प्रश्न आता है उसमें उत्तर ये उपनिषदें ही हैं। परन्तु इनकी विशेषता यह है कि ये उपनिषदें ज्ञानवादी होते हुए भी अनेक प्रकार की साधनाओं उपासनाओं और प्रतीकों का विधान निवेदन करती हैं। ब्रह्म और जीवत्व में कहीं कहीं ऐसी एकता का प्रतिपादन होता है जिसमें जीव के व्यावहारिक भेद में भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इन उपनिषदों में चिन्तन तत्व अत्यधिक न्यून है।

इन उपनिषदों का विषय जीवन के प्रति प्रचण्ड विरक्ति भावना है। बार बार जन्म लेना और मरना अमर आत्मा के लिए मान्य नहीं है। जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। जीवोपाधि मायोपाधि और इसी प्रकार के वेदान्त दर्शन के इतिहास में उत्तरकालीन मतों और शब्दों का समावेश है। इनमें से बहुत सी उपनिषदें शंकराचार्य के समय और उनके भी पीछे की जान पड़ती हैं। महावाक्यार्थ विचार आभासवाद उपाधिवाद आदि रज्जु-सर्प, वंध्यापुत्र, शुक्ति रजत आदि बौद्ध व मन्त्रवादियों के स्वीकृत दृष्टान्तों और शब्दों का इनमें प्रचुर प्रयोग

हुआ है। प्राचीन उपनिषदों में वर्णित पंचकोश विवेक अवस्था चतुष्टय आदि की पुनरावृत्तियाँ इनमें बहुत हुई हैं।

योगतत्त्व की अनेक विधियाँ गृहीत हुई हैं। चित्तनिग्रह मनोनिग्रह आदि में हठादि योगों के लक्षण वर्तमान हैं। मोक्ष की श्रेणियाँ जीवन्मुक्त विदेह मुक्ति कैवल्यमुक्ति आदि में विभाजित हुई हैं। अद्वैत ज्ञान की परिणति ज्ञान योग में हो गई है। शरीर और संसार घृणास्पद हैं। समाधि द्वारा अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करने के विधान पर बल दिया गया है। ज्ञान और सत्य को व्यवहार परमार्थ और प्रातिभासिक सत्ता में विभक्त कर दिया गया है। नारायण विष्णु राम इत्यादि पौराणिक नामों का ईश्वर या ब्रह्म के लिए प्रयोग हुआ है।

इन उपनिषदों में अद्वैत सिद्धान्त के वे तत्त्व वर्तमान हैं जिन्हें देखकर कहा जा सकता है कि ये उपनिषदें शंकराचार्य के सैकड़ों वर्ष पीछे की हैं। कालक्रम की दृष्टि से ये अधिक पुरानी नहीं कही जा सकतीं।

प्रस्तुत प्रकरण के गत पृष्ठों पर हमने उपनिषदों का वर्गीकरण विषय की दृष्टि से किया था। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि उपनिषदें ही अद्वैत दर्शन का आधार किस प्रकार हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में हम उपनिषदों में उपलब्ध अद्वैत दर्शन के मूल तत्त्वों पर विचार करेंगे।

इन मूल तत्त्वों का वर्णन क्रम इस प्रकार होगा —

(१) अद्वैत ब्रह्म।

(२) ब्रह्म सृष्टि और माया।

(३) आत्मा अथवा जीव और अविद्या।

अब हम इन तत्त्वों का पृथक् पृथक् वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में आगे करेंगे।

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

पीछे दिये हुए क्रम के अनुसार सर्वप्रथम हम ब्रह्म तत्त्व का विवेचन करेंगे। ब्रह्म शब्द शंकराचार्य के अनुसार 'बृह' धातु से व्युत्पन्न हुआ है[२५]। शंकर ने इसमें नित्य शुद्ध आदि अर्थ लिये हैं। डा० ह्यूमन महोदय ने प्रार्थना शब्द से ब्रह्म को सम्बद्ध किया है। उनके अनुसार सोम आदि उपहारों के समान प्रार्थना भी देवता के लिए शक्तिशाली रसायन है। इसी अर्थ में विकसित होकर प्रार्थना की भावना ब्रह्म शब्द की भावना में समाहित हो

---

२५ ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्।
—ब्र० सू० भा० । १।१।१

गई[२६]। डा० राधाकृष्णन ने सवधनशील होनेवाली वास्तविकता को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया है[२७]। ब्रह्म' शब्द का सवर्धनशील सत्यता के सम्बन्ध मे उपनिषदों मे भी प्रमाण मिलते है। कठोपनिषद मे कहा गया है कि ब्रह्म अथवा आत्मा अणु से भी छोटा और महान से भी बड़ा है[२८]। अत इससे सिद्ध होता है कि उपनिषद को भी ब्रह्म के आकार प्रकार के सम्बन्ध मे उसकी अकथनीयता और विराटरूपता दोनो ही अभीष्ट है।

तैत्तिरीय उपनिषद की भृगुवल्ली मे कहा गया है कि भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और कहा कि 'भगवन, आप मुझे ब्रह्म का उपदेश करें।'[२९] वरुण ने कहा कि "जहां मे ये प्राणी उत्पन्न होते है उत्पन्न होकर जिसके आश्रय मे जीवित रहते है और अन्त मे विनष्ट हो कर जिसमे प्रविष्ट होते है उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए वही ब्रह्म है।[३०] भृगु ने तप किया और पिता से कहा कि 'अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना। वरुण ने कहा— ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा कर।'[३१] भृगु ने पुन आकर कहा— प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना। तप का आदेश लेकर भृगु पुन चला गया। पुन लौटकर भृगु ने कहा— मन ब्रह्म है—ऐसा जाना। किन्तु पिता के आदेश से उसको फिर लौटना पड़ा। मन ब्रह्म है—ऐसा जाना विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना और अन्त मे आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना' कहकर ब्रह्म की जिज्ञासा का उक्त उपनिषद मे अन्त होता है।[३२] परन्तु आचार्य शंकर के अनुसार आनन्द ब्रह्म काय है। तैत्तिरीय उपनिषद मे कहा गया है ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है

२६ Like Soma and other gifts the prayer of the poet is offered to the gods By this curious development Brahman the old name for prayer became most usual name for creative principle of the world —*Outlines of Indian Philosophy*

२७ To us it is clear Brahman means reality which grow breths and swells —*Indian Philosophy page 104*

२८ १।२।२०।

२९

३० तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। तैत्तिरीय ३।१।

३१ अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तैत्तिरीय ३।२।

३२ प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्
मनो ब्रह्मेति व्यजानात्
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीय ३।६।

अमूर्त अथवा निराकार ब्रह्म का निर्वचन नहीं हो सकता। उसके सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि जहाँ से वाणी मन के साथ लौट आती है[51] उसी को बृहदारण्यक उपनिषद् में नेति नेति कहा गया है।[52] कठ उपनिषद् में ब्रह्म ज्ञान के सम्बन्ध में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ रुकती हुई कही गई हैं[53]। ऐसी दशा में चित्त तत्त्व को एक निराशा का अनुभव और ब्रह्मसत्ता की शून्यता का आभास मिलता है। परन्तु आत्मसत्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इन्द्रियों द्वारा वह गृहीत नहीं होता वरन् इन्द्रियाँ उसके द्वारा ही ग्रहण करती हैं[54]। बृहदारण्यक उपनिषद् में उसको अदृष्ट द्रष्टा कहा गया है[55]। विज्ञाता की विज्ञप्ति का लोप नहीं होता और दृष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता।[56] जागरित स्वप्न और सुषुप्ति, भूत भविष्य और वर्तमान में भी वह सत्य बाधित नहीं होता। वह सत्य स्वसंवेद्य एवं स्वतः प्रकाशनशील है। उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। अस्तु केनोपनिषद् में कहा है कि वह जाने हुए और न जाने हुए से अन्य है[57]। न वह सत् ही है। न असत् ही[58]। सम्पूर्ण दृश्य का वह स्वतः साक्षी है। उससे कोई अन्य द्रष्टा नहीं है।[59] यही अद्वैत सत्य है जिस पर अनेक वैषम्य सम हो जाते हैं अनेक एक में विलीन हो जाते हैं। अनिर्वचनीय ख्याति में वस्तुतः एक वाद का आरोप भी नहीं हो सकता। परन्तु उपनिषदों में जो एकता प्रतिपादक स्थल हैं वे द्वैत निषेध के निमित्त हैं। वहाँ सृष्टि और नाना नामरूपों की अनेकता है। अनिर्वचनीयता ही अन्त का चरम है। यह अनिर्वचनीयता व्यावहारिक नहीं। उसकी अभिव्यक्ति इन्द्रिय-सुलभ नहीं। अस्तु वह अनुभवगम्यता की अपेक्षा रखती है[60]। वह अनुभव स्वसंवेद्य है। अनुभव की अभिव्यक्ति मन और वाणी द्वारा नहीं हो सकती।

५१ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय। २।६

५२ नेति नेति। बृहदारण्यक। ४।५।१५

५३ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। कठ। ।३।१

५४ यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। केन। १।५

५५ अदृष्टो द्रष्टा। बृहदारण्यक। ३।७।२३

५६ नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते। बृहदारण्यक। ४।३।३०
नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते। बृहदारण्यक। ४।३।२३

५७ अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। केन। १।३

५८ न सत्तन्नासदुच्यते। गीता। १३।१२

५९ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ। बृहदारण्यक। ३।८।११

६० [illegible]। बृहदारण्यक। [illegible]

अमूर्त अथवा निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादन के लिए उपनिषदो मे एक तो ब्रह्म मे विशेषणो का आरोप होता है, दूसरे उसकी अनिर्वचनीयता प्रकाशित करने के लिए निषेध मुख वाक्यो का प्रयोग हुआ है। निर्गुण भावना के साथ भी एक प्रकार की साकारिता सलग्न है। ब्रह्म सत्य अनन्त और ज्ञान स्वरूप है[६१]। बृहदारण्यक उपनिषद मे ब्रह्म विज्ञान एव आनन्द स्वरूप कहा गया है[६२]। मुण्डक उपनिषद में अप्राण, अमन शुभ्र और अक्षर से भी पर कहा गया है[६३]। ब्रह्म प्राणों का भी प्राण चक्षुओ का भी चक्षु श्रोत्रो का भी श्रोत्र, मन का भी मन इस रूप मे भी अंकित हुआ है[६४]। वही उसे मन और वाणी से रहित कहा गया है[६५]। इसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप आत्मा भी निर्गुण है। वह जीव के समान क्षुधा, पिपासा, शोक मोह भय, जरा और मृत्यु के परे है[६६]। ब्रह्मस्वरूप आत्मा की अमरता का सन्देश उपनिषदो की सम्पत्ति है[६७]। आत्मा को कभी कोई मार नहीं सकता। दाहन क्लेश, पीडन आदि का उस पर प्रभाव नहीं है। जीवत्व वस्तुत आत्मा है अत वह भी अमृत तत्व है[६८]। तैत्तिरीय उपनिषद् मे उसे अदृश्य, अनात्म्य अनिरुक्त और अभय कहा गया है[६९]। इस प्रकार निर्गुण आत्मा के भी अनेक गुण और आकार है। ब्रह्म के मूर्त आकारो का निर्वचन हो सकता है। चिन्तन के क्षेत्र मे निराकार अमूर्त रूप ब्रह्म मे अवश्य है परन्तु भावना के लिए वे सावयव और मूर्त स्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म के इस प्रकार दो रूप निश्चित होते है—निर्गुण निराकार और निर्गुण साकार। निर्गुण साकार मे वह सद है वह असद है इस प्रकार का विभेद हो सकता है परन्तु निराकार मे नहीं। निराकार मे भी एक प्रकार की सगुणता परिलक्षित होती है परन्तु जहाँ निर्गुण निराकार का प्रश्न है वहाँ वाणी अथवा बुद्धिगत विनिमय नहीं हो सकता है।

---

६१ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीय। २।१

६२ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यक। ३।९।२८

६३ अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत पर। मुण्डक। २।१।२

६४ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो ये मनो।
बृहदारण्यक। ४।४।१८

६५ अवागमना। बृहदारण्यक। ३।८।८

६६ योऽशनायापिपासे शोक मोह जरा मृत्युमत्येति। बृहदारण्यक। ३।५।१

६७ हन्ता चेन्मन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते ॥ कठ। १।२।१९

६८ जीवापेत वाव किलेद म्रियते न जीवो म्रियते। छान्दोग्य। ६।११

६९ अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयम्। तैत्तिरीय। २।७

अब हम विचार करेंगे कि यदि ब्रह्म अमूर्त है और मन वाणी का अविषय है तो सृष्टि के कर्तृत्व रूप में उसकी उपलब्धि किस प्रकार होती है। इस सम्बन्ध में हमको माया अथवा विवर्त भावना पर विचार करना पड़ेगा। उपनिषदों में माया के समानान्तर इस प्रकार की विवर्त भावनाओं की उपलब्धि होती है। निष्क्रिय ब्रह्म क्रिया या कर्म नहीं करता[७०]। क्रिया ब्रह्म से नहीं होती प्रकृति द्वारा होती है। वह अनादि है निर्गुण और अव्यय है[७१]। जीवादि शरीर में रह कर भी वह आत्मा सत्य निष्क्रिय रह कर पाप पुण्य से सम्लिप्ट नहीं होता[७२]। जिस प्रकार आकाश सर्वगत है किन्तु देहादि विकारों से वह स्पर्श भी नहीं किया जाता उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होते हुए भी जीवादि के कर्मफलों से सर्वथा भिन्न रहता है[७३]। वह जगत्कारण है अतः उसे असत नहीं कहा जा सकता एवं निष्क्रियतादि से मुक्त होने से उसे सत भी नहीं कह सकते। सम्पूर्ण प्राणियों में वह अपनी पूर्णता के साथ वर्तमान है और अनेकत्व द्वारा विभक्त नहीं किया गया[७४]। जैसे आकाश में मेघ आते हैं और आकाश मेघाच्छन्न वस्तुतः होने हुए भी मेघों से लिप्त नहीं होता। किन्तु लिप्त होने की प्रतीति मात्र होती है उसी प्रकार ब्रह्म सत्य में प्रकृति आदि गुणों का आरोप मात्र होता है वस्तुतः गुणों से ब्रह्म विकारी नहीं होता। दूसरे पक्ष में यह प्रश्न होता है कि यदि चेतनायपूर्ण सृष्टि क्रियाएं प्रकृति ही करती है तो ब्रह्म की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?[७५]। गीता से उत्तर मिलता है कि पुरुष प्रकृतिस्थ है और वह उसके द्वारा उत्पन्न गुणों का भोग करता है[७६]। वह प्राकृतिक क्रियाओं का उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता और भोक्ता है[७७]। प्रकृति क्षेत्र है और आत्मा उसका जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है[७८]। एक सूर्य जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी

७० प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। गीता १३।२९

७१ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। गीता १३।३१

७२ यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। गीता १३।३२

७३ न सत्तन्नासदुच्यते। गीता १३।१२

७४ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। गीता १३।१६

७५ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। गीता १३।२१

७६ उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। गीता १३।२२

७७ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गीता १३।२

७८ यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। गीता १३।३३

प्रकार एक ही आत्मतत्त्व सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक भेदों में परिव्याप्त हो गया है[79]।

उपनिषदों में ब्रह्म, ईश्वर, सृष्टि और माया का स्वरूप

यहाँ इन पृष्ठों में हम ब्रह्म सृष्टि और माया का वर्णन करेंगे। उपनिषदों में हम ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए यह निश्चित कर चुके हैं कि एक मात्र ब्रह्म ही मूर्त और अमूर्त रूपों में व्यक्त होकर सृष्टि अथवा जगत के रूपों में उत्पन्न होता है। इसी दृष्टिकोण से साथ हम सृष्टि और ब्रह्म के स्वरूपों का अंकन करेंगे। इस प्रसंग में हम ब्रह्म के स्वरूप को ही सृष्टि के साथ सम्बद्ध करेंगे क्योंकि ब्रह्म ही सृष्टि रूप में विकसित हुआ है। इस विषय में हम इन पृष्ठों पर अध्ययन प्रस्तुत कर सकेंगे।

सृष्टि के साथ माया को सबद्ध करने की आवश्यकता इसलिए है कि शांकर अद्वैत दर्शन में जगत् व्यवहार को मिथ्या कहा गया है और इस प्रकार सृष्टि भी मिथ्यारूप निश्चित होती है। आचार्य शंकर के सिद्धान्तपक्ष में हम विवर्त भावना का परिचय प्राप्त करेंगे। विवर्त भावना के अन्तर्गत माया का मिथ्यात्व निश्चित किया गया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में सृष्टि और माया का स्वरूप हम विवर्त भावना को ही लक्ष्य करके निश्चित करेंगे।

पिछले पृष्ठों पर प्रस्तुत वर्गीकरण में दिए गए प्रारंभिक उपनिषदों में सृष्टिक्रम का वर्णन उनका प्रिय विषय है। वदिककालीन ऐश्वर्य में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की तृप्ति हो चुकी थी। अतः उपनिषद् युग में चिन्तन का उदय मिलना स्वाभाविक था। सृष्टि की जिज्ञासा मन की प्रधान समस्या है। इस सम्बन्ध में आवश्यक यह है कि सृष्टिकर्ता का ज्ञान हो, इसके अतिरिक्त इस सृष्टि का उद्देश्य भी ज्ञात होना चाहिए। सृष्टि की सम्पूर्ण सामग्री का भी विश्लेषण हो। इन सभी प्रश्नों के उत्तर उपनिषदों में वर्तमान हैं[80]। वदिक युग में सृष्टि का मौलिक एक पौढ़ाभाव था परन्तु उपनिषदें उसे एक यथार्थ विश्लेषण देने को प्रस्तुत जान पड़ती हैं। सृष्टि के मूल में दो मोटी बातें हैं। प्रथम तो सृष्टि को एक ही अधिष्ठान पर स्थित

79 अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। श्वेताश्वतर 3।19

80 किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ श्वेताश्वतर 1।1

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति। केन 1।1

होना चाहिए और दूसरे उसका निर्माण क्रियाशील तत्व द्वारा हो। उपनिषदो मे इसी हेतुसृष्टि के एकसक्रिय सत से नानात्मक जगत का विकास कहा गया है। यह सत एक शाश्वत तत्व है। इसका तिरोभाव त्रिकाल मे भी नही होता और प्रलय द्वारा यह बाधित नही होता। इसमे सक्रियता और अनुभूति दोनो ही हैं। यह सत पूर्णत चैतन्य है। यह ईक्षण करता है और नाना प्रकार के नाम रूप और आकारो की उत्पत्ति करता है पुनश्च उनमे प्रवेश करता है।[81] अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन मे ईक्षण और प्रवेश महत्वपूर्ण घटनायें है। एक से अनेक होने के मूल मे ही समस्त सर्जन का भेद अंतर्हित है। एकाकी सत ने जब ईक्षण और प्रवेश किया उसका कोई ऐतिहासिक कालक्रम नही दिया जा सकता। उसका दार्शनिक महत्व ही प्रधान है। उस सत का कोई आकार प्रकार भी नही दिया जा सकता क्योकि जिस समय वह नाम रूपों मे प्रविष्ट हो गया तो उसके सतुलन मे कोई अभाव या वृद्धि नही हुई। सत एक पूर्ण इकाई ही बना रहा।[82]

एक पूर्ण सत के विरोध मे असत् तत्व का भी उल्लेख उपनिषदो मे हुआ है।[83] किन्ही मतवादो ने इस पर भी आपत्ति की है। किन्तु वेदान्त दर्शन मे सत्कार्यवाद की ही प्रतिष्ठा है।[84] छान्दोग्योपनिषद् मे न्यग्रोध फल का दृष्टान्त असत्कार्यवाद का परिहार करता है। बीज के टूट जाने पर तो वृक्ष का प्रत्यक्ष नही होता परन्तु बीज को आवश्यक वातावरण प्राप्त होने पर उसका आकार एक विशाल वृक्ष हो जाता है। इसी प्रकार बीज के अन्तर्गत वृक्ष असत्कार्य ही है जो एक अनुकूल जलवायु की प्रतीक्षा मे रहता है और तदुपरान्त असत ही सत हो जाता है।[85]

प्रारम्भिक उपनिषदो मे सक्रियकर्ता तत्व किसी स्वरूप मे नही अंकित हुआ। उसकी मात्रा और मिति का भी निर्देश नही है। उसमे किसी प्रकार की विविधता नही। ईक्षण का उद्देश्य एक से अनेक हो जाना है। उसको कही

८१ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य ६।२।१
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। छान्दोग्य ६।२।३
८२ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। ऐतरेय १।१।१
अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति। छान्दोग्य ६।३।२
८३ असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तैत्तिरीय २।७
८४ असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। तैत्तिरीय २।६
८५ छान्दोग्य ६।१२।३

सत कहा असत, कहीं मा मा और कहा महा कहा है। वस्तुत ईक्षण कर्त्ता निर्गुण और निराकार है। सृष्टि में प्रवेश होने पर आनन्द की अभिव्यक्ति मष्ट पदार्थों में हुई। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि इस आनन्द के द्वारा ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं[८६]। इस प्रकार एक सत् में ही सक्रियता या चैतन्य के साथ आनन्द की अभिव्यक्ति हो गई।

आकाश वायु तेज, जल और पृथ्वी अपने आकार में आए। प्राण और अन्न की उत्पत्ति हुई[८७]। अण्डज पिण्डज स्वेदज जरायुज उद्भिज अश्व, गौ मनुष्य, स्थावर, जंगम आदि की सृष्टि हुई[८८]। इस प्रकार सम्पूर्ण भौतिक और अभौतिक एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों और भावों का उद्भव हुआ। परन्तु उनके मूल में एक सत् तत्व का ईक्षण और प्रवेश क्रियाशील होकर आनन्दमय हो गया। अस्तु अन्न, प्राण मन आदि से लेकर सम्पूर्ण जीव योनियां और अचल चल इकाइयों में एक ही सत् अनुस्यूत है। यह आनन्द ही सृजन का उद्देश्य और अभिव्यक्ति है[८९]। यही उसका आदि और अन्त है। सम्पूर्ण पदार्थ स्वत सत्य हैं। अद्वैत सिद्धान्त का उपनिषदों में आया हुआ स्वरूप, भौतिकता को नितान्त मिथ्यात्व का रूप नहीं देता। उनमें सत्य की एकता के प्रतिपादन का लक्ष्य अवश्य है, परन्तु हठ नहीं। जगत की परिवर्तनशील मरणशील और निराशापूर्ण परिस्थितियां पलायन को बल नहीं देती। उन सब में एक ही सत्य का दर्शन होता है और एक देवी भावपूर्ण नैसर्गिक पूजा की प्रतिष्ठा है[९०]।

सृष्टि में जड़ और चैतन्य दो प्रकार के पदार्थ है। ईक्षण और प्रवेश स्वत चैतन्य के प्रमाण हैं। जड़ की सत्ता चैतन्य के बिना शून्य सत्ता रह जाती है। परन्तु चैतन्य द्वारा जड़ उद्बुद्ध किया जाता है। चैतन्य की स्थिति जड़ता के द्वारा सघन होती है परन्तु जड़ चैतन्य के बिना निष्क्रिय रह जाता है। यह चैतन्य ही सत्य है[९१]। प्रश्न यह होता है कि इस चैतन्य का निर्माण किसने किया ? ईक्षण और प्रवेश श्रुतियां स्वत प्रमाण है कि उसने नानात्व

---

८६ एषोऽस्य परम आनन्द । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।३२
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।३२

८७ तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली । ? ।

८८ ऐतरेय उपनिषद् ३।१।३

८९ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तैत्तिरीय उपनिषद् ३।६।१

९० सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । छान्दोग्य उपनिषद् ४।८।४।६

९१ सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेति तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ।
तैत्तिरीय उपनिषद् २।६।१

का सृजन किया, किन्तु उसका सृजन किसी ने नहीं किया। मूर्त और अमूर्त अभिव्यक्तियों में उसका प्रवेश होने के कारण ही वह अन्तर्यामी कहलाया[६२]। जिस प्रकार से मकड़ी अपना जाला बनाती है अथवा जिस प्रकार अग्नि के असंख्य लघुकाय स्फुलिंग विस्फूर्जित होते हैं वैसे ही एक इकाई से अनेक इकाइयाँ फूट गईं[६३]। सृष्टि ब्रह्म का कार्य है किन्तु यह कार्य कारण ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण कार्य ब्रह्म कहलाता है। जगतादि कार्यों में परिव्याप्त चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ ब्रह्म ही है। आत्मा को जब शरीरक सम्बन्ध से संयुक्त किया जाता है तब वह विराट् कहलाता है। यह विराट् भी पिण्ड ब्रह्माण्ड सिद्धान्त से अनुस्यूत है। ब्रह्म के इस विराट् स्वरूप का वर्णन मुण्डकोपनिषद् में भी हुआ है[६४]। विराट् का शरीर भौतिक तत्त्वों से बना है। विराट् के शरीर में हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा नाम से प्रतिष्ठित है। विराट् के आकार में हिरण्यगर्भ प्रत्यक्ष होता है। सूत्रात्मा सूक्ष्म शरीर का अभिमानी है। सूत्रात्मा विज्ञान और क्रियाओं को अपने में निहित रखता है और आकार प्राप्त होने पर उन्हें व्यक्त कर देता है। ब्रह्म सृष्टि का सूक्ष्मतम आकार है। वह ब्रह्म विज्ञान और क्रियाओं से सर्वथा रहित है परन्तु सृष्टि सम्बन्ध से उसका निर्वचन हिरण्यगर्भ है। ईश्वर इस प्रकार सृष्टि कारण की वस्तु रूप में हिरण्यगर्भ और विराट् है और उसकी नियामक शक्ति सौन्दर्य और भाव रूप में ईश्वर ही ब्रह्म है। इस प्रकार जीव रूप में आत्मा विश्व है और ब्रह्म के कार्यरूप में विराट् या वैश्वानर। जीव के स्वतन्त्र रूप में आत्मा तैजस है और कार्य ब्रह्म में विश्वात्मा या हिरण्यगर्भ। विज्ञानात्मा जीव में प्राज्ञ और कार्य ब्रह्म में आत्मचेतन ईश्वर है। विशुद्धात्मा जीव में जो तुरीय तत्त्व है वही सम्पूर्ण सृष्टि में कार्य ब्रह्म का अन्तर्गत आनन्द तत्त्व है[६५]।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार कार्य कारण का एक विकास मात्र है। एक ही आत्मसत्य की सत्ता की स्वीकृति दृढ़ता के साथ है। चैतन्य

६२ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य। माण्डूक्य उपनिषद्। ६

६३ यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः। मुण्डक उपनिषद्। २।१।१
यथोर्णनाभिः। मुण्डक उपनिषद् १।१।७

६४ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ मुण्डक उपनिषद् २।१।४

६५ *Indian Philosophy* [illegible] 171।

तत्व एक ही है चाहे वह जीव का हो अथवा आत्मा अथवा जगत का। अस्तु जीवत्व और ब्रह्मत्व समानधर्मी हैं। सृष्टि में जड़ चेतनादि भेद भी लुप्त प्राय होते जान पड़ते हैं। उपनिषदों में अद्वैत सिद्धान्त क्रमशः विकसित होता जान पड़ता है। केवल सत, केवल चैतन्य और केवल आनन्द ब्रह्म के ध्रुवगत उपलब्ध सत्य हैं। ईश्वर और प्रवेश ब्रह्म स्वयं करता है और स्वतः में करता है। सृष्टि क्रम की एक अनादि परम्परा उपनिषदों ने स्वीकार की है। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता के साथ तो सादि और अनादि भेद भी विलुप्त होकर सृष्टि और प्रलय के वैषम्य भी एक मात्र सत्य में विलीन हो जाते हैं।

उपनिषदों की आस्था सृष्टि और उसके कर्ता पर दृढ़ है। इस प्रकार यहाँ न तो ब्रह्म में शून्यता की आशंका है और न सृष्टि में निपट मिथ्यात्व का भय। सृष्टि को ब्रह्म का संरक्षण प्राप्त है और सृष्टि द्वारा ब्रह्म की स्थिति का प्रमाण मिलता है। इसी हेतु माण्डूक्योपनिषद में पाद ही मात्रायें और मात्रायें ही पाद हैं (माण्डूक्य उपनिषद् ८), ऐसा निर्वचन है। प्रणव ब्रह्म सत्य का वाचक है। प्रणव एक ओर तो उपासना के हेतु भक्ति और श्रद्धामय मार्ग प्रस्तुत करके ब्रह्म का साक्षात्कार नियोजित करता है, दूसरी ओर, चिन्तन के लिए उसके अनिर्वचनीय स्वरूप की ज्ञानमयी साधना का विधान करता है। इस प्रकार ओ३म् शब्द ही ब्रह्म वाचक है[९६]। सम्पूर्ण सृष्टि जड़ जंगम में अधिष्ठित प्रणव ही है। सर्जन स्वतः ब्रह्मरूप अथवा प्रणव रूप है[९७]। आत्मा के निर्विकार स्वरूप को वाणी आदि विकारों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है उस समय ओंकार ही ब्रह्म, जगत और जीव तत्व का बोधक है। एक अतीन्द्रिय सत्य को प्रकाशित करने का यही साधन है[९८]। आत्मा का साक्षात्कार ओंकार द्वारा होता है। अन्ततः सिद्धान्त के अनुसार ओंकार केवल आत्मसत्य का प्रतिपादक है[९९]। अकार ही सम्पूर्ण वाक् विस्तार का बीज कहा गया है। हमारा जगत् वैश्वानर आत्मा है इस बात को छान्दोग्य में विशाल कल्पना द्वारा व्यक्त किया गया है[१००]।

---

९६ ओमिति ब्रह्म। तैत्तिरीय उपनिषद् १।८।१

९७ ओंकार एवेदं सर्वम्। छान्दोग्य उपनिषद् २।२३।३

९८ आग्नियेन्। कठोपनिषद् १।२।१५ एतदालम्बनम्। कठोपनिषद् १।२।१७

९९ ओमित्यात्मानं युञ्जीत। मैत्रायिणी उपनिषद् ६।३

१०० अकारो वै सर्वा वाक्। ऐतरेय उपनिषद् २।३।६ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ। छान्दोग्य उपनिषद् ५।१८।२

चिन्तन जगत में ध्यान, ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द स्वरूप वस्तुतः एक हो जाते हैं। वही सत् चित् और आनन्दमय एक तत्व है। सृष्टि के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। वे सभी सिद्धान्त सत्कार्यवाद का तिरस्कार नहीं कर सकते। सत्कार्य स्वतः ईक्षण और प्रवेश द्वारा प्रमाणित कार्य ब्रह्म की महिमा है। असत्कार्यवाद का खण्डन तो उपनिषदों ने स्पष्टतः यह कह कर किया कि असत् से सत् की निष्पत्ति नहीं हो सकती[1]। न्यायादि द्वारा विकास सिद्धान्त माननेवाले असत् से ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। सत्कार्यवाद की छाया में ही ब्रह्मवाद की पुष्टि होती है।

इसी प्रकरण में हम ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए सृष्टि और माया का ब्रह्म से सम्बन्ध निश्चित कर चुके हैं। यहाँ हम माया का वर्णन सृष्टि का हेतु मानते हुए करेंगे। माया को सृष्टि का हेतु इसलिये मानना आवश्यक है कि माया सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि की रचना ईश्वर की माया से होती है। अतः यहाँ हम ईश्वर और माया के स्वरूपों का विचार संक्षेप में करेंगे। इस सम्बन्ध में हम ब्रह्म में माया के विवर्त रूप का भी संकेत करेंगे।

श्वेताश्वतर उपनिषद और गीता अद्वैत दर्शन के उत्तरकालीन उपनिषदों में से हैं। ईश्वर ही वस्तुतः सृष्टि का कारण है। अविद्या और माया का संसर्ग लेकर ब्रह्मवाद में ईश्वरवाद का विकास हुआ है। माया शब्द गीता में अत्यधिक प्रयुक्त हुआ है। यों तो माया शब्द का प्रयोग सृष्टि सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद् में हो चुका है परन्तु उसका आशय मायावाद का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता[2]। माया शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हो कर नानात्व का द्योतक प्रतीत होता है। प्रकृति और माया का एकार्थक प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही ईश्वर को सृष्टि सम्बन्ध में मायी कहा गया है[3]। प्रकृति में माहेश्वर द्वारा त्रिगुण सिद्धान्त प्रतीत है। ईश्वर सगुण और ब्रह्म निर्गुण है। इस प्रकार का गुण सम्बन्धी परम्परा प्रकृति सिद्धान्त भाग विकसित हुई थी[4]। उत्तरकालीन वेदान्त दर्शन में यह

1. कथमसतः सज्जायेत । छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।
2. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । बृहदारण्यक उपनिषद् २।५।१९
3. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१०
   अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।९
4. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । गीता १३।१९
   सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । गीता १४।५

प्रकृति मायावाद द्वारा आरुपित कर ली गई। निगु ण निराकार, निर्विकार ब्रह्म सगुण साकार और सविकार नही हो सकता। एक साथ दो विरोधी भावनाए स्थिर नही रह सकती। प्रकृति और ब्रह्म दो पथक सत्य नही हो सकते। इन समस्याओ के लिए मायावाद म मिथ्यात्व उत्तरोत्तर जागरूक होता गया। प्रकृति सत्व रज और तम गुणो का मिश्रण है। इस प्रकृति और माया पर ईश्वर का अधिकार ह। यहाँ पर प्राचीन उपनिपन्ो का एक मात्र सष्टि तत्व सद मायामय हो गया। ईश्वर की अध्यक्षता म चराचर सष्टि का विधान नियमित हुआ[105]। इसके अनुसार सष्टि तक सम्पूण समष्टि सत्य न रह गया। पूवकालीन उपनिपदो द्वारा सदात्मक पच तत्व प्रकृति के अग बनाये गये[106]। यह प्रकृति अथवा माया ईश्वर के साथ कोई मौलिक घटना नही ह। य भी अनादि तत्व है। ये बहुधा होते हुए भी एकात्मक है। इसी हेतु इह अजा कहा गया ह[107]। ईश्वर म साकारता और मानव आकार भी इन उपनिपन्ो मे प्रतिष्ठित हुआ ह[108]। माया या प्रकृति शक्तिमान ईश्वर की शक्ति और स्वाभाविक क्रियायें है। निगु ण और निराकार ब्रह्म ही शक्तिमत्ता द्वारा अनेक रूपा मे व्यक्त हो गया है। आत्मा या ब्रह्म का यही सत स्वरूप उसकी शक्ति है। माया या प्रकृति के साथ ब्रह्म का स्वरूप सन्निविष्ट है[109]। वही भोक्ता वही भोग्य और उसका प्रेरक भी एक मात्र ब्रह्म सत्य है। इस प्रकार एक ही स्वरूप के तीन आकार प्रत्यक्ष होते हैं। यह अत समुदाय जीव ब्रह्म और प्रकृति है। इस अन वस्तु का केन्द्र एक ही है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखने मे पृथक पथक प्रतीत होते हैं परन्तु ये

---

१०५ मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम। गीता ६।१०
एकांशेन स्थितो जगत। गीता १ ।४२

१०६ भूमिरापोऽनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय म भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गी । ७।४
प्रश्न—उप० १।१६ में माया शब्द का व्यावहारिक अर्थ में प्रयोग हुआ है।
ईशन (शासन) करने के कारण ईश्वर नाम है।
इधो ह वै नामप। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।२।०

१०७ अजामेका लोहितशुक्ल कृष्णा। श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५

१०८ सवत पाणिपाद सवतोऽक्षिशिरो मुखम।
सवत श्रुतिमल्लोको सवमावृत्य तिष्ठति ॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् ।१८

१०९ परास्य शक्तिर्विविधव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च। श्वेताश्वतर उपनिषद्
६।८

सब क्रियायें एक सत्य द्वारा ही सञ्चालित होती है[११०]। ऐतरेय उपनिषद् मे इस जगत सत्य को प्रज्ञान ब्रह्म कहा गया है[१११]। ब्रह्म की सृष्टि अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित है। नाश और उत्पत्ति वस्तुत दो घटनायें नही है[११२]। जिस प्रकार स्वप्न म भी एक मिथ्या सत्य वर्तमान है क्योंकि वहाँ भी स्वप्नद्रष्टा सुख या दुःख का अनुभव स्वप्न म वास्तविकता न होते हुए भी करता है उसी प्रकार सृष्टि की माया और प्रकृति के अन्तराल म अद्वैत परम सत्य अपनी महिमा का अनुभव करता है।

माया का स्वरूप शक्तिमय और सूक्ष्म है। माया जड आधार प्राप्त करके पदार्थ रूप म व्यक्त होती है। सूक्ष्म शक्ति के रूप म होने के कारण माया को अव्यक्त कहते है। अव्यक्त एकधा है किन्तु अव्यक्त व्यक्त होने पर अनेक रूप हो जाता है। उस समय माया रूप म ईश्वर ही अनेक नाम रूपात्मक दृश्य जगत मे व्यक्त होता है। माया ही काय ब्रह्म रूपा एक पूर्ण इकाई है जिसमे अनेक इकाइयाँ विस्फारित होती परिदृश्यमान होती और लीन होती रहती है। परन्तु उनके लीन होने से न तो उसकी वृद्धि होती है और न क्षय। यह माया ब्रह्म के अधीन है[११३]।

जीव का अनात्म जड के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। यह माया के ही कारण है। जीव तो विशुद्ध आत्मा ही है उसम अनात्म जडता का ससर्ग नहीं। आत्मा स्वत एक पूर्ण इकाई है किसी अन्य से उसकी पूर्ति नही होती। वह स्वत द्रष्टा है अन्य उसका द्रष्टा नही हो सकता। जो यह अनात्म के प्रति अथवा अशुचि के प्रति अथवा दुःख के प्रति अनित्य के प्रति नित्य आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा की गति है वह अविद्या के कारण है। अविद्या अज्ञान का पर्याय है[११४]।

---

११० एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेताश्वतर उपनिषद् १।१२
सर्वं [illegible] किञ्चिद् [illegible]। श्वेताश्वतर उपनिषद् ?।६

१११ प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐतरेय उपनिषद् ३।१।३

११२ [illegible]
[illegible]। श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।[illegible]

११३ [illegible]। [illegible] ७।१४
[illegible]। मुण्डक उपनिषद् १।२।८

११४ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं
गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य। मुण्डक उपनिषद् २।१।१०

इसी प्रकरण मे स्थिर किए गए विभाजन के अनुसार प्रारंभिक उपनिषदो म ब्रह्म कारणत्व के अतगत ईश्वरत्व की भावना अधिक पुष्ट नही है । वहाँ वस्तुत सृष्टि के विधान के लिए किसी अ य उपादान की आवश्यकता नही पडी, नाम रूपो की रचना किसी बाह्य उपकरण से नहीं हुई[११५] । उस एक सद के अन्तराल म ही समस्त नाम रूपात्मक वस्तु समष्टि रूप म निहित थी ऐसा प्रतीत होता है । अनन्त नामरूप व्यष्टियाँ एक तत्व के अनेक रूपात्मक विकास है । ईक्षण और प्रवेश प्रमाण हैं कि वस्तुमात्र और वस्तु म काय कारणत्व किसी वषम्य का सूचक नही है[११६] । जिस प्रकार अग्नि के अनेक स्फुलिंगो को उससे पृथक नही कहा जा सकता, अथवा जल अनेक जलतरंगो म आ दो लित होकर चन्द्र बिम्ब अनेकधा नही हो जाते वरन अनेक लहरियाँ ही उस अनेकत्व की उत्तरदायी है, वस ही ब्रह्म वश मे सृष्टि की नामरूपता प्रतीत होने पर भी वह एक मात्र सत्य द्विधा अथवा अनेकधा नहीं होता[११७] । वेदान्त दर्शन के अ तगत प्रतिबिम्बवाद का सूत्रपात यहीं से होता है[११८] । छा दो ग्योपनिषद् म उसे एकधा ही कहा है । बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि उसे एक रूप मे देखना चाहिये । सृष्टि और आत्मा दो सत्य एक साथ नही रह सकते । यथार्थत, यदि दो की स्थिति मान ली जाय तो सृष्टि क्रम की नियामकता म विरोध होगा । अद्व त सिद्धा त किसी द्विधात्मक तत्व को प्रोत्साहन न देकर उसको एकात्मक बनाता है[११९] । विश्व रूप म ब्रह्म की उपासना का विधान द्व तरहित सत्य की सीमाओं म ही नाना रूपता को अवगु ठित कर लेने का उद्देश्य रखता है । उपनिषदो में अवतार भावना का पोषण स्पष्ट रूप से नही हुआ । यह बात प्राचीन उपनिषदो के सम्बन्ध म अधिक दृढता से कही जा सकती है । यों तो उत्तरकालीन अनेक उपनिषदें राम गोपाल, लक्ष्मी दुर्गा आदि की महत्ता और उपासना का निवचन करता हैं किन्तु इनम

११५ नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म । छान्दोग्योपनिषद् ८ । १४ । १

११६ यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा । बृहदारण्यक उपनिषद् २ । १ । २०

११७ एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १२

११८ पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ।
बृहदारण्यक उपनिषद् २ । ५ । १८

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च । कठोपनिषद् २ । २ । ९

११९ यत्र हि द्वैतमिव भवति । बृहदारण्यक उपनिषद् २ । ४ । १४
नेह नानास्ति किंचन । कठोपनिषद् २ । १ । ११

दार्शनिक चिंतनधारा क्षीण होकर साधनात्मक विधाओं की प्रधानता लक्षित होती है। इस कोटि की अनेक विचारणाएं शैव वैष्णव और शाक्त उपनिषदों के अन्तर्गत मिलती है। प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत श्वेताश्वतर में सगुण सिद्धान्त से विष्णु ब्रह्मा और महेश्वर देवताओं की शक्ति का आभास मिलता है। इनमें ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा है। लोकरंजन या लोकरक्षण के लिए इनके अवतार लेने की बात स्पष्ट रूप से श्वेताश्वतर में नहीं कही गई। अवतार भावना का स्पष्ट उद्घोष तो गीता में ही उपलब्ध होता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद में अवतार और ईश्वर की प्रतिबिम्बित रूप में आभास और सम्भावनाएँ वर्तमान है। इस प्रकार अवतार वाद और ईश्वरवाद गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद की चिन्तन परम्परा में उपलब्ध होता है।

विश्व ब्रह्म रूप है सृष्टि स्वतः ब्रह्म ही है। अस्तु नानात्व और वैषम्यादि बाहुल्यवाचक तत्वों का अभाव इन उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। द्वैत के समान एकमात्र आत्मसत्य प्रतीत होते हुए भी एक ही है[१२०]। वह अद्वितीय और अपरिमेय है[१२१]। तत्वान्वेषी के लिए ब्रह्म ही एकमात्र क्षेत्र है। द्वैतात्मक सिद्धान्त ब्रह्म स्वरूप के साक्षात्कार में अन्तराय मात्र है[१२२]। आकाश जल आदि तत्व मन विज्ञान आदि अन्तःसत्य मनुष्य पशु आदि चैतन्य और वृक्ष पवन आदि सम्पूर्ण विषम आकार प्रकार एक के अतिरिक्त दो नहीं और न नानाविध हैं[१२३]। इन सब की व्यावहारिक उपयोगिता मात्र है। इसी हेतु इस अनन्त सृष्टि व्यापार को वाणी का विकार कहा गया है[१२४]। ब्रह्म या आत्मा की अनादि सत्ता के अन्तर्गत अनेक भेद नहीं हैं क्योंकि ये एकमात्र सत्य के रूप है[१२५]।

१२०　स एकधा। छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२
　　नेह नानास्ति किंचन। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।१९
१२१　एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१
१२२　द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।२
　　न तु तद्द्वितीयमस्ति। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२३
१२३　य इह नानेव पश्यति। कठोपनिषद् २।१।१०
१२४　वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४
　　[illegible]। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०
　　[illegible]। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७
१२५　[illegible]। [illegible] १।१०।११

कार्य ब्रह्म के अन्तर्गत सृष्टि तत्त्व का ग्रहण है। ईश्वरत्व भावना का आधार कार्य ब्रह्म में होता है। हिरण्यगर्भादि प्राचीन उपनिषदों के ईश्वर हैं। हिरण्यगर्भ विराट् सूत्रात्मा आदि ईश्वर के रूप माया मिथ्यात्व में लिप्त नहीं होते और उत्तरकालीन उपनिषदों के समान अविद्याप्रधान भी नहीं। ये वैदिक विकासवाद द्वारा निर्धारित सत्य हैं। इनमें तत्त्व चिन्तन की उतनी ही निष्ठा है जितनी आत्मा या ब्रह्म में। व्यावहारिक अनात्मत्व द्वारा ये स्पष्ट नहीं किये गए। पुनर्जन्म सिद्धान्त के क्रमागत विकास के साथ विद्या अविद्या और ईश्वर ब्रह्म में अंगीबद्धता निश्चित हुई है।

ईश्वर सत्ता में सृष्टि स्थिति और प्रलय की अभिव्यक्ति है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म के साथ ये प्राकृतिक अथवा मायिक तत्त्व मात्र हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद ब्रह्म को निष्क्रिय शान्त निष्फल, निरवद्य और निरंजन कहा गया है[१२६]। मुण्डक उपनिषद् में दिव्य, अमूर्त बाह्य और आभ्यन्तर में वर्तमान और जन्म-रहित कहा है।[१२७] बृहदारण्यकोपनिषद् में 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं,' कह कर उसके स्वरूप की अकथनीयता का निर्देश है[१२८]। वहीं पर उसे 'न स्थूल है न अणु है' ऐसा भी कहा है[१२९]। ऐसी दशा में सत्कार्यवादादि श्रुति सम्मत सृष्टि कारणत्व में विरोध आता है। सृष्टि उपनिषद् का एक सत्य है। उपनिषद जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है उसका आधार शुष्क तर्क नहीं। प्रत्यक्ष सत्य को उपनिषद स्वप्न नहीं मानती। अतः निर्गुण ब्रह्म की संस्थापना में बाह्य भौतिकता का चिन्तन क्षेत्र में अभाव होता जाता है। अद्वैत अवस्था में कार्य ब्रह्म तिरोहित हो जाता है। कार्य कारणत्व की अन्योन्याश्रिता का भी तिरोभाव होता जाता है। आत्मा की उपासना का क्षेत्र द्वैतजन्य सृष्टि सम्बन्धों के साथ रहता है। उपासना द्वैत भाव स्थिर करती है और द्वैत अविद्यात्मक है। ज्ञान दशा में उपासना स्वतः ज्ञान ही होती है। ज्ञान का लक्ष्य भी ज्ञान ही होना है। अस्तु निर्गुण ब्रह्म के साथ सृष्टि प्रकृति आदि सत्ता का बहिर्मुखत्व तो निषेध होता जाता है और अभ्यन्तर में इनकी सत्ता अपनी व्यावहारिकता से मुक्त हो कर अभेदात्मक हो जाती है। परिणामवादी सांख्य दर्शन सृष्टि को दूध से दही के समान स्वाभाविक परिणाम मानता है। छान्दोग्योपनिषद् में सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्म सम्भव

१२६ श्वेताश्वतर उपनिषद् ।६।१९
१२७ मुण्डकोपनिषद् । २।१।२
१२८ बृहदारण्यकोपनिषद् ३।९।२६
१२९ बृहदारण्यकोपनिषद् । ३।८।८

गायत्री का एक चरण मात्र कहे गये हैं और उसके तीन चरण अन्तरिक्ष मे अमृत कहे गए है[१३०] । परन्तु ब्रह्मवादी परिणाम को माया के अन्तर्गत स्वीकार करता है। उस समय परिणाम विवर्त में प्रतिफलित होता है। निगुण ब्रह्म निष्क्रियता आदि निषेधात्मक भावनिर्देशन से सद्भाव रूप में अंकित किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार स्वप्न मे रथ घोड़े मार्गादि नही होते परन्तु स्वप्न द्रष्टा उनकी उपलब्धि करता है[१३१]।

प्रस्तुत प्रकरण मे उपनिषदो मे ब्रह्म के स्वरूप का आकलन करते हुए हमने देखा कि ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप स्वीकृत किए गए है। किन्तु, ब्रह्म के मूर्त स्वरूप का निवचन मूर्त की अपेक्षा न्यून है। पुनश्च जहाँ भी मूर्तरूपता प्रतिष्ठित की गई है उसका अन्तर्भाव अमूर्त अथवा निगुण ब्रह्म के साथ कर लिया गया है। इससे प्रकट होता है कि उपनिषद का प्रधान लक्ष्य अमूर्त ब्रह्म ही है। इस धारणा से इस बात का निष्कर्ष निकलता है कि ससार और ससार के अनेक नामरूपात्मक पदार्थ कारण ब्रह्म से समुद्भूत कार्य हैं। इन कार्यों की कारण से पृथक स्थिति नही है। अत सृष्टि के समस्त उपलब्ध और परिदृश्यमान पदार्थ कारण ब्रह्म के ही विभिन्न रूपान्तर है। अन्त सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म सत्य की अखण्ड स्थिति का अनुमान इस प्रकार के उपनिषद वाक्यो से होता है। ऐसे उपनिषद् वाक्यो से ही अद्वैतवाद के आचार्यों ने विवर्त भावना की प्रेरणा प्राप्त की है।

विवर्त प्रतिपादक उपनिषद वाक्यों से यह व्यक्त होता है कि वास्तव दृश्य या पदार्थों की स्थिति वास्तविक नही है। इसी हेतु स्वप्न दृष्टान्त का आश्रय लेकर यह स्पष्ट कर लिया गया है एक जागरित अनेकरूपता मूल मे एक रूप है और प्रत्यक्ष उपलब्ध वविध्य की स्थिति स्वप्नवत है।

यद्यपि उक्त सिद्धान्त को एकनिष्ठा और दृढ़ता के साथ प्रकट करने वाले उपनिषद वाक्य अधिक नही हैं किन्तु ब्रह्म जीव और माया के बीच उपाधिगत भेदो के प्रति सकेत करनेवाले वाक्य अनेक स्थलो पर अवश्य मिलते हैं।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि उपनिषदों में विवर्त भावना का मूल रूप वर्तमान है।

---

१३० तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।६

१३१ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्
रथयोगान् पथः सृजते । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।१०

गत विवचन से यह स्पष्ट है कि उपनिषदो मे सृष्टि सबधी अनेक सिद्धात वतमान हैं। इनमे सद्वाद असद्वाद, कारण काय सिद्धात परिणाम सिद्धात और विवत्त सिद्धात प्रधान है। इन सभी सिद्धातो का उल्लेख उपनिषदो मे हुआ है किन्तु उनमे किसी सिद्धात का अय सिद्धात से विरोध होता नही दिखाई देता। उपनिषदो की विवेचन शली म सूत्ररूपता ही प्रधान है। किसी बात को कह देना ही उपनिषद का लक्ष्य है। किसी बात को लेकर अय सिद्धातो से विरोध प्रदशन करना उपनिषदो का लदय नही है। सृष्टि वस्तुत ज्ञान के क्षेत्र की प्रथम जिज्ञासा है और इस जिज्ञासा के फलस्वरूप ही अनेक स्थलो पर अनेक रूपों मे सृष्टि विषय की प्रतिष्ठा प्रतिपादित हुई है। उपयुक्त सृष्टि विषयक वादो और सिद्धातो के अतिरिक्त सृष्टि कारण रूपता म त्रिगुण्य सिद्धान्त और पचभूत सिद्धात भी उपनिषदो म आविभूत हुए है। इस दृष्टि से बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि प्राचीन उपनिषदो में सद्वाद, असद्वाद और काय कारण सिद्धातो का प्राधान्य है। मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदो म त्रिगुण्य और विवत्त भावनाएँ मुख्य हैं।

उपयुक्त प्रसग के अनुसार यद्यपि सृष्टि सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धात अपने क्षेत्र मे न्यायपुक्त और पूण है किन्तु सिद्धात अथवा विचार को अधिक सरल और बोधगम्य रूप मे प्रस्तुत करने के लिए अनेक दृष्टान्तो उदाहरणो और विचारों एव सिद्धातो का आश्रय लना पडता है। उपनिषदो मे भी सृष्टि सिद्धातो को सुबोध और सुग्राह्य बनाने के लिए अनेक सतुलनो या तुलनात्मक दृष्टियो की योजना की गई है। प्रस्तुत रूपरेखा द्वारा उपनिषद्-सम्मत सिद्धातो को एकरूपता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। सृष्टि सम्बन्धी सिद्धातो का व्यावहारिक पक्ष सृष्टि तत्त्वो में उपलब्ध होता है। सृष्टि के अभिभावक या पूरक अनेक तत्वों का उल्लेख उपनिषदों म हुआ है। उन्हीं तत्त्वो की रूपरचना प्रस्तुत बोधचित्र में अगले पष्ठ पर व्यक्त की गयी है।

इस बोधचित्र में अनेक उपनिषदो के सिद्धातो का एक समन्वित रूप उपस्थित किया गया है। इस विचार स सृष्टि का सद्रूप ब्रह्म अथवा आत्म कारण रूप बृहदारण्यक, छान्दोग्य तैत्त और ऐतरेय उपनिषदों में उपलब्ध होता है। महेश्वर की प्रधानकारणरूपता का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। अव्याकृत व्याकृत माया अविद्या प्रकृति और सत, रज तम तत्त्वो का निवचन भी श्वेताश्वतर और मुण्डक उपनिषदो में हुआ है। पचतत्वों का उल्लेख भौतिकवाद रूप में प्राय सभी उपनिषदो में उपलब्ध होता है। ईक्षण,

गायत्री का एक चरण मात्र कहे गये हैं और उसके तीन चरण अन्तरिक्ष मे अमृत कहे गए है[130]। परन्तु ब्रह्म को परिणाम का माया के अन्तर्गत स्वीकार करता है। उस समय परिणाम विवर्त म प्रतिफलित होता है। निर्गुण ब्रह्म निष्क्रियता आदि निषेधात्मक भावनिर्देशन से सम्भाव रूप म अङ्कित किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार स्वप्न मे रथ घोडे मार्गादि नही होते परन्तु स्वप्न दृष्टा उनकी उपलब्धि करता है[131]।

प्रस्तुत प्रकरण म उपनिषदो मे ब्रह्म के स्वरूप का आकलन करते हुए हमने देखा कि ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप स्वीकृत किए गए हैं। किन्तु, ब्रह्म के मूर्त स्वरूप का निवचन मूर्त की अपेक्षा अल्पतर है। पुनश्च जहाँ भी मूर्तरूपता प्रतिष्ठित की गई है, उसका म तर्भाव अमूर्त अथवा निर्गुण ब्रह्म के साथ कर लिया गया है। इससे प्रकट होता है कि उपनिषद् का प्रधान लक्ष्य अमूर्त ब्रह्म ही है। इस धारणा से इस बात का निश्चय निकलता है कि ससार और ससार के अनेक नामरूपात्मक पदार्थ कारण ब्रह्म से समुद्भूत काय है। इन कार्यों की कारण से पृथक् स्थिति नही है। अत सष्टि के समस्त उपलब्ध और परिदृश्यमान पदार्थ कारण ब्रह्म के ही विभिन्न रूपान्तर हैं। अद्वैत सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म सत्य की अखण्ड स्थिति का अनुमान इस प्रकार के उपनिषद वाक्यो से होता है। ऐसे उपनिषद् वाक्यो से ही अद्वैतवाद के आचार्यों ने विवर्त्त भावना की प्रेरणा प्राप्त की है।

विवर्त्त प्रतिपादक उपनिषद वाक्यो से यह व्यक्त होता है कि चाक्षुष दृश्यो या पदार्थों की स्थिति वास्तविक नहीं है। इसी हेतु स्वप्न दृष्टान्त का आश्रय लेकर यह स्पष्ट कर दिया गया है एक जागरिक अनेकरूपता मूल मे एक रूप है और प्रत्यक्ष उपलब्ध वविध्य की स्थिति स्वप्नवत है।

यद्यपि उक्त सिद्धान्त को एकनिष्ठा और दृढता के साथ प्रकट करने वाले उपनिषद वाक्य अधिक नही हैं किन्तु ब्रह्म जीव और माया के बीच उपाधिगत भेदो के प्रति सकेत करनेवाले वाक्य अनेक स्थलो पर अवश्य मिलते है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि उपनिषदो मे विवर्त भावना का मूल रूप वर्तमान है।

---

१३० तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुष ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवीति । छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।६

१३१ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्य रथान
रथयोगान पथ सजते । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।१

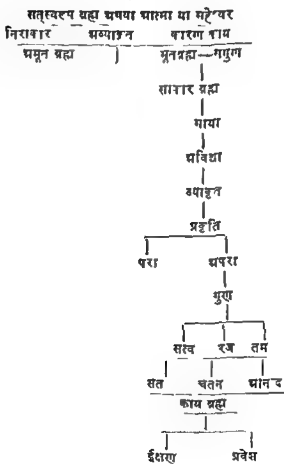
यन विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपनिषदो मे सष्टि सबधी अनेक सिद्धात वतमान हैं। इनम सद्वाद, असद्वाद कारण-काय सिद्धा त परिणाम सिद्धा त और विवत्त सिद्धा त प्रधान है। इन सभी सिद्धातो का उल्लेख उपनिषदों मे हुआ है, किन्तु उनमे किसी सिद्धा त का अन्य सिद्धात स विरोध होता नही दिखाई देता। उपनिषदो की विवेचन शली म सूत्ररूपता ही प्रधान है। किसी बात को कह देना ही उपनिषद का लक्ष्य है। किसी बात को लेकर अन्य सिद्धान्तो से विरोध प्रदशन करना उपनिषदो का लक्ष्य नही है। सष्टि वस्तुत ज्ञान के क्षत्र की प्रथम जिज्ञासा है और इस जिज्ञासा के फलस्वरूप ही अनेक स्थलो पर अनेक रूपो मे सष्टि विषय की प्रतिष्ठा प्रतिपादित हुई है। उपयुक्त सष्टि विषयक वादो और सिद्धान्तों के अतिरिक्त सृष्टि कारण रूपना मे त्रगुण्य सिद्धात और पचभूत सिद्धात भी उपनिषदो म आविभूत हुए हैं। इस दृष्टि से बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि प्राचीन उपनिषदो म सद्वाद, असद्वाद और काय कारण सिद्धा तो का प्राधान्य है। मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदो म त्रैगुण्य और विवत्त भावनाए मुख्य हैं।

उपयुक्त प्रसग के अनुसार यद्यपि सष्टि सम्बधी प्रत्येक सिद्धात अपने क्षत्र म न्यायपुक्त और पूण है किन्तु सिद्धा त अथवा विचार को अधिक सरल और बोधगम्य रूप मे प्रस्तुत करने के लिए अनेक दष्टान्तो उदाहरणो और विचारो एव सिद्धान्तो का आश्रय लेना पडता है। उपनिषदो मे भी सृष्टि सिद्धान्तो को सुबोध और सुग्राह्य बनाने के लिए अनेक सतुलना या तुलना त्मक दृष्टियों की योजना की गई है। प्रस्तुत रूपरेखा द्वारा उपनिषद्-सम्मत सिद्धान्तो को एकरूपता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। सष्टि सम्बधी सिद्धान्तो का व्यावहारिक पक्ष सष्टि तत्त्वो में उपलब्ध होता है। सष्टि के अभिभावक या पूरक अनेक तत्त्वो का उल्लख उपनिषदो म हुआ है। उन्हीं तत्त्वो की रूपरचना प्रस्तुत बोधचित्र में अगले पष्ठ पर व्यक्त की गयी है।

इस बोधचित्र में अनेक उपनिषदो क सिद्धान्तो का एक समन्वित रूप उपस्थित किया गया है। इस विचार से सष्टि का सद्रूप ब्रह्म अथवा आत्म कारण रूप बृहदारण्यक छान्दोग्य केन और ऐतरेय उपनिषदों में उपलब्ध होता है। महेश्वर की प्रधानकारणरूपता का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। अव्याकृत व्याकृत माया अविद्या, प्रकृति और सत रज, तम तत्त्वों का निवचन भी श्वेताश्वतर और मुण्डक उपनिषदो में हुआ है। पचतत्त्वो का उल्लख अविच्छिन्न रूप में प्राय सभी उपनिषदों में उपलब्ध होता है। ईक्षण,

प्रवेश और नामरूपों का कथन छान्दोग्य और बृहदारण्यक में हुआ है। अण्डज पिण्डज आदि योनियों का क्रम ऐतरेय उपनिषद् में वर्णित है।

उपनिषदों के अनुसार सृष्टि क्रम



उपनिषदों में जीवात्म ब्रह्मैक्य का स्वरूप

अब हम उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म के अभेदात्मक स्वरूप का विचार करेंगे। प्रस्तुत प्रकरण में जहाँ हमने उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है वहाँ हमने यह निश्चय किया है कि वस्तुत ब्रह्मसूत्रों में लक्षित ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मसत्ता की अद्वैतसिद्धि का लक्ष्य विषम से सम, अनेक से एक और अविद्या से विद्या की ओर है। सृष्टि प्रकरण में कथित परिणाम व विवर्त आदि भावनाएं भी अभिमतों को प्रकट करती हैं। अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिज्ञानुसार ब्रह्मसत्ता ही एक मात्र सत्य है। जगत और जीव की सत्ताएं ब्रह्मसत्ता में ही अन्तर्भुक्त हैं इस प्रकार की विचारधारा उपनिषदों में यदा कदा उपलब्ध होती है। आचार्य शंकर और उनके मतानुयायी आचार्यों ने विशेषरूप से विवर्तभावना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। ब्रह्म की एक मात्र अद्वितीय सत्ता में अनेक रूपों और विषमताओं की स्वतंत्र उपलब्धि नहीं है। जिस प्रकार कोई मायावी इन्द्रजाल कौशल से अनुपलब्ध पदार्थों की उपलब्धि करा देता है अथवा जैसे स्वप्न में असत स्थानों की सत्ता उपलब्ध होती है उसी प्रकार अनेक जीवों और पदार्थों की अनेकरूपता वास्तविक नहीं है। उत्तरकालीन वेदान्त उपनिषदों में इस उपलब्धि का सम्बन्ध माया मिथ्यात्व व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्ताओं के साथ जोड़ा गया है। किन्तु इन उपनिषदों में विवर्त सिद्धान्त का विस्तृत और विश्लेषणात्मक रूप नहीं मिलता है। ब्रह्म ही सृष्टि और जीव रूप में स्थित है। सृष्टि और ब्रह्म की एकरूपता हम इस प्रकरण के पिछले पृष्ठों पर बता चुके हैं। यहाँ हम जीव और ब्रह्म की एकरूपता का विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में विचार करना इसलिये आवश्यक है कि हम इस प्रबन्ध में शांकर सिद्धान्त में जीव और ब्रह्म की अभेदरूपता का उल्लेख करेंगे। अतः शांकर अद्वैत सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए यह निश्चित करना पड़ता है कि शांकर सिद्धान्त का मूल रूप उपनिषदों में भी वर्तमान है। अस्तु यहाँ हम जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों पर विचार करेंगे।

जीव अथवा आत्मा के स्वरूप ज्ञान को लक्ष्य करके तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चकोशविवेक का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रयोजन अन्न प्राण, मन विज्ञान और आनन्दकोशों के माध्यम से प्रकट होनेवाली आत्मा का निर्वचन है। इसके उपक्रम से यह व्यक्त किया गया है कि आत्मा पञ्चकोशातीत विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है। कोश निराकरणीय हैं किन्तु जीवात्मा

विकाररहित परमात्मा का ही स्वरूप है। इसी हेतु अद्वैतवादी आचार्यों ने आत्मा को पंचकोशातीत माना है। ये कोश स्थूल से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाते हैं। इससे प्रकट है कि शरीर से अधिष्ठित प्राण, मन विज्ञान और आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्द से भी अतीत आत्मा विशुद्ध ब्रह्म का स्वरूप है। जिस प्रकार परब्रह्म अविद्याजन्य विकारों से मुक्त नित्य शुद्ध सत्य स्वरूप है वैसे ही जीवात्मा भी पंचकोशातीत प्रपञ्चरहित परमात्मा का स्वरूप है। उत्तरकालीन वेदान्त उपनिषदों में इस प्रकार की भावनाएं व्यक्त हुई हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पंचकोशों का वर्णन हुआ है। वे पंचकोश ये हैं –

(१) अन्नमय कोश।

(२) प्राणमय कोश।

(३) मनोमय कोश।

(४) विज्ञानमय कोश।

(५) आनन्दमय कोश[१३१]।

इन कोशों से आत्मा आच्छादित है। इस प्रकरण में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए हम कह चुके हैं कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म अथवा आत्मा को इन पंचकोशों से अतीत माना है। इस सम्बन्ध में हम प्रस्तुत प्रबन्ध के आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा अथवा जीव का स्वरूप प्रकरण में पुनः विचार करेंगे[१३२]।

जिस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद में आत्मा को प्रपञ्चजन्य पंचकोशों से अतीत कहा गया है और आत्मा की नित्य शुद्ध ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार आत्मा की व्यावहारिक दशाओं के मूल में एक रस अद्वैत सत्य का दर्शन माण्डूक्य उपनिषद् में किया गया है। प्रणव को आत्मा का वाचक मान कर और उसकी तीन मात्राओं का आधार लेकर आत्मा की व्यावहारिक और पारमार्थिक दशाओं का वर्णन उक्त उपनिषद किया गया है।

माण्डूक्योपनिषद में जीव और ब्रह्म की एकता का कथन करते हुए ओंकार की तीन मात्राओं द्वारा आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन हुआ

है[१३४]। ये तीन अवस्थाए इस प्रकार है —

(१) १ जागृत २ स्वप्न ३ सुषुप्ति।
(२) १ विश्व २ तेजस ३ प्राज्ञ।
(३) १ अकार २ उकार ३ मकार।

माण्डूक्योपनिषद् मे ओ३म शब्द की तीन मात्राओ के आधार पर एक आत्मा को तीन प्रकार से विभक्त किया गया है। आत्मा के चार पाद कहे गए हैं। ब्रह्म अथवा आत्मा का वाचक यह ओ३म ही कहा गया है। आत्मा का प्रथम पाद वैश्वानर है दूसरा तेजस और तीसरा प्राज्ञ है। इसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर, अन्तर्यामी और जीवो की लय स्थिति और जन्म का कारण कहा गया है (मा० उ० ६)। विश्व बहिष्प्रज्ञ तेजस अन्तःप्रज्ञ और प्राज्ञ घनप्रज्ञ है। तुरीय न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है (मा० उ० ७)। तात्विक सत्य की अनिर्वचनीय ख्याति की स्वीकृति यहाँ पर की गई है। वैश्वानर का स्थान जागतिक है (मा० उ० ६)। तेजस का स्थान स्वप्न है (मा० उ० १०)। प्राज्ञ का स्थान सुषुप्ति है (मा० उ० ११)। 'अ' वैश्वानर, 'उ' तेजस, 'म' प्राज्ञ की मात्रायें है। तुरीय मात्रा रहित है और वही आत्मा है (मा० उ० १२)। यह आत्मा ही ब्रह्म है (मा० उ० २)। मात्रा और पादो मे अभेद है (मा० उ० ८)। इसी प्रकार सृष्टि जीव और ब्रह्म भी एक ही सत्य की मात्रायें और पाद मात्र है। आत्मा का चौथा पाद तुरीय माना गया है (मा० उ० ७)।

अब हम उपनिषदो के अनुसार जीव और माया के स्वरूपो का विवेचन करेंगे।

गीता मे जीव को क्षर कहा गया है[१३५]। जागृत स्वप्न और सुषुप्ति व्यवहार इस जीव के निमित्त है। जीवात्मा ही स्वप्न मे विषयो द्वारा पोषित होता है[१३६]। सुषुप्ति अवस्था मे यही जाग्रदावस्था के व्यवहारो से रहित होता है। सुषुप्ति भी एक धारणा है क्योकि उसमे भी सुखानुभूति होती

१३४ माण्डूक्योपनिषद्।
मात्रायमात्मा। माण्डूक्योपनिषद् ३/७
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।
माण्डूक्योपनिषद् ३/६

१३५ क्षर सर्वाणि भूतानि। गीता १५/१६
य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति। छान्दोग्योपनिषद् ८/१०/१

१३६ सुप्त समस्त सम्प्रसन्न स्वप्न न विजानात्येष आत्मेति। छान्दोग्योपनिषद् ८/१०/१

है जिसका प्राणी जग जाने पर भी स्मरण रखता है[१३७]। शरीर और आत्मा के संयोग से जीव संज्ञा होती है। शरीर प्रकृति है, माया है और जीव है भग्न आत्मा। कठोपनिषद् में शरीर को रथ और आत्मा को रथी कहा गया है। प्रकृति छाया है और शुद्ध भगत जीव धूप है[१३८]। गीता का कथन है कि समस्त जीव यन्त्रारूढ़ हो कर माया द्वारा जन्म मरण में घुमाये जा रहे हैं[१३९]। इसी प्रकार माया से भ्रमित हो कर जीव कर्ता हो कर अहंकार द्वारा अपनी आत्मा में कर्तृत्व का आरोप कर लेते हैं[१४०]। मुण्डकोपनिषद् में शोकमग्न पुरुष की कथा भी प्रकृति और माया से सम्बद्ध मानी गई है[१४१]। इस माया का शासक समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करता है? अतः हृदय से अनुत्पन्न विशाल प्रकृति और माया का ही मन है। हृदय में रहने के कारण ही ईश्वर कर्मों का साक्षी, अध्यक्ष और जड़ शरीर में चैतन्य की प्रेरणा देनेवाला है[१४२]। जीव का स्वभाव है कर्म करना, किन्तु कर्म की समाप्ति क्रिया की समाप्ति के साथ नहीं हो जाती। कर्म का रूपान्तर उसके फल में होता है। अतः शुभाशुभ कर्म का फल निश्चित है। फल से नूतन कर्मों की निष्पत्ति होती है। माया या प्रकृति द्वारा विशुद्धात्मा चैतन्य के अभिभूत होने से व्यावहारिक जीव अपने स्वरूप से च्युत हो कर दुःखी होता है। ईश्वर कर्म और उसके फल का साक्षी है[१४३]। इस प्रकार ईश्वर प्राण, जीव, प्रकृति, माया और जड़ चैतन्य का अधिपति है[१४४]। ईश्वर सृष्टि प्रदान का निरीक्षक और नियामक है[१४५]। सम्पूर्ण प्राकृतिक वस्तुओं का ईश्वर ही अन्तर्यामी है।

१३७ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव। कठोपनिषद् १।३।३

१३८ छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति। कठोपनिषद् १।३।१

१३९ भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गीता १८।६१

१४० अहंकार विमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते। गीता ३।२७

१४१ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। मुण्डक उपनिषद् ३।१।२

१४२ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता १८।६१

१४३ कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेताश्वतर ६।११
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। मुण्डक उपनिषद् ३।१।१

१४४ एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः। कौशीतकि उपनिषद् ३।८

१४५ एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।११।

उपनिषदों में माया ईश्वर की प्रकृत शक्ति मानी गई है। ईश्वर को इसकी रचना करने के लिए किसी देश काल की अपेक्षा नहीं अपितु देश-काल इस रचना के अन्तर्गत है। एक ही सत् एक ही चैतन्य और एक ही आनन्द इस माया मयता में आन्त प्रात है। जड में भी माया है और विशुद्ध चैतन्य भी माया से आच्छादित होकर व्यवहार करता है[१४६]। सच्चिदानन्दपदार्थों में जिस चैतन्य का अनुप्राणन है उसे प्राण कहते हैं। प्राणन का अर्थ गतियुक्त या सक्रिय होना है। प्राणन क्रिया करने के कारण ब्रह्म चैतन्य का नाम प्राण है[१४७]। उसने प्राण की रचना की का अर्थ है ईक्षण और प्रवेश की सम्मिलित क्रिया का होना। चैतन्य वस्तुतः दो विरोधी रूपों में नहीं हो सकता। प्राण चैतन्य और ब्रह्म चैतन्य दोनों ही जीव चैतन्य के लिए समान हैं। जीवात्मा के रूप में एक ही चैतन्य जीव के शरीरों और योनियों में प्रविष्ट हुआ[१४८]। प्राण और प्रज्ञा में ऐक्य होने से चैतन्य और प्रज्ञा एक ही तत्त्व सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवमात्र चैतन्य होने के कारण ब्रह्माण्डान्तर्गत विभिन्न इकाइयों एवं रूप की अनेकता कही जा सकती है[१४९]। प्राण शब्द का प्रयोग प्राण वायु के अर्थ में भी होता है। परन्तु प्राण ब्रह्म और प्राण वायु पृथक नहीं किये जा सकते। जीव और ब्रह्म इस प्रकार विषम तत्त्व नहीं हैं। यदि जीव ब्रह्मत्व से नितान्त भिन्न होता तो मुक्त होकर ब्रह्म के साथ एकरूप न हो पाता। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि उस जीव रूप में अवस्थित ब्रह्म ने अपने को ही जाना[१५०]। जीव में भी जन्म मरणादि व्यवहार होने के कारण जीव प्रकृति की व्यष्टि है तथा मायामय है। जीव प्राण है और प्राण ही प्राणों की अन्तिम गति है[१५१]। जीव की शक्ति अल्प ज्ञान अल्प और क्रिया भी अल्प है। जीव में नानात्व पराधीनता और असामर्थ्य प्रत्यक्ष है।

---

१४६ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। गीता ७।१४

१४७ प्राणो ह्यात्म मकाः। छान्दोग्य उपनिषद् ४।३।२
स प्राणमसृजत प्र० ६।४ प्राणन्नेव प्राणोनाम भवति। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७

१४८ अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य। छान्दोग्य उपनिषद् ६।३।२

१४९ यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः। कौषीतकि उपनिषद् ३।३

१५० तदात्मानमेवावेत्। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०

१५१ प्राणा ह्येवैतानि सर्वाणि। छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।३

प्रतिषेध वृत्ति का निश्चय स्थिर रहता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के नेति-नेति निषेध मुख से विधेय का परिहार तो नहीं होता अपितु निषेध के लिए सदा अवकाश बना ही रहता है। विवर्त सिद्धान्त की यह विशेषता है। इस प्रकार निर्गुणत्व में सगुणत्व अपेक्षित है और सगुणत्व से निर्गुणत्व बाधित नहीं होता।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि जो यह समझता है कि मैं अन्य हूँ और यह अन्य है वह तत्त्व की वास्तविकता को नहीं जानता।[१५२] यहाँ भेदबुद्धि के प्रति अज्ञानता का आरोप है। अद्वैत दर्शन का विषय ब्रह्म जिज्ञासा है। ब्रह्मत्व वस्तुतः एक तत्त्व है जिसके स्वरूप का उपपादन सृष्टि और जीव के द्वारा होता है। उपनिषदों में जीव और ब्रह्मत्व के ऐक्य के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में पिता और पुत्र श्वेतकेतु के संवाद से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है[१५३]। जिस प्रकार पूर्ववाहिनी नदियाँ और पश्चिमवाहिनी नदियाँ एक समुद्र में मिलकर एक रूप में हो जाती हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण जीव एक आत्मा में आत्मसात होकर पृथक्त्व से रहित हो जाते हैं। अथवा जैसे वृक्ष के मूल मध्य और अग्रभाग में आघात होने पर वृक्ष जीवित रहता है परन्तु टहनियों के अलग अलग टूटने से वे निष्प्राण हो जाती हैं। उसी प्रकार जीव से रहित होने पर यह शरीर मर जाता है जीव नहीं मरता। अथवा जैसे एक छोटा सा वटबीज वटवृक्ष का ही रूपान्तर है उसी प्रकार यह लघु जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है। अथवा जैसे पानी में लवणखण्ड अपने आकार को लुप्त कर देता है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में तद्रूप होकर नामरूपादि भेदों से रहित हो जाता है। तत्त्वमसि (वह तू है) वाक्य जीव और ब्रह्म के अभेद प्रतिपादक है[१५४]। शंकर अद्वैत दर्शन में यह प्रामाणिक महावाक्य माना जाता है। आत्मा शब्द वैदिक युग में जीव के लिए प्रयुक्त होता रहा। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को ही ब्रह्म कहा है[१५५]। प्रज्ञान ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ अपना सृष्टि और जीव का ब्रह्म

१५२ अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१

के साथ अभेद सम्बन्ध प्रकाशित करते हैं[१५६,१५७]। जीव और ब्रह्म मूलतः एक ही सत्य है। उपनिषद् दर्शन की यह महत्त्वपूर्ण मान्यता है।[१५८]

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म विषय पर दिये गये दृष्टान्तों से जीव और ब्रह्म की एकता प्रकाशित होती है। जल के साथ जल का संयोग और समन्वय जल की एकरूपता को बाधित नहीं कर सकता। सिद्धान्ततः सजातीय तत्त्व ही सम्मिलित हो सकते हैं। ब्रह्म के साथ जीव का सायुज्य इसीलिए सम्भव है कि वे सजातीय हैं। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार नदियाँ समुद्र के साथ मिलकर अपने नामरूप से मुक्त हो जाती हैं[१५९]। उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म ही होता है। जिस प्रकार नमक का डेला पानी में घुल जाने पर पुनः देखा नहीं जा सकता उसी प्रकार चरम सत्य ब्रह्म में अनेक अविद्याकृत भेद विलीन हो जाते हैं[१६०]। उपनिषदों में आत्मसत्य का कोई आकार और रूप नहीं दिया गया। विषमता का प्रश्न साकारिता के साथ ही है निराकार में नहीं अतः आकारों की स्थिति आत्मा का लक्षण नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी से नाना प्रकार के आकार उत्पन्न किये जाते हैं और एक सुवर्ण खण्ड से अनेक आभूषण बनते हैं परन्तु वे आकार मिट्टी और सुवर्ण की परिणतियाँ मात्र हैं[१६१]। आभूषणों में नामरूपों से सुवर्ण की सुवर्णरूपता विकृत नहीं होती।

अब हम विद्या, कर्म और ज्ञान के स्वरूपों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

विद्या का लक्ष्य तत्त्व का स्वरूप निश्चय करना है। विद्या ज्ञान का साधन है। विद्या का उद्देश्य है तत्त्व का प्रतिपादन। यह परा अपरा भेद से दो प्रकार की है। ऋग्वेदादि शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और

---

१५६ प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐतरेय उपनिषद् ३।१।३

१५७ अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०

१५८ अहं ब्रह्म अहं त्वम्। बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।१७

१५९ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ मुण्डक उपनिषद् ३।२।८

१६ छान्दोग्य उपनिषद् ६।१०, १।२

१६१ यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४

ज्योतिष भेद बुद्धि सापेक्ष व्यावहारिक ज्ञान अपरा विद्या है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार संवाद में व्यावहारिक ज्ञान और परमार्थ सत्य के विभाजन प्राप्त होते हैं। उपासना सम्बन्धी मधु, दहर, शाण्डिल्य आदि अनेक विद्याओं का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है[११२]। तत्व की उपलब्धि का साधन विद्या है। अविद्या माया में अन्तर्गत स्थित तत्व है। आत्म अनात्म कर्तव्य जड़ आदि अनेक भेद बुद्धियां में मान्य अविद्या का स्वरूप है। अविद्या वस्तुतः द्विधा भाव में एवं अनेक नामरूपादि के संकल्प विकल्पों से गुम्फित अज्ञान है। अस्तु अविद्या को एक ग्रन्थि कहा गया है[११३]। उस ग्रन्थि का भञ्जन करने वाली ज्ञान स्वरूपा विद्या है। अविद्या और विद्या दोनों ही बुद्धि के विषय हैं। विद्या विषयक बुद्धि को उपनिषदों में गुहा शब्द से अभिहित किया है। अविद्या को ही हृदय ग्रन्थि कहा है। जो क्षेत्र अविद्या का है वही माया का और प्रकृति का है। अविद्या जीव के हृदय में भी है और ब्रह्माण्ड में भी। जीव सम्बन्ध से माया या प्रकृति के आकार में अविद्या आच्छादित है। विद्या द्वारा सन्देह नष्ट हो कर एक मात्र आत्म सत्य का साक्षात्कार होता है और विषयाभिमुखी वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं[११४]।

परा विद्या निर्गुण ब्रह्म का निर्वचन करती है। परा अवस्था में नानात्व का निषेध, द्वैतात्मक भेद भावना का तिरस्कार और जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्रतिपादित होता है। आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। जीव और ब्रह्म वस्तुतः एक ही तत्व है यह विद्या दृष्टि है। कर्म और फल के द्वैत से भिन्न स्वसंवेद्य ज्ञान विद्या का प्रतिपाद्य है। परा विद्या का क्षेत्र लोक समाज एवं धर्म नहीं है। उसका क्षेत्र अनुभव साध्य एकत्व दर्शन है। कारण ब्रह्म की अनिर्वचनीयता में परा विद्या का निवास है।

अद्वैत दर्शन का उद्देश्य है एक मूल सत्य का अन्वेषण करना। सत्य द्विधात्मक नहीं होते। उपनिषदों के अनुसार सत्य को एक या दो आदि संख्याओं में सीमित भी नहीं किया जा सकता। जो भी ऐक्य प्रतिपादन

---

१६२ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक उपनिषद् १।१।५ छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।२-३

१६३ एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।
मुण्डक उपनिषद् ।१।१

१६४ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। मुण्डक उपनिषद् २।२।८

उपनिषदों में हुआ है वह व्यवहारबुद्धि के ग्रहण के उद्देश्य से किया गया है। अनेकता अथवा वैषम्य का विरोध इस अद्वैत सत्य की रक्षा में हुआ है[१६५]।

आत्मा ही वह तत्त्व है जिसे विद्या द्वारा प्राप्त किया जाता है[१६६]। प्रकृति की अनेकता और माया की नामरूपात्मकता आत्मा को आच्छादित किए रहती है। इसी हेतु नित्य आत्मा में अनित्यता प्रतीत होती है। उसके अव्यय स्वरूप में अनेकात्मक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। शरीरादि आकारों की प्रमुखता में अज्ञान अपना आवास बनाये हुए लक्षित होता है। एक का निश्चय नहीं हो पाता। उसमें अनेकता का ग्रहण होता है। अतएव आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन स्थूल शरीरादि अंग ही दिखाई देते हैं। समस्त पदार्थों में एकात्मकता का अनुभव नहीं होता। अविद्या के कारण आत्मा का प्रत्यक्ष भी नहीं हो पाता। सम्पूर्ण विशेषों में एक सामान्य कारण का ग्रहण नहीं होता। अविद्या के कारण देहात्म आदि भाव ही सत्य प्रतीत होते हैं। अविद्या को इसी हेतु मृत्यु का कारण और विद्या को अमृत का साधन कहा गया है। अविद्या कर्म का रूप है। इससे पितलोक मिलता है और विद्या से देवलोक की प्राप्ति उपनिषदों में कही गई है[१६७]। कार्य ब्रह्म की उपासना अविद्यात्मक है। अविद्या का दूसरा नाम विनाश भी है। कर्म अविद्या का अंग है। संभूति और असंभूति दोनों के ज्ञान में विद्या की पूर्ति होती है। दोनों की उपासना एक दूसरे के पूरक है। असंभूति अव्यक्त ब्रह्म का प्रकाशक और संभूति कार्य ब्रह्म का है[१६८]। उपनिषदों में देहात्म भाव को भी अविद्या का रूप कहा गया है। विद्या का लक्ष्य सूक्ष्म सत्य की अनुभूति है। शरीर नहीं आत्मा, कर्म नहीं ज्ञान विद्या के उद्देश्य हैं[१६९]।

ज्ञान साधना श्रेय और निःश्रेयस के निकट है। उसकी वृत्ति वैराग्य परक है। लोकव्यवहार से विलग होकर भिक्षाचरणादि द्वारा केवल आत्म

---

१६५ किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।१२

१६६ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईशावास्योपनिषद् ११

१६७ विद्यया देवलोको। बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।१६
कर्मणा पितृलोको। बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।१६

१६८ विनाशेन मृत्युं। ईशावास्योपनिषद् १४
अन्धंतमः प्रविशन्ति। ईशावास्योपनिषद् १२

१६९ दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति। कठोपनिषद् १।२।४

सा ाररार इसरा उह य है[१०] । नार प्रकृति में समाधाना की प्रमुखता है। पुत्र दारा गृहादि की आसक्ति से भय और दुःख उत्पन्न होता है। यद्यपि लोक परम्परादि को स्थिर रखने के लिए प्रजाओं की उत्पत्ति और रक्षा का उपदेश उपनिषदों में है परन्तु वहाँ उपासना की प्रधानता और लोक धर्म की अनुपेक्षा का भी व्यवहार उपलब्ध है[१०१]। इसके विरुद्ध अनासक्त साधक इन प्रजाओं में आवश्यक नहीं समझते[१०२]। इसके अतिरिक्त वैराग्य प्रधान उपनिषदों में वर्णित कर्म परम्परा के पालन और वर्णाश्रम धर्म का उपदेश है[१०३]। वर्णाश्रम धर्म में भी संन्यास का स्थान महत्त्वपूर्ण है। परन्तु ज्ञान से इन सबकी अपेक्षा नहीं। कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ उससे पाप पुण्य-बन्धन अनिवार्य है। अतः कर्म का स्थान ज्ञान क्षेत्र में अति निम्न है। गीता आदि वर्णित ग्रन्थों के अनुसार कर्म को ज्ञानमय बना कर ही उसका साधक किया जा सकता है। गीता के अनासक्तियोग और कर्मयोग का यही रहस्य है[१०४]। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि ज्ञानी को पाप स्पर्श नहीं करते[१०५]। जिस प्रकार अग्नि में सार के अग्र भाग जल जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

कर्मों द्वारा प्राप्त सुख चिरस्थायी नहीं होता। फल का भोग लेने के अनन्तर पुनः पुनः अनेक योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। इससे भोग और कर्म की शृङ्खला समाप्त नहीं होती है और जीव को शाश्वत शान्ति नहीं मिलती। अनासक्ति द्वारा प्रादुर्भूत ज्ञान से शान्ति प्राप्त होती है[१०६]। कर्म और फल के अन्योन्याश्रय भाव के कारण मृत्यु और जन्म का क्रम अक्षुण्ण रहता है। ज्ञान से मृत्यु बन्धनों से मुक्ति लाभ होने का सन्देश श्वेताश्वतर उपनिषद् देती है[१०७]।

१० भैक्ष्यचर्या चरन्ति । मुण्डक उपनिषद् १।२।११
सन्यास योगात । मुण्डक उपनिषद् ३।२।६

१०१ सा ऽयं मनुष्यलोक पुत्रेणैव । बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।१६

१०२ किं प्रजया सह करिष्यामो । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२

१०३ गृहीभूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्‌यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । जाबालोपनिषद् । ३।४

१०४ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ गीता २।५१

१०५ एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते । छान्दोग्य उपनिषद् ४।१४।३

१०६ तेषां शान्तिः शाश्वतीनेतरेषाम् । कठोपनिषद् २।२।१३

१०७ तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति । श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१५

ज्ञान की प्रतिष्ठा ब्रह्म में है। व्यवहार काल में वह ज्ञान एकनिष्ठ एवं परक है और अनुभव दशा में अनिर्वचनीय। ब्रह्मात्मैक्यभूमा और अन्य का ज्ञान अल्प है[178]। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म का तप ज्ञानमय कहा गया है[179]। उपनिषदों का विश्वास आवागमन पर दृढ़ है। आवागमन की शृङ्खला को भंग करने का ज्ञान ही एक उत्तम साधन माना गया है[180]। देह धारण करना अज्ञान का क्षेत्र है। केनोपनिषद् कहता है कि यदि यहाँ न जाना तो बड़ी हानि है[181]। ज्ञान का फल अमृत है[182]। दुःख शोकादि से मुक्ति पाने का साधन ज्ञान ही है[183]। व्यावहारिक ज्ञान की सीमाएं संकुचित हैं। उस ज्ञान से प्राप्त होने वाली मुक्ति भी अल्पकालीन होती है। जन्म मृत्यु का दुःख उपनिषदों में दुःसह माना गया है। इससे मुक्त होने के लिए ज्ञान साधना का विधान है[184]। ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि अनिर्वचनीयता का लक्ष्य तात्विक ऐक्य है। उस ऐक्य ज्ञान से शोक और मोह नष्ट हो जाते हैं[185]।

कर्म और ज्ञान दो भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं। ज्ञान साधना में कर्म की अपेक्षा नहीं। कर्म भेद व्यवहार और आसक्ति विरक्ति से सम्बन्धित सत्य है परन्तु ज्ञान का उद्देश्य है एकत्व और आसक्ति का वहाँ पूर्णतः तिरस्कार है। कर्म और फल की अन्योन्याश्रितता में एक परम्परा की परिपालना है जिससे कामना और वासना का क्रम नहीं टूटता। अस्तु वैराग्य प्रधान उपनिषदों में वैराग्य की ही महत्ता स्वीकृत की गई है। ज्ञान में समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं[186]। ज्ञान की दृष्टि में कर्म अविद्या का अंग है[187]। अज्ञान प्रकृति और माया द्वारा प्रसूत है। प्रकृति और कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है[188]।

---

१७८ यत्र नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्। छान्दोग्य उपनिषद् ७।२४।१

१७९ यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्डक उपनिषद् १।१।९

१८० तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।३।१४

१८१ न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। केन उपनिषद् २।५

१८२ ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।१४

१८३ तरति शोकमात्मवित्। छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।३

१८४ तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः। प्रश्न उपनिषद् ६।७

१८५ तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। ईशावास्योपनिषद् ७

१८६ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। गीता ४।३७

१८७ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। गीता ५।१५

१८८ प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। गीता ३।२८

ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप सर्वात्म भाव का है। उपनिषदों का सर्वात्म भाव वस्तुतः एकात्मभाव है[१८९]। सर्वात्मभाव एक मानववादी ही नहीं वरन् सर्वजीववादी सिद्धान्त है। गीता में कहा गया है कि कुत्ता, चाण्डाल पण्डित सभी में समदृष्टि ज्ञानी स्थापित करते हैं[१९०]। सब प्राणियों में साम्य का दर्शन करना गीता के समत्व योग से निरूपित किया जाता है[१९१]। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में समस्त भूतों में एक ही सत्य को उपस्थित होना कहा गया है[१९२]। यह सर्वभूतात्मभाव अनेक में एक और विषम में समत्व दर्शन का लक्ष्य रखता है। सर्वात्मभाव अद्वैत ज्ञान का अन्तर्गत आचार दर्शन है[१९३]।

बृहदारण्यकोपनिषद् में साधना के अन्तर्गत श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधन कहे गये हैं। शान्त, दान्त, उपरति, तितिक्षा और मुमुक्षुत्व साधना तत्त्व का भी उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में है। उपनिषदों की साधना अन्तर्मुखी अधिक है। उपासना का प्रयोग ज्ञान के पूरक रूप में हुआ है। चिन्तन की उत्कृष्टता के समकक्ष बाह्य उपासनाओं को नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनसे चित्त की शुद्धि मात्र होती है, सत्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। इसीलिये बाह्य साधनादि को बृहदारण्यकोपनिषद् में एषणा मात्र कहा गया है[१९४]। तैत्तिरीयोपनिषद में तप के द्वारा ब्रह्म को जानने का आग्रह है[१९५]। श्रवणादि साधनाएं योग और चिंतन दो प्रकार की प्रणालियों की पोषक हैं। आत्मा की उपासना और अनुसंधान अद्वैत साधना का उद्देश्य है।[१९६] बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के दर्शन अथवा साक्षात्कार का विधान भी है[१९७]। इन उपनिषदों में आदित्यादि प्रतीकों द्वारा भी आत्मोपासना का नियम कहा गया है। अद्वैत दर्शन के अनुसार उपासना का लक्ष्य

१८९ यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत। बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१४
१९० शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः। गीता ५।१८
१९१ समं सर्वेषु भूतेषु। गीता १३।२७
१९२ यस्तु सर्वाणि भूतानि। ईशावास्यो उपनिषद् ६
१९३ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। गीता ६।२९
१९४ उभे ह्येते एषणे एव। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२
शान्तो दान्त। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२३
१९५ तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तैत्तिरीय उपनिषद् ३।२।१
आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य। बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।६
१९६ आत्मेत्येवोपासीत। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७
१९७ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य। बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।५

प्रधान नही है। चितन मनन और तत्वानुभूति से भी आत्म-साक्षात्कार होता है। अस्तु उपासनाओ को एक साधनात्मक रूप ही देना चाहिए दाशनिक नही।

प्रस्तुत प्रकरण म हमने यह निश्चय किया है कि वदिक कमकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप उपनिषदा के ज्ञान की स्वीकृति भारतीय साधना और दशन म हुई है। इस प्रकरण म किय गये उपनिषदा के वर्गीकरण म हमने विषय के विकास को ध्यान मे रख कर यह विभाजन प्रस्तुत किया है।

अद्व त तत्वो का विवेचन करत हुए हमने ब्रह्म सष्टि ब्रह्म और माया, जीव और माया और तदुपरात विद्या कम और ज्ञान क स्वरूपा का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया है।

अपने विवेचन म हमने यह ध्यान रखा है कि इस प्रकरण म वर्णित तथ्य शाङ्कर अद्व त सिद्धाता के अनुकूल रह। इन तथ्या का वणन हम यथा स्थान सविस्तार इस निबध के आगामी पष्ठा पर करगे।



म शून्यता का आरोप स्पष्ट है। शून्यवादियों ने शून्यवाद में समय जाति प्रजाति का प्रश्न नहीं उठता[१]। किन्तु डा० राधाकृष्णन् का मत है कि शून्य नितान्त अभाव का प्रतिपादक नहीं है। शून्य व्यावहारिक सत्ता का निषेध है[११]।

शून्यता के महत्व के सम्बन्ध में माध्यमिक सूत्रों में उसे लौकिक व्यवहारों का सद्भाव और धर्म अधर्म का प्रतिपादक कहा गया है[१]। डा० राधाकृष्णन शून्यता को स्थायी सिद्धान्त और व्यावहारिक निष्पत्ति का हेतु मानते हैं[१३]। प्रश्न यह होता है कि शून्य शब्द जब किसी तथ्य का निर्वचन ही नहीं करता तो उसकी अपनी क्या आस्था है? इस विषय में शून्यवाद का इंगित ऐसा प्रतीत होता है कि वह वस्तुतः पदार्थों का अभाव नहीं मानता। प्रत्युत उसके मतानुसार उन पदार्थों की स्थिति और वास्तविकता का निर्देश बुद्धि और वाणी का विषय नहीं बन सकता[१]। शून्य जिस तथ्य की संज्ञा है वह किसी पारमार्थिक सत्य का प्रकाशन नहीं करता। केवल व्यवहार बोध के लिए शून्य शब्द का प्रयोग होता है। शून्य शब्द प्रतीत्यसमुत्पन्न जगत और जागतिक पदार्थों को व्यक्त करने का माध्यम कहा जा सकता है[१४]। विग्रह व्यावर्तनी नामक ग्रंथ में कहा गया है कि जो प्रतीत्य भाव से ग्रहण होता है उसे ही शून्यता कहते हैं[१५]। शून्य भावना को सम्भवतः चार कोटियों के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता। निष्प्रपंच निर्विकल्प अभग अनुत्पन्न अविरुद्ध अनुच्छेद अनादवत आदि विशेषणों द्वारा शून्य का निर्वचन होता है। यह शून्य ही पारमार्थिक सत्य है[१]। शून्यवाद के धार्मिक साहित्य में यह परमार्थ सत्य ही तथागत धर्म नाम से जाना जाता है। स्वहित और परहित में यह शून्य ही आधार है। तथागत धर्म का आश्रय लिये बिना

१　इदमेवमिति हि...तेषु व्याख्य बुद्धैर्विशोधितं।
　　शून्याश्च क्षणिका भावा नि स्वभावा ह्यजातिका॥ लंकावतार सूत्र सगाथक ७०१।
११　By Suny therefore the Madhayamik does not mean absolute nothingness but only relative being
　　Indian Philosophy
१२　शून्यता फल सद्भावम धर्म अधर्म च।
　　सर्वसंव्यवहाराश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे॥
　　　　माध्यमिक सूत्र २४।६
१३　*Indian Philosophy* page 68
१४　शून्यमिति न वक्तव्य मशून्यमिति वा भवेत।
　　उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥
१५　य प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता तत्प्रकाशते॥　　माध्यमिक सूत्र
१६　यश्च प्रतीत्य भवति भावो ननु शून्यता सैव।　　विग्रह व्यावर्तनी ६७
१७　कविराज पंडित गोपीनाथजी का वेदान्त अंक में लेख।

स्वहित और परहित में गति नहीं होती[१८]। इस प्रकार शून्याद्वैत में सव शून्यत्व अनिर्वचनीयत्व प्रतीत्यसमुत्पत्ति और अनेक के अनन्तर ऐक्य की उपलब्धि होती है। इस प्रकार शून्यवाद या बौद्ध दर्शन की ज्ञान प्रतिपादक चिन्तन प्रणाली है।

जागतिक सत्ता प्रतीत्य समुत्पन्न है। शून्यवाद के अनुसार समुत्पत्ति शून्य धर्मा प्रतीत होती है। इस वाद में भी जगतोत्पत्ति के सम्बन्ध में विज्ञानवादी सिद्धान्त का स्वीकृति हुई है। परन्तु वसुबन्धु की विंशिका और त्रिंशिका के आधार पर अद्वैत वक्तव्य को शून्य नहीं माना जा सकता[१९]। शून्यवाद के अन्तर्गत विज्ञानवादी वक्तव्य सिद्धान्त शून्य भावना में परिणत होता प्रतीत होता है। माता पिता पुत्रादि सभी प्रतीत्य समुत्पन्न हैं और विज्ञान द्वारा प्रतीत होने के कारण में सब वास्तव आभास कहे जा सकते हैं[२०]। प्रतीत्य समुत्पादवाद के अनुसार ही धर्म अथवा पदार्थ की सत्ता शून्यता में परिणत होती है। शून्यता द्वारा उत्पन्न सत्ता अजातिवाद का सूत्रपात करती है। कोई वस्तु न स्वतः उत्पन्न होती है और न दूसरे के द्वारा। हेतु और प्रत्यय द्वारा उत्पन्न पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हो सकते क्योंकि हेतु और प्रत्यय स्वतः उत्पत्ति शून्य हैं। हेतु प्रत्यय आलम्बन और अनन्तर इन चार सम्बन्धों से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति मानी जाती है[२१]। स्वभाव से प्रत्ययादि में भाव वर्तमान नहीं होते। प्रत्यय से प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते। सदसत्सत् धर्मयुक्त हेतुप्रत्ययादि की स्थिति भी सर्वसंगत प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार अनालम्बन धर्म में आलम्बन नहीं हो सकता। आनन्तर्य से युक्त प्रत्ययादि की भी निष्पत्ति नहीं हो सकती। अस्तु उक्त चार सम्बन्धों से रहित न प्रत्यय ही हो सकते हैं और न उनके फल ही। इसी प्रकार फल से भी हेतु आदि की निष्पत्ति नहीं हो सकती। माध्यमिक सूत्रों में इसी प्रकार की तार्किक युक्तियों द्वारा अजाति का सिद्धान्त पुष्ट किया गया है। इस प्रकार अजातिवाद का सिद्धान्त शून्यवाद में अन्तर्भुक्त हो गया है[२२]। विज्ञानवादी का बाह्यार्थ की उत्पत्ति मानसिक क्षेत्र से बाहर प्रतीत नहीं

१८ वही।

१९ Vasubandhu in Vimsika and Trimsika Philosophical Essays

२० प्रतीत्य माता पितरौ यथोक्तः पुत्र सम्भवः।
चक्षुरूपे प्रतीत्यैवमुक्तो विज्ञान सम्भवः। माध्यमिक सूत्र ३।७

२१ चत्वारः प्रत्यया हेतुरचालम्बनमनन्तरं। माध्यमिक सूत्र १।२

२२ द्रष्टव्य० प्रकरण। १।
कारिका माध्यमिक। २।३।५।७।८।६।१०।१२।१३।

होती। परन्तु शून्यवाद में उस मायिक सत्ता का भी स्थान नहीं रह गया है। शून्यवाद का अजाति सिद्धान्त मात्र शून्य है। कारण में कार्य की उत्पत्ति भी शून्यवाद नहीं मानता। इसलिए की उत्पत्ति भी नहीं होती। न कार्य में कारण का सादृश्य होता है और न कारण में कार्य का ही। इस वन्ना गन्ना और सस्कार सभी भाव किसी कारण के कार्य नहीं हैं। इसी प्रकार निष्कारण होकर भी किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती[२३]। इस प्रकार नाना प्रकार के पदार्थ विकल्पमात्र है। तत्त्वदर्शी इन्हें ग्रहण नहीं करता[२४]। विग्रह और परिहार में एव व्याख्यान और उपालम्भ में शून्यता का महत्त्व प्रतिपादित है[२५]। ससार में शून्यता का आरोप किया गया है। कार्य और कारण के समान ही पूर्व और अपर की कोटियाँ है। ऐसा भी देखा जाता है कि पूर्व और अपर दोनों अन्योन्याश्रित होकर विकास में एक क्रम उपस्थित करती है। इनमें कारण पूर्व है और उसका कार्य अपर। शून्यवाद के अनुसार पूर्व और अपर कोटियाँ भी नहीं है[२६]। इसलिए शून्यता को सब दृष्टियों का निराकरण करने वाला कहा गया है[२७]। शून्यता के सम्बन्ध में प्रतीत्य समुत्पाद एक सत्य है। सम्पूर्ण व्यवहार प्रतीत्य समुत्पन्न है[२८]। यदि कहा जाय कि समस्त जागतिक सत्ता स्वभाव अथवा प्रकृति पर अधिष्ठित है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि स्वभाव से वर्तमान सत्ता का निरोध नहीं होगा। दुःख वेदनादि अथवा सुख आनन्दादि भाव स्वभाव से वर्तमान कहे जाएँ तो या तो दुःखादि का कभी निरोध ही न होगा अथवा आनन्दादि का पर्यवसान दुःखादि में न होगा। ऐसी दशा में कार्य कारण स्वभाव-स्वभावी और पूर्व अपर आदि सम्बन्धों द्वारा सृष्टि का निरूपण नहीं हो सकता[२९]। अतः शून्यवाद के अनुसार प्रतीत्य समुत्पाद सृष्टि ही उपयुक्त है। स्वभाव परभाव भाव अथवा अभाव आदि के द्वारा शून्य सत्य व्यक्त नहीं

२३ रत्न ४ परीक्षानाम चतुर्थ प्रकरण।
२४ रूप गतान काश्चित न विकल्पान विकल्पयत्। ४।५
२५ विग्रहे च परिहारकृते शून्यतया वदेत्। माध्यमिक सूत्र ४।८।
व्याख्याने च उपालम्भे कृते शून्यतया वदेत्। माध्यमिक सूत्र ४।
२६ पूर्वा न विद्यते कोटि समारस्य न चवन।
सर्वेषामपि भावाना पूर्वा कोटि न विद्यते। माध्यमिक कारिका प्रकरण ११।८
२७ शून्यता सर्वदृष्टीनाम प्रोक्ता निःसारणं जिनै।
येषा तु शून्यता दृष्टिस्तान साध्यान बभाषिरे। माध्यमिक कारिका प्रकरण १३।८
२८ य प्रतीत्य समुत्पादं पश्यतीद स पश्यति। माध्यमिक कारिका प्रकरण २४।४
२९ माध्यमिक कारिका प्रकरण। ४

किया जा सकता[३०]। बाह्य अथवा दृश्य जगत के पदार्थ अपनी यथार्थ सत्ता नहीं रखते। रूप रसादि सभी गंधर्व नगर, माया मरीचि और स्वप्नादि से अधिक और कुछ नहीं है[३१]।

शून्यवाद भी संवृति सत्य को स्वीकार करता है। यह संवृति सत्य दो प्रकार का है—तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। तथ्यसंवृति प्रतीत्य समुत्पन्न घट पटादि रूप में लौकिक सत्य रूप में उपलब्ध होता है। मिथ्यासंवृति माया मरीचिका में प्रतिबिम्ब आदि के समान है। यह भी प्रतीत्य समुत्पन्न है और इन्द्रिय आदि से अनुभवगम्य होते हुए भी लौकिक दृष्टि से मिथ्या है। संवृति सत्य लौकिक दृष्टि से अवितथ है। यह अवितथ सत्य व्यावहारिक सत्य है। परन्तु परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या है[३२]। माध्यमिक कारिकाओं में इस प्रकार लोक संवृति सत्य और परमार्थ सत्य ये दो सत्य कहे गये हैं[३३]। यह मत कि शून्यवादी व्यवहारपक्ष के विरोधी हैं युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। नागार्जुन का सिद्धान्त है कि व्यवहार के अनाश्रय से परमार्थ प्राप्त नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परमार्थ के बिना निर्वाण लाभ नहीं किया जा सकता[३४]। इस संवृति सत्य का दूसरा नाम बुद्धि भी है। बुद्धि विकल्पात्मक है। विकल्प के द्वारा अवस्तु अथवा अस्तित्वहीन पदार्थों का ग्रहण होता है इसलिए वह विकल्प रूप भी अविद्यात्मक ही है। इस प्रकार अविद्या और संवृति एक ही अर्थ के दो नाम हैं। इस अविद्या के दो कार्य कहे जाते हैं—स्वभाव ज्ञान का आवरण और असत्पदार्थ स्वरूप का आरोपण[३५]। ये आवरण ज्ञान का चरम स्वरूप उद्भासित नहीं होने देते। वह चरम ज्ञान ही शून्यता का ज्ञान है।

अविद्या संवृति, अथवा विपर्यास परमार्थ विलक्षण तत्त्व है। यह अविद्या ही मायात्मक है विकल्पों के द्वारा इसका निर्माण होता है। यह न

---

३० स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने॥ माध्यमिक कारिका प्रकरण १५।६।
माध्यमिक कारिका, प्रकरण १०।

३१ रूपशब्दरसस्पर्शा गन्धा धर्माश्च केवलाः।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः॥ माध्यमिक कारिका, प्रकरण २३।८

३२ कविराज प० गोपीनाथजी का 'वेदान्त भक्त' में लेख।

३३ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ माध्यमिक कारिका, प्रकरण २४।८

३४ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ माध्यमिक कारिका प्रकरण २४।१०

३५ अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानैव कामलातङ्कवृत्तिवत्॥ वेदान्त के पृष्ठ ५६६।

ग्राह्य और अग्राह्य ही है[३१]। जो कुछ भी सामग्री सृष्टि अथवा वाङ्मय या अन्तराय नाम से उपलब्ध है यह सब अविद्या के कारण है। अविद्या का एक लक्षण तो यह है कि जागतिक निष्पत्तियों के मूल में एक प्रकार का अप्रत्यक्ष स्वभाव दिखाई पड़ता है। यह कहना कि समस्त पदार्थ अपने स्वभाव के अनुसार परिवर्तित, विकसित और विनष्ट होते देखे जाते हैं युक्त नहीं है। दूसरे यह कि पदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं होती परन्तु वे अपने अस्तित्व में वर्तमान दृष्टिगोचर होते हैं। इस विषय में स्वाभाविकता का निर्मूल आरोप है और समस्त पदार्थों को हेतु प्रत्यय आदि से उत्पन्न समझना चाहिए। हेतु प्रत्यय आदि की स्वतः सत्ता नहीं है अतः इस विषय को शून्य में ही विकल्पित मानना उचित है। तब प्रश्न यह होता है कि जो कुछ कार्य प्रत्यक्ष है उसकी निराकृति कैसे हो। जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थ गन्धर्व नगर आदि वस्तुतः होते नहीं है परन्तु उनकी मायिक उपलब्धि होती है वैसे ही इन जागतिक पदार्थों की उपलब्धि का समाधान है। अथवा जैसे आकाश की नीलिमा या शशशृंग या बन्ध्यापुत्र आदि केवल नाममात्र हैं। वस्तुतः ये त्रिकाल में भी नहीं हो सकते। इसी भाँति सब द्रव्य अविद्या से उत्पन्न और स्थित समझे जाते हैं[३७]। पदार्थों की उपस्थिति से देशकाल का प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु पदार्थ और उनके अधिष्ठान इन दोनों की स्थिति भी शून्य है। इसी प्रकार चार आर्य सत्यों[३८] की स्थिति भी नहीं है। इनमें से दुःख समुदय और मार्ग ये तीन सांस्कृतिक सत्य हैं और निरोध परमार्थ सत्य है। माध्यमिक कारिकाओं में परिज्ञा प्रहाण भावना और साक्षि कर्म का उल्लेख है[३९]। इनकी स्थिति भी शून्यपरक है। यह अविद्या द्वैत सम्पन्न है। व्यवहार अथवा संवृति द्वैत सत्य है। अविद्याजन्य व्यापार भ्रामक है। लंकावतार सूत्र में अविद्या और तथता दो सत्य पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं। अविद्या द्वैत और

३६ तथ्यपि कारु नास्तिकस्थिते अपि च स्थापित कल्प वशेन।
कल्प वशेन विकल्पित लोक सब गृहण विकल्पित काच।
सोच गहो अगहो अस भूतो नाय मरीचिसमा हि विकल्पा॥
माध्यमिक कारिका टीका से उद्धृत।

३७ यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं यथा भंग उदाहृत॥
आकाशं शशशृंगं च बन्ध्यायाः पुत्र एव च।
असन्तश्चाभिव्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पना॥ लंकावतार सूत्र सगाथकम् पृ. ४४३

३८ दुःख समुदय निरोध और मार्ग ये चार आर्य सत्य हैं॥

३९ माध्यमिक कारिका प्रकरण २४

४० यथाभ्यासं तथा भूत परिकल्पो निरूप्यते।
यथा मायाकृतं तत्र स्वभ्रान्तिनिर्दिश्यते। महायान सूत्रालंकार प. ५६।१२।१५

तथता अद्वैत सत्य है।[४१] रूप कारण से भिन्न रूप की उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार रूप से भिन्न उसके कारण की प्राप्ति नहीं है। शरीर से पृथक आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता और आत्मा के बिना शरीर की स्थिति नहीं है। इस प्रकार शून्यवाद आत्मा को अद्वैत चेतन और अमृत तत्त्व नहीं मानता।[४२] वेदना चित्त संज्ञा और संस्कारों की अभिव्यक्ति रूप के द्वारा होती है।[४३] इस प्रकार शून्यवाद में नैरात्म्यवाद की प्रतिष्ठा है। रूप और कारण दोनों की भिन्न भिन्न उपलब्धि न होने के कारण आत्मा जैसे शाश्वत तत्त्व की भी स्थिति नहीं है। नैरात्म्य में आत्म-दर्शन भी अविद्या का अंग है।

जागतिक सत्ता की उपलब्धि अविद्या के द्वारा ही होती है। इस उपलब्धि के विषय में शून्य और विज्ञान की समान अवस्था है। विज्ञानवाद और शून्यवाद की जागतिक सत्ता में अन्तर यह है कि विज्ञान के अतिरिक्त विज्ञानवादी बाह्यार्थ नहीं मानते और शून्यवादी उसको अन्तर बाह्य कुछ भी नहीं कहते। किन्तु वास्तव दृश्यात्मकता का निराकरण करने के लिये वे माया का आश्रय लेते हैं।[४४] जागतिक धर्मों में निस्सारता है। परन्तु अज्ञान के कारण उनमें आसक्ति अथवा विरक्ति की ऊहापोह स्थापित हो जाती है। जिस प्रकार कोई कुमारी स्वप्न में अपने एक पुत्र का जन्म देख प्रसन्न होती है और उसके मृत होने पर दुःखित होती है उसी प्रकार इस अनेक धर्मों और स्वभाव में युक्त जगत में जो सत्य और आवरण ग्राह्य होते हैं वे स्वप्नादि के समान हैं। शून्यवाद में जिस प्रकार स्वप्न सत्य का ग्रहण है उसी प्रकार जागरित-सत्य में स्वप्न दृष्टि है।[४५] जिस प्रकार कोई बाला दर्पण अथवा

४१ अन्यत्र अन्ययोः पञ्जा अविद्या तथान्यत्र।
अमद्वयेन वर्तन्ते अविद्या तथता भवेत् ॥ लंकावतार सूत्र। पृष्ठ १४८।

४२ रूपकारण निर्मुक्तं न रूपमुपलभ्यते।
रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम् ॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण ४।१।

४३ वेदना चित्त संज्ञानां संस्काराणां च सर्वशः।
सर्वेषामेव भावानां रूपेणैव समः क्रमः। माध्यमिक कारिका। प्रकरण ४।७।

४४ शैल गुहा गिरि दुर्ग नदीषु,
यन्यतिष्ठुक जाति प्रतीत्य।
एविनु संस्कृत सर्वविज्ञान,
मायामरीचिसमाजम् सर्व ॥ माध्यमिक कारिका, वृत्ति टीका से उद्धृत।

४५ यथा कुमारी सुपिनान्तरस्मिन्, सा पुत्र जात च मृत च पश्यति।
जाते मति तुष्टा मृते दौर्मनस्यिता, तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्।
माध्यमिक कारिका, वृत्ति टीका से उद्धृत।

तल पात्र म अपने मुख का सौन्दर्य अथवा शृगार देखकर राग पैदा हो जाती है उसी प्रकार समस्त जागतिक धर्म मिथ्या है। यद्यपि मुख की आभा बिम्बादि म नही होती परन्तु उसकी निष्पत्ति अकारण ही होती है। तो भी रागादि पैदा हो कर उसकी प्रतिक्रिया तो होती ही है। जागतिक व्यवहार आदि भी उसी भाँति होते रहते है यद्यपि उनकी सत्ता नही होती।[४६] अविद्या के सम्बन्ध म यह प्रश्न होता है कि इसका स्रोत क्या है? माध्यमिक कारिकाओं म अविद्या को संस्कार मभव कहा गया है।[४७]

शून्यवाद का सिद्धान्त परमार्थ म शून्य ज्ञान की प्रतिष्ठा करता है। यह अवश्य सत्य है। माध्यमिक कारिकाओं के प्रथम प्रकरण मे हेतु प्रत्यय आदि की स्थिति का खण्डन किया गया है। दूसरे प्रकरण म गतागतप री क्षा का विषय है। शून्य सिद्धान्त के अनुसार गतागत का निर्णय नही हो सकता। गति और चेष्टा दोनो म शून्यता का आरोप है। इसी गतागत विनिमय के द्वारा जन्म मरण की अथवा आवागमन की भी पारमार्थिक अवस्था मे निषेध कर दिया गया है। इस सम्बन्ध म जिस तर्क का आश्रय लिया गया है उसके अनुसार गति के आरम्भ और अन्त निर्धारित नही किये जा सकते है। प्रतीत होता है कि गतागत विवरण लौकिक व्यवहार तक ही सीमित है। अगति और गति की असिद्धि शून्यता के पक्ष म जाती है। शून्य ही वह स्थिति है जिसम गतागत भेद नही आ सकता और जो वाच्य गति उपलब्ध है वह मायिक है। शून्य की प्रतिष्ठा अद्वैत सिद्धान्त की अनिर्वचनीय ख्याति की स्वीकृति है।[४८] तीसरे प्रकरण म चक्षु इत्यादि इन्द्रियो की असिद्धि प्रमाणित है। यदि चक्षु का दिया दर्शन करता है तो वह अपने को क्या नही देख पाती? इसी प्रकार समस्त इन्द्रियो के व्यापार शून्य द्वारा वर्जित हो जाते है।[४९] जो अपने को नही देख सकता वह दूसरे को भी नही देख सकता। चौथे प्रकरण म रूपादि और उसके कारण मे शून्यता की

---

४६ आदर्श पृष्ठे तथ तल पात्रे निरीक्षनकारि मुखमलंकुत्य च।
सोऽत्र राग जनयेच्च बाला प्रधावती काम गवेषमाणो।
मुखस्य संक्रान्ति यथा न विद्यते बिम्बे मुखं नैव कदापि लभ्यते।
मूढो यथा सो ऽनुभव राग तथोपमान जानथ सर्वधर्मान॥ माध्यमिक कारिका टीका वृत्ति।

४७ संस्काराणामभाव। मा० का० प्र २६।११।४ माध्यमिक कारिका प्रकरण २।

४८ माध्यमिक कारिका प्रकरण २।

४९ माध्यमिक कारिका तृतीय प्रकरण—न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति परान्। २।

प्रतिष्ठा का गई है। कारण और रूप दोनों एक दूसरे से पृथक नहीं रह सकते और न उनमें सादृश्य अथवा असादृश्य है। ऐसी अवस्था में रूपादि की सिद्धि नहीं हो सकती।[५०] पांचवें प्रकरण में लक्षणादि की असिद्धि करते हुए धात्वादि की अप्रमाणिकता का कथन हुआ है। शून्य अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों से विलक्षण है।[५१] रागरत्नादि परीक्षा के साथ सह असह और उभय भावों का खडन किया गया है। इस प्रकार एकत्व और पृथक्त्व दोनों ही असिद्ध हैं।[५२] सप्तम प्रकरण में इसी भांति सस्कृत असंस्कृत धर्मों का खडन किया गया है। दीपक की स्वप्रकाशिता की असिद्धि है। सस्कृतादि धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। इसकी उत्पत्ति स्थिति और भंग, माया स्वप्न और गन्धर्वनगरादि के समान कही गई है।[५३] कारक कर्म क्रिया और फल आदि की असिद्धि आठवें प्रकरण में है। बारहवें प्रकरण में दुःख खण्डन है। दुःख की स्थिति नहीं है। तेरहवें में सस्कार की शून्य सत्ता का उल्लेख है। शून्य ज्ञान के पक्ष में स्वभाव की असिद्धि है। क्योंकि हेतु प्रत्यय से मुक्त कृतक होगा और कृतक से स्वभाव नहीं हो सकता। स्वभावहीनता होने के कारण प्रकृति की सत्ता भी नहीं है।[५४] सस्कारादि न होने से बन्धन और मोक्ष का विधान नहीं हो सकता क्योंकि यदि पुद्गल बन्धन में हो तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकता और यदि मुक्त हो तो बन्धन द्वारा बाधित नहीं हो सकता।[५५] इसी हेतु शून्याद्वैत निर्वाण समारोप और संसारापकर्षण नहीं स्वीकार करता। जब शून्य के अन्तर्गत संसार की स्थिति नहीं है तब निर्वाण की सम्भावना ही अनुत्पन्न है।[५६] न कर्म होता है और न उसका फल ही। कर्म चेतन सत्ता द्वारा ही प्रतिपादित होते हैं। परन्तु यह चेतन विज्ञप्ति व्यापार से सम्भव होता है और कायिक एवं वाचिक है। बीजांकुर न्याय से भी कर्म और उनके

५० चतुर्थ प्रकरण।
५१ अस्तित्वं येतु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः,
भावानां ते न पश्यन्ति द्रष्टव्योपशमं शिवं ॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण ५।८।
५२ माध्यमिक कारिका। षष्ठ प्रकरण।
५३ यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भग उदाहृत ॥ ७।३४।
५४ पञ्चदश प्रकरण।
५५ बद्धो न मुच्यते तावदबद्धो न मुच्यते।
स्यातां बद्धे मुच्यमाने युगपद् बन्धमोक्षणे। माध्यमिक कारिका। प्रकरण। १६।८।
५६ न निर्वाण समारोपो न संसारापकर्षणं।
यत्रकस्तत्र ससारो निर्वाणं किं विकल्प्यते ॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण।१६।१०

फल की व्यवस्था नहीं हो सकती।[५७] कर्म की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि वह नि:स्वभाव है।[५८] व्यवहार विचार और वक्तव्य भाव सभी अविद्यात्मक हैं।[५९] अविद्या की निवृत्ति में उसके कार्य भेद और व्यवहार नहीं रहते। क्लेश कर्म देह और फल स्वप्न मरीचि और गन्धर्वनगरादि के समान भ्रामक हैं।[६०]

शून्यवाद का मत है कि अनात्मा अथवा आत्मा किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना बुद्ध का उद्देश्य नहीं है।[६१] निर्गुण आत्मा की स्थिति नहीं हो सकती।[६२] कर्म क्लेश नाश और मोक्ष विकल्पों के कारण होते हैं। ये प्रपंच द्वारा उत्पन्न होते हैं और इनका नाश शून्य के द्वारा होता है।[६३] ज्ञान की निष्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि सम्बुद्ध की अनुत्पत्ति है और श्रावकों का पुन: पुन: जन्म मरण होता रहता है। बुद्धों का ज्ञान संसर्ग के द्वारा सक्रमित होता रहता है।[६४]

काल की स्थिति और उत्पत्ति नहीं है क्योंकि वह प्रतीत्य प्रत्युत्पन्न है।[६५] भाव के अभाव के कारण काल की स्थिति भी सिद्ध नहीं होती।[६६] हेतु और प्रत्यय से सामग्री और फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। फल और सामग्री की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार सामग्री या फल की प्राप्ति नहीं है।[६७] जन्म और मरण को ही माध्यमिक कारिकाओं में सभव विभव कहा गया है। सम्भव

५७ ख्लातन्त्राम प्रकरण। २।३।४। १८।१६।

५८ कर्मोनोत्पद्यते कस्मात् नि:स्वभाव न यतस्तत्। माध्यमिक कारिका। प्रकरण १८।२१

५९ अविद्या निवृता जन्तुस्तृष्णा संयोजनश्च स।
स भोक्ता स च न कर्तु यो न च स एव स॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण १७।२८।

६० क्लेशा: कर्माणि देहाश्च (कर्तारश्च) फलानि च।
गन्धर्व नगराकारा मरीचि स्वप्न सन्निभा॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण १७।३३।

६१ बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि दर्शित। माध्यमिक कारिका। प्रकरण १८।६।

६२ निमग्नो निरहंकारो यश्च सोऽपि न विद्यते।
निमम निरहंकार य: पश्यति न पश्यति॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण १८।३।

६३ कर्म क्लेश क्षयान्मोक्ष: कर्म क्लेशा विकल्पत।
ते प्रपंचात् प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण १८।५।

६४ सम्बुद्धानामनुत्पादे श्रावकाणां पुन: क्षय।
ज्ञान प्रत्येक बुद्धाना मसंसर्गात्प्रवर्तते॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण १८।१२।

६५ प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च तस्मात्कालो न विद्यते। माध्यमिक कारिका। प्रकरण १९।३।

६६ न च कश्चन भावोऽस्ति
कुत: कालो भविष्यति। माध्यमिक कारिका। प्रकरण १९।६।

६७ माध्यमिक कारिका। विशन्तितम प्रकरण।

और विभव उत्पत्ति और नाश वाचक भी हैं। इक्कीसवें प्रकरण में कहा गया है कि सम्भव विभव शाना अशायाधिन हैं।[६८] ये एक साथ भी नहीं रह सकते। अस्तु सम्भव विभव की स्थिति भ्रममूलक है। अभाव अथवा भाव के बिना भी सम्भव विभव की स्थिति नहीं है। भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं होती और न अभाव से भाव की।[६९] सम्भव और विभव मोहवश उपलब्ध होते हैं।[७०] स्वतः और परतः नाना प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती। उदय-व्यय और सन्तान, फल और हेतु से उत्पन्न नहीं हो सकते।[७१] यदि इनका स्वभाव माना जाय तो निर्वाण काल में भी इनका उच्छेद नहीं होगा।[७२] तीनों कालों में जो संसार सृष्टि नहीं है और जो त्रिकाल में भी नहीं है तो वह सृष्टि कैसी?[७३]

तथागत परीक्षा में कहा गया है कि तथागत स्वभाववान नहीं हैं। वे न स्वभाव से प्रकट हैं अथवा न परभाव से उत्पन्न हैं। वे आत्म और अनात्मवाद से परे हैं। वे न निरुपादान हैं और न सोपादान। इसी प्रकार वे न शून्य हैं और न अशून्य एवं उभय और न नोभय। उनके प्रति सम्पूर्ण कथन ज्ञप्तिमात्र हैं। बुद्ध अव्याकृत और अन्वय हैं। तथागत में जो स्वभाव है वही जगत का भी स्वभाव है, परन्तु तथागत निःस्वभाव हैं। अतः यह जगत भी निःस्वभाव है।[७४] शुभाशुभ विचार को विपर्यास कहते हैं। शुभाशुभ भाव न प्रतीत्य-जात हैं और स्वभाव जात भी नहीं हैं। प्रतीत्य जात पदार्थों की स्थिति नहीं होती अतः विपर्यास भी नहीं होते[७५]। रूप रस शब्दादि एवं वस्तु राग और द्वेष आदि विकल्पमात्र हैं। ग्राह्य और अग्राह्य पदार्थ या भाव नहीं हैं। अनित्य नित्य अशुचि शुचि दुःख-सुख और आत्मा अनात्मा आदि किसी की भी स्थिति नहीं है। ये विपर्यास अविद्या के कारण होते हैं। अविद्या के निरोध

---

६८ माध्यमिक कारिका। एकविंशतितम प्रकरण।
न जन्म मरणं चैव तुल्यकालं हि विद्यते। माध्यमिक कारिका। प्रकरण २।४।

६९ माध्यमिक कारिका। प्रकरण। १।८।१२।

७० दृश्यते सम्भवश्चैव मोहाद्विभव एव च॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२१।११।

७१ माध्यमिक कारिका। प्रकरण २१।१८।१६।

७२ निर्वाणकाले चोच्छेदः प्रशमाद्भवसन्ततेः। माध्यमिक कारिका। प्रकरण। २१।१७।

७३ भवे त्रिष्वपि कालेषु न युक्ता भवसन्ततिः।
त्रिषु कालेषु या नास्ति सा कथं भवसन्ततिः। माध्यमिक कारिका। प्रकरण २१।२१।

७४ माध्यमिक कारिका तथागतपरीक्षा। प्रकरण २२।३।७।८।११।
तथागतो [निःस्वभावो] निःस्वभावमिदं जगत्। माध्यमिक कारिका। प्रकरण। २२।१६।

७५ माध्यमिक कारिका। त्रयोविंशतितम। प्रकरण।

होने से इनका नाश हो जाता है।[७६] दुःख समुदय निरोध और मार्ग ये चारों आर्य सत्य प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। [७७] शून्यता बुद्धस्व है। स्वभाव शून्यत्व होने से ही जगत स्वभाव रहित कहा गया है। शून्य की उत्पत्ति और निरोध नहीं होते और अनेक अवस्थाओं द्वारा शून्य बाधित हो होना है।[७८]

निर्वाण की अवस्था का भी निर्वचन नहीं हो सकता। उदय और व्यय आदि का उसमें अध्यारोप असंगत है। प्रहाण अथवा निरोध की युक्ति भी उसके साथ उपयुक्त नहीं। जरा मरण आदि द्वारा निर्वाण का लक्षण नहीं हो सकता। असंस्कृत और संस्कृत धर्मों के द्वारा निर्वाण की सीमाएं निर्धारित नहीं हो सकतीं उसे भाव अथवा अभाव की अवस्थाओं में विभक्त नहीं किया जा सकता। उसमें प्रतीत्य समुत्पत्ति का भी लेश नहीं है न संसार का निर्वाण ही कोई विशेषण है और न निर्वाण की संसार ही कोई विशेषता है।[७९] माध्यमिकों के अनुसार संसार और निर्वाण की कोटियाँ पृथक् नहीं हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं माना गया।[८०] शून्य में सम्पूर्ण धर्मों का न अन्त है और न उनकी अनन्तता ही है। शाश्वत अशाश्वत उभय पक्षों की स्थिति नहीं है। इस शून्य को ही सर्वोपलम्भोपशम प्रपञ्चोपशम और शिव कहा गया है।[८१] षडायतन नामरूप उपादान और संस्कार सभी अविद्यामूलक हैं। अविद्या के निरोध से संस्कार आदि सभी असम्भव होते हैं।[८२]

शून्य सिद्धान्त का उद्देश्य सभी दृष्टियों का प्रहारण करना है।[८३] सत्ताइसवें

---

७६ एवं निरुध्यते क्रिया विषयाय निरोधनात्।
अविद्याया निरुद्धाया संस्कारा निरुध्यते॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२३।२३।

७७ यः प्रतीत्य समुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति।
दुःख समुदयं चैव निरोधं मार्गमेव च॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२४।४०।

७८ अजातमनिरुद्ध च कूटस्थं च भविष्यति।
विचित्राभिरवस्थाभि स्वभावे रहितं [जगत्]। माध्यमिक कारिका। प्रकरण। ४।२८।

७९ माध्यमिक कारिका। पञ्चविंशतितम प्रकरण।
न संसारस्य निर्वाणात्किंचिदस्ति विशेषणं।
न निर्वाणस्य संसारात्किंचिदस्ति विशेषणं। माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२५।१९।

८० निर्वाणस्य च या कोटि संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥ माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२५।२०।

८१ सर्वोपलम्भोपशम प्रपञ्चोपशम शिव। माध्यमिक कारिका। प्रकरण।२५।२४।
द्रष्टव्य पचीसवां प्रकरण।

८२ माध्यमिक कारिका। षड्विंशतितम प्रकरण।
अविद्याया निरुद्धाया संस्काराणामसम्भव।११।

८३ माध्यमिक कारिका। सप्तविंशतितम प्रकरण।

प्रकरण में शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, आत्मवाद और अनात्मवाद आदि सभी का खंडन किया गया है। मनुष्य और देवता का व्यवधान पर्यवसित किया गया है। लोक और परलोक का मतान्तर शून्य में पर्यवसित किया गया है। लोक के अन्त और आदि का समाधान शून्य सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ है।

आचार्य शंकर ने शून्यवाद को सब प्रमाणों से विरुद्ध माना है।[८४] वे कहते हैं कि स्पष्ट सब प्रमाण सिद्ध लोक-व्यवहार का अन्य तत्व को माने बिना अपह्नव नहीं किया जा सकता[८५]। डा० राधाकृष्णन माध्यमिक सिद्धान्त का प्रभाव अद्वैत वेदान्त पर मानते हैं। वे कहते हैं कि अद्वैतवाद का व्यवहार और परमार्थ माध्यमिकों के संवृति और परमार्थ के समान है। शंकर के निर्गुण ब्रह्म और शून्य में बहुत कुछ साम्य है। दोनों के द्वारा अविद्या शक्ति को व्यावहारिक सत्ता के रूप में मान्यता दी गई है।[८६]

विज्ञानाद्वैतवाद

अद्वैत दर्शन का लक्ष्य अनेकत्व के विपरीत एकत्व की प्रतिष्ठा है और यह बहिर्मुख न होकर पूर्णतः अन्तर्मुखी है। बौद्ध दर्शन में अद्वैत सिद्धान्त के मूलभूत बीज विद्यमान हैं। संसार की नश्वरता प्राणी की अविद्या और उसका ज्ञान द्वारा निरोध आदि के सिद्धान्त शांकर दर्शन के पूर्व उक्त दर्शन में उपदिष्ट हो चुके थे। महायान शाखा के अन्तर्गत योगाचार मत अद्वैत के विकास क्रम का एक रूप मात्र प्रतीत होता है।[८७]

योग, योगाचारों की साधना का रूप है और विज्ञान उसके चिन्तन पक्ष था।[८८] सौत्रान्तिक और वैभाषिक मतों के अन्तर्गत जागतिक सत्ता की स्वीकृति की गई थी। जागतिक सत्ता को ही बाह्यार्थ सत्ता कहा जाता है। अद्वैत दर्शन की सैद्धान्तिक रूपरेखा पर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि

---

८४ सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२। ३।

८५ नह्ययं सर्व प्रमाणसिद्धो लोक व्यवहारोऽन्यत् तत्त्वम् अनधिगम्य । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।२।

८६ The Advaitic distinction of Vyavhara and experience and Parmartha or reaality correspond to th Samvriti of Shankara and Nagarjun Sunya have much in common The force of Avidya introducing the phenomenal universe is admitted by both

Indian Philosophy page 668

८७ Thus both the Vaibhasika and the early Buddhist S hool regard Samsara and Nirvana as real *Philosophical Essays* page 96

The Sautantrikas believed samsara as real and Nirvana as unreal

Philosophical Essays page 96

वाह्यार्थवाद में तत्सम्बन्धी साम्य का प्रभाव है। ये दोनों मत हीनयान के अंतर्गत ग्रहीत हैं। योगाचार मत के चिंतन पक्ष को ही विज्ञानवाद कहते हैं।[८६] वाह्यार्थवादियों के अनुसार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कन्ध सृष्टि और जीवन के अंतर्वर्ती तत्व हैं।[९] इनके अतिरिक्त पृथ्वी पर्वतादि पदार्थ वाह्य समुदाय हैं। इन दोनों समुदायों के योग से सम्पूर्ण सृष्टि क्रम और जीवन एवं जागतिक तत्व उपलब्ध होते हैं। संस्कार पुनर्जन्म के हेतु हैं। जन्म जरा व्याधि मरणादि इन्हीं संस्कारों के कारण क्रमबद्ध रूप में प्रवर्तित होते हैं। वैभाषिक संसार और निर्वाण दोनों को सत्य मानते हैं और सौतान्त्रिक केवल संसार की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। विज्ञानवाद वाह्यार्थ का विरोधी है। विज्ञानवाद वाह्यार्थ की सत्ता क्षणिक विज्ञान के अंतर्गत स्वीकार करता है। सर्वास्तिवादियों के मत के भी अनुकूल विज्ञानवाद नहीं है वरन उसकी प्रतिक्रिया मात्र प्रतीत होती है। विज्ञानवाद संसार और निर्वाण में भेद स्वीकार नहीं करता।

विकास क्रम की दृष्टि से शून्यवादियों का सिद्धान्त विज्ञानवाद के पूर्व से आता है। शून्य और विज्ञान के सिद्धान्त बीजों की उपलब्धि इनके दार्शनिक रूप में पुष्ट होने के पूर्व भी उपलब्ध होती है।[९१] शून्य सिद्धान्त के स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि किसी सीमा तक विज्ञान की स्वीकृति उसमें कर ली गई है। संस्कार तत्व के अंतर्गत और नाम रूपादि के साथ विज्ञान की स्वीकृति माध्यमिक कारिकाओं में की गई है।[९२] शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों में किंचित अन्योन्याश्रिता प्रतीत होती है। कालक्रम को ध्यान में रखकर इनमें पूर्व और उत्तरकालीनता निर्धारित करना कठिन है। डा० राधाकृष्णन इनमें समकालीनता की सम्भावना मानते हैं।[९३] शून्यवाद

८६ The titl Yogachara brings out the pract c l side of the philosophy whi h V jnanv da brings out it pecul ti e features *Ind an Ph lo phy* p ge 6

९० चित्त द्वारा ग्रहीत रूपादि रूप उनकी अभिव्यक्ति विज्ञान उनसे उत्पन्न वेदना, देवदत्तादि नाम संज्ञा और इनकी वासना संस्कार स्कन्ध है।
ब्रह्मसूत्र शाबर भाष्य रत्नप्रभा टीका।

९१ *Ind an Philosophy* pag 643

९२ विज्ञाने सुनिविष्टे संस्कार प्रत्यय गतौ।
संनिविष्टेऽथ विज्ञाने नाम रूप निषिच्यते॥ माध्यमिक कारिका ॥२६।२।

९३ It is perhaps better to point out that the gene al view places the Sunyavada ea li r than the V jyanvad though one can never be sure of it the two perh ps developed sid by side
I d a Ph l oph y page 643

की शून्यता और विज्ञानवाद की क्षणिकता प्राय एक ही कोटि के तत्व हैं। शून्य में द्वयात्मकता का तिरस्कार है और समस्त जागतिक सत्ता माया के स्वभाव से युक्त है। इसी प्रकार विज्ञानवादी जागतिक सत्ता को विकार मात्र मानते हैं।[९४] फिर भी विज्ञानवाद में चैतन्य युक्त विज्ञान की सत्ता मान ली गई है। यह स्थिति चाहे क्षणिक मात्र ही हो परन्तु शून्य नहीं है।[९५] इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद चिन्तन का व्यावहारिक रूप योगानुभूति के द्वारा प्रकट करता है। शून्यवाद तर्क पर आधारित सिद्धान्त है और विज्ञानवाद बाह्यार्थ शून्यता का अनुभव चिन्तन की पराकाष्ठा में करता है। विभिन्न और भिन्न-भिन्न में निर्धारित सिद्धान्तों में और अद्वैत वेदान्त के तत्वों में एक साम्य प्रतीत होता है। डा० दास गुप्त भी इस मत से सहमत हैं। विज्ञानवाद भी प्रतीत्य समुत्पादवाद स्वीकार करता है।[९६] प्रतीत्य समुत्पादवाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी विवेचन है। लंकावतार सूत्र में उत्पत्तिपरक सिद्धान्तों के साथ प्रतीत्य समुत्पादवाद स्वीकृत है —

प्रत्यया प्रत्ययोत्पन्न अविद्या तथतान्य । सगाथकम् । ६६६ ।

सृष्टि सिद्धान्त में प्रतीत्य समुत्पादवाद बौद्ध दर्शन का सर्वमान्य मत है। शून्यवाद के अनुसार शून्यता प्रतीत्य समुत्पन्न है और विज्ञानवाद के अनुसार भी सम्पूर्ण जागतिक द्वयात्मकता प्रतीत्य समुत्पन्न है —

शैल गुहागिरि कुञ्ज नदीषु
यद्व प्रतिश्रुत्क जायि प्रतीत्य ।
एविमु संस्कृत सर्वविजान
माय मरीचि सम जग सर्व । माध्यमिक कारिका वृत्ति ।

---

९४ नित्यनसारक मायसमाना शुद्ध विशुद्ध नभोपम सर्वे ॥ माध्यमिककारिका वृत्ति ॥

९५ रूप रूपमायानानास्ति तथा धर्मटान्य ।
अविद्यानिर्दृश्य तु विकल्पेन भाषते ॥ लंकावतार सूत्र । सगाथकम् ॥ ५०३ ॥
Philosophical Essays page 198
Both Vasubandhu and Sthirmati repudiate the suggestion of those extreme idealists who deny also the reality of pure intelligence on grounds of interdependence of relativity (Samvriti)
Philosophical Essays page 01

९६ प्रतीत्य समुत्पादवाद — इसके अनुसार किसी वस्तु की स्थिति निर्धारित नहीं की जा सकती। कोई भी वस्तु चाहे वाह्य प्रत्यक्ष हो अथवा सूक्ष्म और बुद्धिगम्य हो, परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन का अर्थ ही नश्वरता है। जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह परिवर्तन के अन्तर्गत और परिवर्तन के माध्यम से ही होता है। वस्तुतः परिवर्तन ही

हम देखते सुनते और अनुभव करते हैं। परन्तु परिवर्तन का स्वरूप और आकार प्रकार एकविध नहीं है, प्रत्युत बहुविध और अनेक मुखी है। प्रत्येक क्षण है प्रत्येक वस्तु में वैषम्य और असन्तुलन सन्निविष्ट होता रहता है। अतः क्षणिकवाद का प्रादुर्भाव भी प्रतीत्य समुत्पादवाद से ही होता है। आचार्य नागार्जुन की शून्यता का यही रहस्य है —

य प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यतीद स पश्यति। माध्यमिक कारिका। वृत्ति।२४।४०।

यह सिद्धान्त शून्यता और उत्पत्ति के साथ मिलकर वास्तविक सत्ता का लोप स्वीकार करता है —

य प्रत्ययर्जायति स ह्यजातो

न तस्य उत्पाद स्वभावतोऽस्ति।

य प्रत्ययाधीन स शून्य उक्तो य शून्यता जानति न प्रमत्त ॥

माध्यमिक कारिका वृत्ति।

बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म सिद्धान्त की प्रक्रिया भी इसी से संचालित होती है। इसके अनुसार अविद्या और संस्कार पूर्व जन्म के कारण है। विज्ञान, नाम, रूप षडायतन स्पर्श वेदना, तृष्णा और उपादान वर्तमान जीवन की घटनाएँ हैं। भाव जाति और जरा, मरण पुनर्जन्म के कारण हैं।

द्रष्टव्य *Indian Philosophy* page 410 411 41 413 414 415

भूत भविष्य और वर्तमान का काल विभाजन इस सिद्धान्त में स्वीकृत नहीं है, और न जीवन एवं मरण को संयुक्त करने वाला आत्मा जैसा तत्व ही स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में एक अदृश्य ग्रन्थि की मान्यता बौद्ध दर्शन में है। बन्धन और निर्माण एवं अविद्या और ज्ञान में फिर भी एकसूत्रता का क्रम उपलब्ध है। इस एकसूत्रता का नियामक कोई ईश्वर अथवा ब्रह्म जैसी सत्ता नहीं है। शून्य सिद्धान्त के अनुसार आकाशरूप शून्य ही उसका कार्य या कारण है।

अकारोन शून्यो ॥ चिरान्तरेनैव मौलिन। माध्यमिक कारिका टि पृष्ठ ५४।

सृष्टि अथवा पुनर्जन्म के साथ अविद्या का सम्पर्क है। यह अविद्या विज्ञानवादियों तथा अन्य बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार अनादि है। तृष्णा अविद्या रूप है। जीवन में तृष्णा स्वाभाविक है। अविद्या के कारण तृष्णा का परिहार नहीं हो पाता। अविद्या ही प्राणी को आवागमन के चक्र में भ्रमित करती है। अविद्या का तिरोभाव होने से वासना क्षय स्वतः हो जाता है। जीव का अहं भाव ही जीवन है। अहंकार से ही कर्म होते और उनके फल भोगे जाते हैं। यह अहंकार भी अविद्या मात्र है। संस्कारों का कारण भी यह अविद्या है।

द्रष्टव्य *Indian Philosophy* page 410 411 41 413 414 415

विज्ञानवाद सिद्धान्त में बाह्य सृष्टि का निषेध है। जिस समय प्राणी विज्ञान द्वारा प्रेरित होता है वह बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष करता है। इस प्रत्यक्षानुभूति को विज्ञप्ति कहते हैं। ये विज्ञप्तियाँ स्वभावतः बाह्य जगत में नहीं होतीं वरन् अन्तर्जगत में ग्राहक के साथ होती हैं। सम्पूर्ण वस्तु जगत विज्ञान मात्र है। ग्राहक के सम्बन्ध से ग्राह्य की उपलब्धि होती है। किन्तु वस्तुतः ग्राहक सत्य नहीं है। समस्त जागतिक वैषम्य और अनेकविध पदार्थ विज्ञान के आभास मात्र हैं। प्रत्यक्ष पदार्थ-जगत वस्तुतः प्रपंचमय गन्धर्वनगर और अलात चक्र के समान मिथ्या हैं। जो भी बाह्य प्रतीति होती है उसे विषय विज्ञप्ति कहते हैं। विषय विज्ञप्ति द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है उसका क्षेत्र विज्ञान है। विज्ञान द्वारा गृहीत व्यवहार विज्ञान परिणाम कहलाता है। परिणाम शब्द इस तथ्य का सूचक है कि विज्ञान की सृष्टि का कारण ग्राह्य ग्राहक योजना नहीं है वरन् विज्ञान के द्वारा बाह्यार्थ परिणत होता है।[६७]

अविद्या से संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। चैतन्य के अहंकारात्मक आवरण हैं जो संस्कारों द्वारा व्यक्त होता है। इस चैतन्य में ही आनन्दानुभूति होती है, जिससे प्राणी आनन्द की प्राप्ति के लिए अनेक दुःखमय कर्म करता है। इस चैतन्य में ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय आरोपित होते हैं। यह चैतन्य आनन्द या विज्ञान स्वरूप है। विज्ञानवाद के अद्वैत विज्ञान को इसी से प्रेरणा मिलती है।

मन में वासना और वासना से कर्म होता है। अज्ञान में आवरण का अन्धकार होता है। इस प्रकार अज्ञान और आवरण अन्योन्याश्रित हैं। जो भी प्रत्यक्ष दृश्य उपलब्ध होते हैं वे वस्तुतः नहीं हैं वे प्रमाद समुत्पन्न हैं। इसकी अनित्यता में ही नित्यता का आरोप कर लिया जाता है। उनमें ही अहंकार से आत्मनिष्ठा प्रादुर्भूत होती है। अज्ञान से ही जगत में अनेकता प्रतीत होती है। जगत का कोई स्वभाव नहीं है। यदि स्वभाव होता तो निर्वाण में भी उसका अन्तर्गत उपस्थित होता और उस स्वभाव के अतिरिक्त निर्वाण की सिद्धि न हो सकती। अविद्या का भी अपना कोई स्वभाव नहीं है और न वासना अथवा तृष्णा का ही, क्योंकि उनका भी विनाश हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद में परिवर्तन का नियम तथा क्षणिकता आदि नाना अनेक आकारों में निर्दिष्ट है। परन्तु वासना और अविद्या आदि की अनादि परम्परा के अन्तराल में किसी शाश्वत तत्त्व के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

---

६७ The Schools of Buddhism *Indian Philosophy*

यह परिणाम प्रतीत्य समुत्पन्न है। यह विज्ञान परिणाम त्रिविध है—१ विपाक २ मनन ३ विषय विज्ञप्ति।[६८] विपाक और मनन विकल्प कहलाते है। इनसे ही परिकल्पित दृश्य जगत का स्वाभास होता है। ये विज्ञान परिणाम विशुद्ध ज्ञान के रूपान्तर हैं। मनन और विपाक एक ही धातुभूमि में रहते है। विपाक को ही आलय विज्ञान भी कहते है। मन और आलय विज्ञान के संयोग से मैं मेरी ऐसी बुद्धि होती है। मननाख्य विज्ञान का नाम मन है। वस्तुतः विपाक मनन और विषय विज्ञप्ति स्वतन्त्र तत्व नहीं प्रतीत होते। उनमें एक प्रकार की क्रमबद्धता है और विज्ञान की विकासगत अवस्थाएं हैं। क्लिष्ट मन आलय में स्थित होकर कार्य करता है। आलय में चैतन्य की स्वीकृति है। अस्तु विज्ञान एक चैतन्ययुक्त तत्व है। मन स्वतन्त्र सत्ता नहीं है वह विज्ञान चैतन्य से अनुप्राणित होकर विकल्पात्मक क्रियाएं करने में समर्थ होता है। चित्त मन के ऊपर की दशा है। कुशल और अकुशल कर्मवासनाओं से प्रसूत विपाकाख्य विज्ञान की आलय विज्ञान संज्ञा है।

उपर्युक्त प्रक्रिया विज्ञानवाद के स्वरूप को उपस्थित करती है और अद्वैत सिद्धान्त से मुठभेड़ करती है। शांकर अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा नित्य सत्य है। इस सम्बन्ध में हम अपने प्रबन्ध में अन्यत्र सविस्तार विचार कर सकेंगे। विज्ञानाद्वैतवाद में विज्ञान अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान नित्य सत्य नहीं है।

आलय विज्ञान की द्विविध गति है—(१) आभ्यान्तरीय (२) बाह्य। आभ्यान्तरीय विज्ञान आध्यात्मिक भावनाओं का प्रेरक और बाह्य बाह्य जगत का आभासक है। बाह्योन्मुख विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है और आभ्यान्तरीय विज्ञान आलय विज्ञान का स्वरूप है। इसी आधार पर लंकावतार सूत्र में सम्पूर्ण और निःस्वभाव विज्ञान के रूप निर्धारित किये गये है। सम्पूर्णभाव अनादि भ्रान्ति जन्य और मनोविजृम्भण मात्र हैं और निःस्वभाव भाव के प्रपंचमय अलातचक्र माया मरीचि और स्वप्न आदि के समान है।

---

६८ कुशल और अकुशल कर्म वासना के परिपाक से अपेक्षानुरूप फलाभिनिर्वृत्ति विपाक नाम का परिणाम है। सदा मनन करना क्लिष्ट मन का स्वभाव है इसलिए इसे मनन कहते हैं। विषयप्रत्ययावभास का ही नाम विषय विज्ञप्ति है। अलोभ अद्वेष अमोह ये कुशल कर्म है और द्वेष मोह लोभ ये अकुशल कर्म है। कुशल अकुशल कर्मों से भिन्न अव्याकृत कर्म है।
महामहोपाध्याय कविराज प० गोपीनाथजी, 'वेदान्त अंक' में 'शून्यवाद और विज्ञानवाद' लेख।

वस्तुत यह आलय विज्ञान चित्त परिणाम ही है । जागतिक सत्ता का अभाव है परन्तु आलय विज्ञान के सान्निध्य से उसके दृश्य और दृष्ट का भेद हो जाते हैं । ज्ञान दशा में दृष्ट और दृश्य भावों का अभाव हो जाता है । जागतिक आभास से रहित निराभास अवस्था होती है । यह निराभास अवस्था ही अद्वैत-तत्त्व है । स्वयं द्वैत विज्ञान सत्ता का स्फुरण नहीं होता । इस निराभास कोटि के उदय होने पर ही निर्वाण हो जाता है । अजातिवाद सिद्धान्त का सूत्रपात यहीं से होता है ।

सृष्टि तत्त्व अनादि है । परन्तु उसमें सद्भाव स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से उसमें एक प्रकार के स्वभाव की मान्यता देनी पड़ेगी । उसमें भ्रम भी आरोपित है क्योंकि अनस्तित्व होते हुए भी उसकी उपलब्धि होती है । मनोविकारों द्वारा उसका ग्रहण होता है । ऐसी दशा में असत्ता में भी एक मनोविजृम्भणयुक्त एवं भ्रान्ति जन्य सत्ता की स्वीकृति विज्ञानवाद में की गई है । किन्तु ये नि स्वभाव हैं क्योंकि स्वभावी होने से निर्वाण में इनका निरोध नहीं हो सकता । अस्तु सृष्टि और सृष्ट पदार्थों का प्रपञ्च-मय अलात चक्र गन्धर्वनगर मायामरीचि और स्वप्न से अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता है । विज्ञान परिणाम प्रतीत्य समुत्पन्न है अत विज्ञान में क्षणिकता का भी आरोप होता है ।

विज्ञानवाद के अन्तर्गत त्रिविध सत्यों की मान्यता दी गई है—परिकल्पित परतन्त्र और परिनिष्पन्न । प्रथम दो मिलकर संवृत्ति सत्य कहलाते हैं । समस्त जागतिक ग्राह्य ग्राहक स्वभावी पदार्थ परिकल्पित और परतन्त्र स्वभाववाले हैं । ये दूषित स्वभाव के हैं और निर्मूल कल्पनामात्र हैं । परिकल्पित सत्य स्वयं सम्भूत नहीं है वरन् हेतु और प्रत्यय-जन्य हैं । इनकी उत्पत्ति वस्तुत नहीं हुई है, अत ये अभूत परिकल्प्य भी कहलाते हैं । अभूत परिकल्प्य सत्ता के अन्तर्गत जगत में द्विविध पदार्थ उपलब्ध होते हैं—रूपयुक्त और अरूप । अरूप तत्व चित्त के हैं और सरूप चैत्य सांसारिक । तृतीय सत्य परिनिष्पन्न है । परिनिष्पन्न सत्य ही परमार्थ सत्य है । इस प्रकार विज्ञानवाद के अन्तर्गत व्यावहारिक और पारमार्थिक इन दो प्रकार की सत्ताओं की मान्यतायें स्पष्ट हैं । परिनिष्पन्न सत्य को भूत कोटि भी कहते हैं । इस परमार्थ स्वरूप परिनिष्पन्न सत्य का प्रतिबिम्ब संवृति सत्य माना जाता है । परिकल्पित और परतन्त्र स्वभावों के उच्छेद होने पर परिनिष्पन्न सत्य का ज्ञान होता है ।

ऊपर जिस प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान का उल्लेख हो चुका है उनमें पूर्व ता परिच्छिन्न आकारवाला है और उत्तर अपरिच्छिन्न है। वस्तुत प्रवृत्ति विज्ञान भी आलय विज्ञान के अन्तर्भूत है। आलय विज्ञान मन का आश्रय और आलम्बन दोनों ही है। आलय विज्ञान स्वत पराभिनिवृत्ति विपाक नाम का परिणाम है। क्लिष्ट मन में ही देहाध्यास विद्यमान है। इस देहाध्यास के सम्बन्ध में ही अहं मम आदि अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। चित्त और मन विज्ञान का ही समाएं है। अन्तर केवल स्थितिभेद से नाम स्याति का है। चित्त ही आलय विज्ञान का प्राणभूत तत्व है। चित्त के धर्मों के सम्प्रयोग से ये चार कोटि के बाह्यार्थपरक तत्व उत्पन्न होते हैं

१—अविद्या आत्ममोह।

२—आत्मदृष्टि सत्कायदृष्टि।

३—अस्मिमान आत्मभाव।

४—तृष्णा आत्मस्नेह।

ये विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत गृहीत हैं। विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत ही वितर्क विचार और मनन आते हैं। विषय विज्ञप्ति के छः प्रकार के विषय हैं। वस्तुत इन विषयों की स्थिति न होने के कारण इन्द्र विषय प्रत्यवभास कहते हैं। रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द और धर्म विषयोपलब्धि के ही विषय प्रत्यवभास हैं। विषय विज्ञप्ति दो प्रकार के धर्मोंवाली है। सर्वत्रग और विनियत। सर्वत्रग धर्म सर्वव्यापी कहे जा सकते हैं। ये हैं स्पर्श मनस्कार वित सज्ञा और चेतना। ये आलय क्लिष्ट मन और प्रवृत्ति विज्ञान में रहते हैं। विनियत धर्म केवल विषय में रहते हैं सर्वत्र नहीं। ये हैं—छन्द अधिमोक्ष स्मृति और धी अथवा प्रज्ञा। ये विषय विज्ञप्तियाँ ही विज्ञान के परिणाम हैं। ये परिणाम निःशेषतः एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं। ये सागर के फेन बुद्बुद आदि के समान एक दूसरे के अन्योन्याश्रय और स्वगत भेद से रहित हैं। त्रिंशिका के अनुसार भी विज्ञान एक अद्वैत प्रतिपादक सिद्धान्त प्रमाणित होता है।[६६]

विज्ञानवाद ज्ञानवादी चिन्तन धारा है। विज्ञानवाद केवल विज्ञान सत्ता को मानते हुए भी साधनादि पक्ष में शून्य बुद्धि का तिरस्कार नहीं करता। बाह्यार्थ का अस्तित्व चाहे क्षणिक हो अथवा शून्य किन्तु व्यवहार में उसका निषेध नहीं किया जा सकता। प्रविचय ज्ञान है और प्रतिष्ठापिका व्यवहार बुद्धि। प्रतिष्ठापिका बुद्धि लक्षण दृष्ट हेतु और भावों का विषय करती है।

मत इसे ह्य बुद्धि भी कहा जाता है। प्रविचय बुद्धि उपादेय है। इससे ही तत्व ग्रहण होता है। यह स्वसदादि चार कोटियों से मुक्त बुद्धि है। इससे परमार्थ ज्ञान होता है। प्रतिष्ठापिका बुद्धि के विषयभूत सत्वादि मिथ्या आरोप के कारण हैं। इस मिथ्या आरोप को समारोप भी कहते हैं जिसका निरसन प्रविचय बुद्धि से होता है। इससे ही ज्ञान की उपलब्धि होती है।

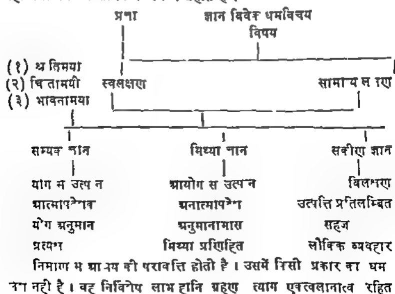
आलय विज्ञान अनादि वासनाओं का संघ है। इसमें अविद्या मिथ्या दृष्टि और अभिनिवेश संलग्न हैं। इनका संशोधन ज्ञान के द्वारा होता है। इनके अन्तर्गत अज्ञान की स्थिति है। अज्ञान से आत्मा जीव जन्तु मनुष्य आदि उपचार कर लिए जाते हैं। ये आत्मोपचार कहलाते हैं। स्कन्ध धातु, आयतन रूप वासना तथा संस्कार और विज्ञान ये धर्मोपचार हैं। उपचार विज्ञान के परिणाम हैं। इन सब धर्मों की सत्ता विज्ञान से बाहर नहीं कही जा सकती। इन धर्मों के द्वारा आत्मा या धर्म निर्दिष्ट नहीं होते और न विज्ञान परिणाम के अतिरिक्त आत्मा या धर्म कहा जा सकता है। अन्य अन्यथा भाव का नाम ही परिणाम है। आत्मा या धर्म विज्ञानबहि नहीं है और न उसका स्वरूप मात्र है। इस प्रकार विज्ञान और विषय दोनों ही परमार्थिक सत्य नहीं हैं। ये धर्म परिकल्पित हैं अतः ये उपचार मात्र से अधिक कुछ नहीं कहे जा सकते। इन उपचारों और अज्ञान की स्थिति आलय विज्ञान में है। इस अज्ञान के निवारण हेतु सम्यक ज्ञानरूप धर्म की प्राप्ति का प्रयत्न करना आवश्यक है। सम्यक ज्ञान की प्राप्ति के लिए आलय संशोधन विकल्प परिहार होता है। इसको ही आश्रय परावृत्ति कहते हैं। विज्ञानवाद इस प्रक्रिया में चार प्रकार की दृष्टियों को स्थान देता है —

१ उच्छेद दृष्टि
२ शाश्वत दृष्टि
३ भव दृष्टि
४ अभव दृष्टि

उक्त दृष्टियों से अज्ञान के स्वरूप, स्थिति और अज्ञान के कारणों का ज्ञान होता है। साधक इनके द्वारा आलय-संशोधन अथवा विकल्प परिहार कर लेता और तथता अथवा पारमार्थिक ज्ञान का अधिकारी हो जाता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय छठा अन्तर्मविज्ञान सातवाँ विज्ञान और आठवाँ आलय विज्ञान ये आठ संस्कृत धर्म हैं। संस्कृत धर्म संस्कारों द्वारा प्रादुर्भूत होते हैं और असंस्कृत उनके निरोधक होते हैं। असंस्कृत धर्म के निरोध से

तथता की उपलब्धि होती है। ज्ञान लाभ के लिए ज्ञेयावरण और क्लेशावरण दोनों की निवृत्ति आवश्यक है। इन आवरणों के निराकरण के हेतु नैरात्म्य दृष्टि आवश्यक है। धर्म नैरात्म्य से ज्ञेयावरण निराकृत होता है और सर्वज्ञत्व भाव अधिगत होता है। पुद्गल नैरात्म्य से सत्कायदृष्टि का तिरोधान होकर देहात्मबोध की निवृत्ति होती है और उससे क्लेशों से मुक्ति मिलती है। यही मुक्तावस्था है। विज्ञानवादी बौद्ध इस नैरात्म्य सिद्धान्त को इसलिए मानते हैं कि आत्म भावना से ही राग और द्वेष की निष्पत्ति होती है। इस ज्ञान के प्रज्ञा विवेक धी प्राप्ति अनेक नाम हैं। इस ज्ञान के द्विविध विषय हैं — स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। इसको ही धर्म प्रविचय कहते हैं। प्रज्ञा के द्वारा धर्म प्रविचय करने से संशय निवृत्ति होती है। इसके तीन रूप हैं— सम्यक् मिथ्या और संकीर्ण। सम्यक् ज्ञान आत्मोपदेश अनुमान और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है। ये ही योगाचारों के योग हैं। मिथ्या ज्ञान अयोग से उत्पन्न होता है। इसमें अनात्मोपदेश अनुमानाभास और मिथ्या प्रणिहित विषय आते हैं। संकीर्ण ज्ञानविलक्षण ज्ञान कहलाता है। यह संकीर्ण ज्ञान उत्पत्ति प्रतिलम्बिक ज्ञान सहज ज्ञान और लौकिक व्यवहार ज्ञान कोटियों में रखा गया है। प्रज्ञा तीन प्रकार की है—श्रुति चिन्ता और भावनामयी। इसकी निष्पत्ति क्रमश: आप्तवचन बोध युक्ति प्रयोग उत्पन्न बोध और समाधिजन्य बोध से होती है। यहाँ प्रज्ञा परमार्थ साधन के रूप में गृहीत है।



निर्माण में आश्रय की परावृत्ति होती है। उसमें किसी प्रकार का धर्म नहीं है। वह निर्विशेष लाभ हानि ग्रहण त्याग एकत्वनानात्व रहित

तत्व है। निर्वाण में सत्ता का ध्वंस नहीं होता, केवल आश्रय की परावृत्ति होती है। निर्वाण की अवस्था में संसार का आत्यन्तिक क्षय नहीं होता। विज्ञानवादियों के अनुसार संसार और निर्वाण में भेद नहीं है। यहाँ बोधिसत्व में ईश्वर भावना का आरोप होता प्रतीत होता है। वे महाकरुणा उपाय और अनाभोगचर्या द्वारा संसार को देखते रहते हैं और सूर्य की किरणों के समान पक्षपातरहित होकर सर्वत्र स्थित हैं। वे संसार प्रपंच और मायामयता से भिन्न हैं। चित्त से बाहर जागतिक परिणति नहीं है यह भी वे जानते हैं। चित्त से निवृत्त होकर ज्ञानात्म हो जाता है। सृष्टि में अजाततत्व का अनुभव होता है। यही ज्ञान की पूर्णावस्था है। चित्त के निराकार होने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यही निर्वाण और शून्यता की अवस्थिति है[1]।

शाङ्कर अद्वैत दर्शन के अनुरूप विज्ञानवाद के अन्तर्गत अविद्या माया विज्ञान धर्म्य निर्वाण-शून्यता आदि अनेक तत्व हैं। बाह्यार्थ निषेध अन्तर्मुखी परम सत्य का प्रतिपादक है। यद्यपि इसमें शाङ्कर अद्वैतवाद के अनेक तत्त्वों का अभाव भी है। परन्तु विज्ञानवाद अपने में पूर्ण स्वतन्त्र अद्वैत दर्शन है। साधना पक्ष में योग का आश्रय लिया गया है जिसकी अनुभूति समाधि के द्वारा होती है। विज्ञानवाद का विचार आचार्य शङ्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य और उपनिषद् भाष्यों में किया है।

आचार्य शङ्कर विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रधानतः उसके बाह्यार्थ अभाव पर आपत्ति करते हैं। बाह्यार्थों के अभाव में प्रमाण प्रमेय व्यवहार अनुपपन्न होगा। इस आशंका के उत्तर में पूर्वपक्षी का कथन है कि सब व्यवहार अन्तःस्थ है[2]। यह अन्तःस्थ व्यवहार विज्ञान के अन्तःस्थ है और विज्ञान ही बुद्धि में आरूढ़ होता है[3]। बाह्यार्थ के होते हुए भी यदि वह बुद्धि में आरूढ़ न माना जायगा तो भी व्यवहार निष्पन्न नहीं हो सकते[4]। इस सम्बन्ध में विज्ञानवादी परमाणु सिद्धान्त का खण्डन करके बाह्यार्थ निषेध करते हैं और अजाति का सिद्धान्त पुष्ट करते हैं। यदि यह कहा जाय कि अनुभव से सब विषयों में साधारण ज्ञान होता है तो घट-पटादि की सा

---

१ ननु असति बाह्यार्थे मानमेयव्यवहारः कथम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।
रत्नप्रभा अधिकरण ५ सूत्र २८, अध्याय २, पाद २।

२ सर्वव्यवहार अन्तःस्थ। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८।

३ विज्ञानवाद बुद्ध्यारूढ़न। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।२।२८।

४ बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।२।२८।

विषमता तुल्य न होगी। ऐसी दशा में विशेष का ज्ञानगत ही माना गया है और ज्ञान और विषय का सादृश्य कहा गया है[५]। इस प्रकार विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्यार्थ का सद्भाव व्यर्थ है। विषय और विज्ञान की एक साथ उपलब्धि होने से उनमें अभेद है। यदि ज्ञान और ज्ञेय में से एक का भी अभाव होगा तो किसी की भी उपलब्धि न हो सकेगी[६]।

आचार्य शङ्कर उत्तर पक्ष में उक्त विचारों का खंडन करते हैं। बाह्यार्थ भाव की प्रतिष्ठा करते हुए वे कहते हैं कि बाह्यार्थ जगत का प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए भी उसका निषेध करना तो उसी प्रकार है जिस प्रकार भोजनोपरान्त तृप्ति का अनुभव करता हुआ व्यक्ति कहे कि वह भोजन नहीं करता और न तृप्ति का ही अनुभव करता है[७]। उपलभ्यमान पदार्थों का अस्वीकृत करना तो उसी प्रकार का कथन होगा जैसे कोई यह कहे कि विष्णुमित्र बन्ध्या पुत्र सा भासता है[८]। पूर्वपक्षी विज्ञानवादी ने बाह्यार्थाभाव के सम्बन्ध में प्रमाणादि की आवश्यकता नहीं समझी थी। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से एक प्रमाण होने पर भी बाह्यार्थ की प्रतीति सिद्ध होती है। इस प्रकार विज्ञानवाद का बाह्यार्थ चाहे अभाव ही क्यों न हो परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार जगत तो है ही[९]। आचार्य शङ्कर बाह्यार्थ की उपलब्धि स्वाभाविक मानते हैं।[१०] विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान और विषय में अभेद की स्थिति आचार्य शङ्कर नहीं मानते। वे उसे उक्त भेद हेतुक मानते हैं[११]। इसके अतिरिक्त अर्थ और ज्ञान में भेद की निष्पत्ति है। यह भेद विशेषणगत है विशेष्य नहीं। ऐसे कृष्ण गाय और श्वेत गऊ के गात्व में तो भेद नहीं है

---

५ चानुभवमात्रेण ज्ञानगत विशेषमन्तरेणाधिगन्——विषयसारूप्य ज्ञानस्याङ्गी कर्तव्यम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

६ सहोपलम्भनियमाच्चभेद——नयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

७ भुञ्जानो भुजि-साध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेव ब्रूया नाऽहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति तद्वदिन्द्रिय सन्निकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन कथमुपादेयवचनः स्यात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

८ नाहं विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

९ यदि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तत् सम्भवति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

१० इदं तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैः बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

११ अतश्च विषयोपायोपेयभावहेतुक नाभेदहेतुक। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।२८।

तो वहां शङ्कर सम्मत सिद्धांत की सिद्धि होगी[१९]।

आचार्य शङ्कर की अन्य आपत्ति यह है कि विज्ञानवाद में स्वप्न और जाग्रतादि भेद का निर्वचन युक्ति संगत नहीं है। स्वप्न और जाग्रत दोनों भिन्न हैं क्योंकि दोनों के धर्मों में वैधर्म्य है[२०]। स्वप्न में उपलब्ध वस्तु बाधित और जाग्रत की अबाधित होती है[२१]। स्वप्न और जाग्रत का भेद करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जो स्वप्न में दर्शन है वह स्मृति है और जो जाग्रतावस्था में दर्शन है वह उपलब्धि है। प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है।[२२] पुत्र का स्मरण करना पुत्र की उपलब्धि नहीं है।

वासना वैचित्र्य से विज्ञानवाद में ज्ञान वैचित्र्य की उपलब्धि पिछले प्रसंग में कही जा चुकी है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अर्थ के बिना (बाह्यार्थ) वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती है[२३]। बाह्यार्थ की अस्वीकृति के साथ यदि अनादि वासना मानी जायेगी तो वह अन्ध परम्परा मात्र होगी और अनवस्था दोष आयेगा[२४]। वासना को संस्कार विशेष कहा गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर की युक्ति है कि संस्कारों का आश्रय होना अनिवार्य है। परन्तु संस्कार के आश्रय का विज्ञानवाद में कथन नहीं है। अतः वासना निराश्रय है क्योंकि प्रमाण से अनुपलब्ध है। इस प्रकार वासना सिद्धांत युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता[२५]। विज्ञानवादी आलय विज्ञान को वासनाश्रय मानते हैं परन्तु आचार्य शङ्कर का मत है कि आलय विज्ञान के अन्तर्गत क्षणिकत्व को स्वीकार करने से वस्तु का अस्थिर स्वरूप प्रतिष्ठित होगा। प्रवृत्ति

१९ साक्षि प्रत्ययश्च स्वभावे धर्म्यानुपलम्भ प्रसङ्गाभावात् । विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तस्यात् । अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो न प्रदीपवदवभासान्तरापेक्षा तु स्वयंप्रसिद्धि । ... प्रदीपवदिति ... | ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।२८।

२० वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । ब्रह्मसूत्र ।२।२।२९।

२१ बाधाबाधौ विशेषः । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।२९।

२२ अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसम्प्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।२९।

२३ स्वपक्षेऽनुपपत्तेरर्थानाभावात् विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।३०।

२४ अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।३०।

२५ वासनाश्च नाम संस्कारविशेषाः संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।३०।

भी स्थिरता के समान वासनाओं का आधार नहीं हो सकता[६]। ऐसी दशा में एक अचल और सर्वानुगामी कूटस्थ तत्व की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना इस ज्ञान निमित्त की अपेक्षा से वासनाओं का आधान असम्भव होगा। एवं कूटस्थ और सर्वानुगामी तत्व के बिना देश काल स्मृति और सर्वानुभव आदि व्यवहारों का प्रवर्तन नहीं बन सकता[७]। इसके अतिरिक्त आलय विज्ञान को स्थिर स्वभाव मानने से विनाश सिद्धान्त खण्डित हो जायगा[८] और शङ्कर मत की सिद्धि होगी।

ईसा की चौथी शताब्दी में असंग और वसुबन्धु का प्रादुर्भाव माना जाता है[९]। महायान बौद्ध शाखा के अन्तर्गत इस विज्ञानवाद का विकास हुआ। इसमें एक अद्वय चरम सत्ता स्वीकार की गई थी[१०]। त्रिंशिका के अनुसार यह तत्व चिन्मात्र है। यह शुद्ध तत्व है और अचिन्त्य है[?]। यह चैतन्य शुद्ध अविनाशी और अवचनीय है। यह ... और ... है। यह सब आत्माओं में व्याप्त है और सबमें अद्वितीय है[११]। आलय विज्ञान के अन्तर्गत चित्त की स्थिति है ... ... नहीं है। वासनाओं के द्वारा चित्त दृश्य जगत में परिवर्तित होता है ... । डा० राधाकृष्णन का मत है कि आलय विज्ञान में चरम पूर्णता, शुद्धता और रचनात्मकता है। यह चैतन्य स्वतः एक ज्ञाता ... और ... में विभक्त नहीं होता। प्रारम्भ ... अविद्या ... ... और ... में पुन ... हो जाते हैं। यहाँ समस्त अविद्या का अधिष्ठान है। यह चरम और पूर्ण ज्ञान है। जहाँ इस अवस्था में कुछ जाना नहीं जाता और किसी विषमता

६ ... ... । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।।।।

७ ... ... । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।३१।

८ ... ... । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।३१।

९ *Philosophical Essays* page 10

१० ...

१२ *Indian Philosophy* page 631

का अनुभव न्‌ा ाना [३]। अविद्या द्वारा उ पन पाथ ग ुद्ध तन्य का विवत नहीं करते । डा० राधाकृष्णन का मत है कि य ो उत्तरकालीन वदान्त का विवर्त वाद प्रस्तुत होता जान पड़ता है [३] । आचार्य शङ्कर विज्ञानवाद मे आलय विज्ञान सिद्धान्त को क्षणिक कहते है [३४]। उनके अनुसार विषय और ज्ञान म भेद होने से अयथार्थत्व प्रतीत होता है। एक क अभाव म ही दोनो का अभाव होने से आचार्य शङ्कर का तात्पर्य ज्ञान पड़ता है। परन्तु डा० राधाकृष्णन और डा० दास गुप्त आदि विद्वानो न इस दिशा म ध्यान नही दिया। विंशिका त्रिंशिका के सिद्धान्तो को डा० दास गुप्त वेदान्त के निकट मानते हैं और डा० राधाकृष्णन आलय विज्ञान चैतन्य म विवर्त की सम्भावना मानते है [३६]।

क्षणिकता का सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पादवाद म दृढ़ता से ग्रहीत है। सदिग्ध पदार्थों के सम्बन्ध में विज्ञान और शून्यवाद मे प्रतीत्य समुत्पन्न क्षणिकता ग्रहीत है। क्षणिकता के सम्बन्ध मे लकावतार सूत्र मे भी कोई हठधर्मी प्रत्यक्ष नहीं होती [३७]।

वेदान्त और विज्ञानाद्वैत में साम्य प्रत्यक्ष करने की आकाक्षा विद्वानो की जान पड़ती है [३८]। शान्ति भिक्षु के अनुसार आलय के सम्बन्ध में कथित की प्रकृति बादरायण का ब्रह्म और वसुबन्धु का विज्ञान सर्वबीजत्व एक रूप है [३९]।

३३ *Ind n Pl l opl y* page 631

३४ We s em to ha e what later V danta calls Vivart ad or phenomenalism *Ii l an Ph l s pl y* p e 641

३५ विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य

ब्रह्मसूत्र भाष्य। अध्याय २ पाद २ अधिकरण ५ सूत्र २१।

३६ *Phil pl cal I say* Philosoply of Vasubandhu in Vimsika a d Trims ka

३७ *Ind an Phil sopl y* page 641

३८ महायान धर्म में शान्ति भिक्षु।

३९ सर्वबीज होने के कारण ही इसे आलय विज्ञान कहते हैं। शान्ति भिक्षु।

विज्ञान का महायान में कथन है —

विज्ञान परिवर्तनशील है क्योंकि वह प्रतीत्य समुत्पन्न है। किन्तु ब्रह्म ध्रुव। यद्यपि बादरायण द्वारा वह 'आत्मकृते परिणामात् तमायस्य थन' कहकर परिणामशील कहा गया है।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त और बाह्य सत्ता का निषेध किया पर व्यवहार नहीं चल सकता था। उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार औपचारिक माना। आचार्य शंकर ने आगे चलकर इसी को अ दाम अविद्या या माया कहा है।

किन्तु इस सम्बन्ध में कोई मत स्थिर नहीं किया जा सकता क्योंकि ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शङ्कर ने विज्ञानवाद का खण्डन किया है। हम इसी प्रकरण के पिछले पृष्ठों पर इस सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। विज्ञानवादियों का विज्ञान क्षणिक है। किन्तु वेदान्त का लक्ष्य एक कूटस्थ नित्य ब्रह्म की स्थापना करना है।



तृतीय प्रकरण

वेदान्त दर्शन का स्वरूप

प्रबन्ध के पिछले पृष्ठों पर हमारे दर्शन के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत विज्ञानवाद और शून्यवाद का विवेचन किया गया है। इसी क्रम में इन आगामी पृष्ठों पर ब्रह्मसूत्रों का स्वरूप और तत्सम्बन्धी दार्शनिक सामग्री प्रस्तुत की जा रही है। अद्वैत दर्शन के इस विकासक्रम में वैदिक और अवैदिक बौद्धों की विचारशैली और साधना का परिचय मिलता है। विषय के मूलभूत तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन ही यहाँ हमारा लक्ष्य है। अब हम क्रमशः वेदान्त और आचार्य शंकर के दार्शनिक विचार क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे।

वेदान्त शब्द वैदिक चिन्तन परम्परा के अन्तिम चरण का सूचक है। वेद शब्द का निर्वचन 'विद्यते इति वेदः', 'वेत्ति इति वेदः' और 'विन्दति इति वेदः' इन तीन प्रकार से गृहीत हो सकता है। सत्तार्थक 'विद्' धातु से विद्यते, ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से वेत्ति और लाभार्थक 'विद्' धातु से विन्दति शब्द व्युत्पन्न होते हैं। ये शब्द वैदिक ज्ञान की नित्यता, चैतन्य सत्य और आनन्द स्वरूप का निरूपण करते हैं। इस प्रकार वेद शब्द एक दार्शनिक महत्ता का बोधक है। वेद के प्रायः दो भेद स्वीकृत हैं मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्रों का समुच्चय संहिता कहलाता है और मन्त्रादि के विनियोग के प्रकाशक भाग को ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को ही आरण्यक कहा जाता है। आरण्यकों के भी अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। ये उपनिषदें ही वेद के अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त कहलाती हैं। वेदान्त-दर्शन और वेदान्त सूत्र दोनों के स्वरूपों में सन्देह हो सकता है। इस हेतु वेदान्त दर्शन का नाम ब्रह्मसूत्र अधिक उपयुक्त है। ब्रह्मसूत्र के संकलन काल और उपनिषदों के अस्तित्व में आने के समय में अन्तर है। वेदान्त दर्शन के सूत्र रूप में आने की घटना उतनी प्राचीन नहीं है जितनी उपनिषदों की। गीता में वेद को त्रैगुण्य विषयक कहा गया है और उसको ही त्रयीधर्म भी कहते हैं। वाणी आदि क्रियाओं

के समाप्त हो जाने पर अनुभवगम्य सत्य का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार नयीयस प्रधान कर्म काण्ड की समाप्ति पर ज्ञानोदय की अवस्था का प्रतिपादन करना इन उपनिषदों का उद्देश्य है। इस भाँति भी उपनिषदों का दर्शन सत्ता प्राप्त करना सार्थक है। मीमांसा शास्त्र की प्रणालियों में स्पष्ट है—उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा। पूर्व मीमांसा साधना का पूर्वरूप है। इसमें कर्म की अनिवार्यता स्वीकृत है। वेदान्त सूत्रों को उत्तर मीमांसा कहते हैं। दोनों मीमांसायें वस्तुतः उपासना की भिन्न भिन्न प्रणालियों का प्रतिपादन करती हैं। पूर्व मीमांसा संहिताओं और आरण्यकों में वर्णित कर्मकाण्ड प्रणालियों का पक्ष लेती है जबकि उत्तर मीमांसा उपनिषदों में निर्धारित ज्ञान-साधना का प्रचारक है। इस हेतु भी पूर्व और उत्तर मीमांसा दोनों में साधना के प्रारम्भिक और अन्तिम रूपों का दिग्दर्शन होता है। इसलिए भी वेदान्त नाम की सार्थकता है। वेद का प्रतिपाद्य स्वर्ग है जिसके भोग-क्षय के अनन्तर जीव को आवागमन में पुनः पुनः पड़ने की सम्भावना रहती है। परन्तु वेदान्त का लक्ष्य कैवल्य मोक्ष है जहाँ जीव ब्रह्म के साथ जल में लवण के समान एकीभूत हो जाता है। वहाँ से उसकी आवृत्ति नहीं होती है। वेदान्त जीवन यात्रा का अन्तिम चरम लक्ष्य लेकर अग्रसर होता है। अस्तु इस प्रकार से भी उत्तर सम्बन्ध में वेदान्त नाम सार्थक प्रतीत होता है।

अब हम यहाँ ब्रह्म-सूत्र का परिचय देते हैं। उपनिषदों के सिद्धान्तों का संकलन वेदान्त दर्शन में किया गया है। वेदान्त दर्शन का लक्ष्य ब्रह्म की प्रतिष्ठा करना है। इसके अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का प्रारम्भ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा इस सूत्र से हुआ है। अतः वेदान्त-दर्शन को ही ब्रह्म-सूत्र कहते हैं। ब्रह्म-सूत्र ही वेदान्त दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता इस रूप में देखी जा सकती है कि इसमें अन्यान्य दर्शनों का खण्डन किया गया है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन के अन्तर्गत वेदान्त-दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों—सांख्य मीमांसा न्याय, वैशेषिक और योग दर्शन एवं बौद्ध चार्वाक आदि अन्य नास्तिक दर्शनों का खण्डन ब्रह्म-सूत्रों में मिलता है। अतः अन्य मतों का खण्डन और ब्रह्म के स्वरूप की प्रतिष्ठा होने के कारण वेदान्त-दर्शन ही ब्रह्म-सूत्र कहलाता है। ब्रह्म सूत्र आत्मा के बन्धन-कारण—शरीर—का निराकरण करता है। अतः इसे ही शारीरिक सूत्र भी कहते हैं।

ब्रह्म-सूत्र अथवा वेदान्त दर्शन चार भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग अध्याय नाम से अभिहित किया जाता है। प्रत्येक अध्याय के चार चार पाद

अथवा उपखण्ड हैं। इस प्रकार पुन मिलाकर सोलह पादों में वेदान्त दर्शन विभक्त हुआ है। वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि सभी वेदान्त वाक्य अद्वैत ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हैं। अत इस अध्याय को समन्वयाध्याय कहते है। इस अध्याय में उपनिषदों में ब्रह्म के सम्बन्ध में बिखरे हुए अनेक विचारों को एकत्रित किया गया है और अन्त में यह निश्चय किया गया है कि वस्तुत समस्त उपनिषद् वाक्य ब्रह्म स्वरूप की प्रतिष्ठा एक रूप में ही करते है और उनमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म स्वरूप की प्रतिष्ठा का एक समन्वय हमको वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय में मिलता है। वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय में सांख्य वैशेषिक योग आदि एव बौद्ध चार्वाक, आदि जैन नास्तिक मतों की आलोचना की गई है। अनेक प्रकार के विरोधों का उत्तर उपनिषदों में प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के आधार पर दिया गया है। अत दूसरे अध्याय को अविरोधाध्याय कहते हैं। वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय को साधनाध्याय कहते हैं। इस अध्याय में अनेक उपनिषद्-सम्मत विद्याओं और उपासनाओं का उल्लेख हुआ है। ये विद्यायें और उपासनायें साधना क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। अत इस अध्याय को साधनाध्याय कहते हैं। वेदान्त दर्शन का चौथा अध्याय फलाध्याय है। इस अध्याय में साधकों के अधिकार के अनुसार और अनेक विद्याओं के अनुसार फल प्राप्त होना कहा गया है अत इस अध्याय को फलाध्याय कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान का फल निर्दिष्ट करने के कारण भी इस अध्याय को फलाध्याय की संज्ञा दी गई है।

वेदान्त दर्शन प्रस्थानत्रयी का तर्क प्रस्थान कहलाता है। इस प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद् गीता और ब्रह्मसूत्र आते हैं। उपनिषद श्रुति प्रस्थान कहलाती है। वेदान्त दर्शन में श्रुति को प्रमाण माना गया है[1]।

इसके अतिरिक्त गीता महाभारत एव पुराणों के आधार स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत हैं। वेदान्त सूत्रों में इसीलिए स्मृति प्रस्थान का महत्व स्वीकार

१ वेदान्त दर्शन सूत्र १।१।११।
२।१।२६।
३।४।४६।
।१। ७।
२। ।२६।
३।३।२४।

किया गया है[२]। वेदान्त दर्शन अतः तर्क प्रस्थान कहलाता है। इसका कारण है कि सांख्य दर्शन का विरोध करके पुरुष प्रकृति सिद्धान्तों का खण्डन करके ब्रह्मकारणवाद की प्रतिष्ठा वेदान्त-सूत्रों में की गई है[३]। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का खण्डन करके ब्रह्म अथवा सत्कार्यवाद की स्थापना इन सूत्रों में की गई है[४]। बौद्ध दर्शन का खण्डन भी इन सूत्रों में किया गया है[५]। इसी प्रकार जैन दर्शन की भी आलोचना इन सूत्रों में उपलब्ध होती है। पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों की मतविप्रतिपत्तियों के प्रति भी इन सूत्रों में तर्क और खण्डन किया गया है[७]। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदान्त-सूत्रों में अन्यान्य मतों का खण्डन युक्ति-पूर्वक किया गया है। अतः इसको ही तर्क प्रस्थान कहते हैं।

अब हम यहाँ ब्रह्म-सूत्रों के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचना करेंगे। प्रस्तुत निबन्ध का लक्ष्य शङ्कर मत व वेदान्त के सिद्धान्तों का विचार करना है। इस सम्बन्ध में हम प्रस्तुत प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में सविस्तार विचार करेंगे। यहाँ हम केवल ब्रह्मसूत्रों की रचना का विचार मात्र करते हुए प्रस्तुत प्रकरण को समाप्त करेंगे।

ब्रह्म सूत्रों के अनुसार ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय का कारण है[८]। ब्रह्म परा और अपरा इन दो प्रकृतियों से युक्त है[९]। इन प्रकृतियों द्वारा ही ब्रह्म सृष्टि करता है। ये प्रकृतियाँ ब्रह्म के अधीन हैं[१०]। ब्रह्म मूर्त और अमूर्त लक्षणों से युक्त है। किन्तु ब्रह्म का मूल स्वरूप औपाधिक नहीं

२ ब्रह्मसूत्र, २।१।४७, ३।१।१८ ४।१।१, ४।१।१४, १।१।१ १।२ २।१६, ४।१।११।

ब्रह्मसूत्र १।१।१२ १, १३ १४, १५ १ १७ १८, १९ २० २६, ०।

४ ब्रह्मसूत्र, १।२।११ १० तक।

५ ब्रह्मसूत्र, १।१।१८ २ तक।

६ ब्रह्मसूत्र, २।१ ६ तक।

७ ब्रह्मसूत्र २।१।० ४१ तक।

८ ब्रह्मसूत्र, १।१।२।

९ ब्रह्मसूत्र, २।२।८ ३।१।११

१० ब्रह्मसूत्र १।४।

है[11]। वस्तुतः ब्रह्म निर्गुण ही है[12]। ब्रह्म का स्वरूप अनिर्वचनीय है[13]। जीव ब्रह्म का ही अंश है[14]। जीव नित्य ब्रह्म स्वरूप है और उसके जन्म मरण एवं शारीरादि सम्बन्ध मिथ्या है[15]। जीवात्मा विभु अथवा व्यापक है[16]। ज्ञान द्वारा ही जीव ब्रह्म स्वरूप में स्थित होता है[17]।

ब्रह्म विद्या कर्मों का अंग नहीं है[18]। ज्ञानी लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है[19]। कर्म का नाश होने पर ही प्राणी की मुक्ति होती है[20]। शमादि साधन ज्ञान में सहायक हैं[21]। ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता[22]।

इस प्रकार हमने ब्रह्मसूत्रों में आये सिद्धान्तों का सूक्ष्म एवं संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है। अब हम प्रस्तुत प्रबन्ध के आगामी पृष्ठों में इन सिद्धान्तों का आचार्य शङ्कर के दार्शनिक विचारों के साथ साथ विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

---

११ ब्रह्मसूत्र १।२।११ … २६ तक।
१२ ब्रह्मसूत्र ३।२।१४।
१३ ब्रह्मसूत्र ३।२।२२।
१४ ब्रह्मसूत्र, २।३।४३।
१५ ब्रह्मसूत्र २।४।२६।
१६ ब्रह्मसूत्र २।३।२९।
१७ ब्रह्मसूत्र, ३।२।४७।
१८ ब्रह्मसूत्र ३।४।१ से ५ तक।
१९ ब्रह्मसूत्र, ४।१।१६ १७।
२० ब्रह्मसूत्र, ४।१।१९
२१ ब्रह्मसूत्र, ३।४।२७।
२२ ब्रह्मसूत्र ४।४।२२।

द्वितीय खण्ड

शाङ्कर अद्वैत दर्शन का सिद्धान्त पक्ष

परिचय

प्रस्तुत प्रबन्ध के इस खण्ड में हम शाङ्कर अद्वैत दर्शन पर विचार करेंगे। यह खण्ड हमारे प्रबन्ध का सिद्धान्त पक्ष है। यहाँ हम शाङ्कर अद्वैत वेदान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। इस खण्ड में मुख्यतः शाङ्कर अद्वैत दर्शन के उन्हीं अंगों का विवेचन किया गया है जिनका सम्बन्ध सत्कार्यवाद से है। इस सम्बन्ध में शाङ्कर अद्वैत दर्शन की व्याख्या को ध्यान में रखकर तत्सम्बन्धी मूल तत्वों का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। उक्त तत्वों की योजना इस प्रकरण में इस क्रम से होगी —

(१) ब्रह्म का स्वरूप।

(२) सृष्टि माया अविद्या अध्यास और प्रकृति का स्वरूप।

( ) आत्मा अथवा जीव का स्वरूप।

उपर्युक्त क्रम में हम शाङ्कर सिद्धान्त के चिन्तन पक्ष का अध्ययन करेंगे। तदुपरान्त शाङ्कर सिद्धान्त के साधना पक्ष का विवेचन इस क्रम से उपलब्ध होगा —

(१) ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप।

(२) विद्या का स्वरूप।

(३) कर्म का स्वरूप।

(४) उपासना और भक्ति का स्वरूप।

ऊपर दिए हुए क्रम के उपरान्त हम नीचे लिखे तत्वों पर विचार करेंगे। आचार्य शंकर के अनुसार ये तत्व ज्ञान साधना के साधक हैं —

(१) आचार्य अथवा सद्गुरु।

(२) ज्ञान।

(३) श्रुति, युक्ति और अनुभव।

(४) साधन चतुष्टय।

शाङ्कर अद्वैत दर्शन के इन मूल तत्वों पर विचार करके हम निर्गुण सन्त काव्य के प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश करेंगे।

प्रथम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म स्वयं सिद्ध, सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सगुण निर्गुण और मन-वाणी का अविषय है। उपासना भेद से उसके स्वरूप में औपाधिकता एवं अनेकरूपता है। सृष्टि का कर्ता होकर भी वह अकर्ता है एवं अविद्या तथा माया का अधिष्ठान होते हुए भी तज्जन्य विकारों से मुक्त है। इन्हीं अनेक विषयों का प्रतिपादन यहाँ पर किया गया है। प्रधानतः विषय की आधारभूत सामग्री, ब्रह्मसूत्र उपनिषद् और गीता तथा उनके भाष्यों से ग्रहीत है।

शङ्कर के अनुसार ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति बृह् धातु से हुई है। बृह् धातु के अनुसार नित्य शुद्ध इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती है।[1] रत्न प्रभा टीका के अनुसार ब्रह्म शब्द बृहि वृद्धौ धातु से व्युत्पन्न हुआ है। उक्त टीका के अनुसार ब्रह्म वृद्धि अवधि रहित महत्स्वरूप है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप में संकोच का अभाव है। इस प्रकार बृंहणात् ब्रह्म, व्युत्पत्ति के अनुसार, अर्थात् व्यापक होने से ब्रह्म कहलाता है। इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म में देश, काल वस्तु आदि से अपरिच्छिन्नता, रूपनित्यता लक्षित होती है[2]। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ब्रह्म शब्द से विकासशील महान् रूप एवं परिच्छिन्नता रहित अथवा संकोच रहित सत्य की प्रतिष्ठा की गई है।

---

१ ब्रह्म शब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य शुद्धत्वादयोऽर्था प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। ब्रह्म सूत्र भाष्य १।१।१।

२ स च अर्थो महत्त्वरूप इति व्याकरणात् निश्चीयते 'बृहि वृद्धौ' इति स्मरणात्। स च वृद्धि निरवधिक महत्त्वमिति संकोचकाभावात्। अतो बृंहणाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकाल वस्तुतः परिच्छेदाभावरूपं नित्यत्वं प्रतीयते। ब्रह्मसूत्र भाष्य। रत्नप्रभा टीका १।१।१।

शङ्कर ने ब्रह्म के स्वरूप निश्चय के सम्बन्ध में यह शंका प्रस्तुत की है कि ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध । यहाँ प्रसिद्ध शब्द से ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान विवक्षित है। 'यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है तो उसके ज्ञान की इच्छा करना व्यर्थ है। यदि अप्रसिद्ध है और उसके अस्तित्व का ज्ञान वस्तुतः प्राणी को नहीं है तो भी ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान की अभिलाषा निराधार है। शङ्कर इस सन्देह का निराकरण करते हुए निश्चित करते हैं कि ब्रह्म प्रसिद्ध है और ब्रह्म नित्य शुद्ध, मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न है। अतः निश्चित होता है कि ब्रह्म अस्तित्व रूप में ज्ञान का लक्ष्य है[३]।

अब यहाँ पुनः सन्देह होता है कि यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है और उसके अस्तित्व का ज्ञान सबको है तब जगत व्यवहार में ब्रह्म के स्वरूप की प्रतीति नहीं होती प्रत्युत संसार के अनेकात्मक पदार्थों का ही प्रत्यक्ष अनुभव सबको होता है। अतः यह कैसे निश्चय हो कि ब्रह्म प्रसिद्ध है और उसके अस्तित्व का ज्ञान सबको है ? शङ्कर के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव इसलिए नहीं होता कि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं अतः दृश्य जगत में बिखरे हुए विषयों का ही इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं[४]। इन्द्रियाँ ब्रह्म का अनुभव इसलिए नहीं कर सकती क्योंकि ब्रह्म अन्तर्यामी है और इन्द्रियाँ ब्रह्म के अधिष्ठान में शरीर की अवयव होकर स्थित हैं ऐसा ब्रह्मसूत्र में कहा गया है[५]। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि वह अन्तर्यामी देखने में न आने वाला किन्तु सबको देखने वाला सुनने में न आने वाला किन्तु सब कुछ सुनने वाला और मनन करने में न आने वाला किन्तु सबका मनन करने वाला है। वह विशेष रूप से किसी के जानने में नहीं आता किन्तु सबको विशेषरूप से भली भाँति जानता है[६]। अतः प्रसिद्ध होने पर भी ब्रह्म सबको प्रत्यक्ष नहीं होता।

ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। शङ्कर के अनुसार सिद्ध वस्तु इस प्रकार है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का आश्रय नहीं है। विकल्प के लिए पुरुष बुद्धि की अपेक्षा है। सिद्ध वस्तु का ज्ञान सिद्ध-पदार्थ के ही अधीन है। एक स्थाणु के

३ यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति।—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम् सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

४ स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्म विषयाणि। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।२।

५ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्। ब्रह्मसूत्र भा १।२।१८।

६ बृहदारण्यक उपनिषद् ३।७।२३।

लिए यह विकल्प करना कि यह [illegible]
यथार्थ ज्ञान नहीं होता। स्थाणु में [illegible]
ज्ञान है। स्थाणु में 'यह स्थाणु ही है' [illegible]
स्थाणु का ज्ञान होना स्थाणु के ही [illegible]
ब्रह्म ज्ञान ब्रह्मस्वरूप—वस्तु के ही [illegible]
वस्तु ब्रह्म ही है।[8] ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए [illegible]
नहीं, क्योंकि वह स्वयं सिद्ध है।

ब्रह्मसूत्रों के अनुसार ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं [illegible]
सत्तात्मक अथवा अस्तित्व युक्त ब्रह्म की उत्पत्ति [illegible]
हो सकती। सन्मात्र से ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती। [illegible]
अथवा सन्मात्र के अतिरिक्त अन्य भाव [illegible]
अन्य ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती। [illegible]
नहीं हो सकती क्योंकि सामान्य से विशेष उत्पन्न [illegible]
की उत्पत्ति लोक में नहीं देखा जाता। [illegible]
इत्यादि बनते देखे जाते हैं उसी प्रकार [illegible]
है। यदि कहा जाय कि असत् से ब्रह्म उत्पत्ति [illegible]
है क्योंकि असत् निरात्मक है और [illegible]
सकता[10]। अतः ब्रह्म अनादि है और [illegible]
ब्रह्मसूत्रों में आकाश[11] प्राण[12] [illegible]

---

७ वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाण्वेकस्मिन् [illegible]
ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१
८ तत्र पुरुषान्तराणि मिथ्याज्ञानम्। [illegible]
भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। [illegible]
भूतवस्तुविषयत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।
९ असुत्पत्तिस्तु सतोऽनुपपत्ते। ब्रह्मसूत्र [illegible]
१० सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रात् [illegible]
मात्रानुपपत्तेः। नापि सन्मिश्रात् [illegible]
दर्शनात्, अन्यदपि... नापि विशेषात् [illegible]
११ आकाशस्तल्लिङ्गात्। ब्रह्मसूत्र १।१।२२
१२ अत एव प्राणः। ब्रह्मसूत्र १।१।२३
१३ ज्योतिश्चरणाभिधानात्। ब्रह्मसूत्र १।१।२४
१४ छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा [illegible]
१५ आनन्दमयोऽभ्यासात्। ब्रह्मसूत्र १।१। [illegible]

वैश्वानर[१६] अक्षर[१७] अन्तर्यामी[१८] भूतयोनि[१९] चराचर का भक्षण करने वाला[२०] ईक्षणकर्ता[२१] आत्मा[२२] गुहा में प्रविष्ट[२३] आदि नामों और विशेषणों द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया है।

ब्रह्मसूत्रों के अनुसार ब्रह्म जन्मादि का कारण कहा गया है[२४]। शङ्कर के अनुसार जन्मादि शब्द से जन्म, स्थिति और प्रलय सृष्टि की इन तीन अवस्थाओं का बोध होता है। ब्रह्म सृष्टि का दो रूपों में कारण है—निमित्त अथवा सृष्टि के हेतु के रूप में और उपादान अथवा सृष्ट पदार्थों के साधन के रूप में[२५]।

उदाहरणार्थ कुम्भकार घट का हेतु है अथवा निमित्त है और मिट्टी साधन रूप में उपादान कारण है[२६]। ब्रह्म के कारण स्वरूप की परिभाषा करते हुए शङ्कर का मत है कि अनेक कर्ता भोक्ता-युक्त क्रिया फल-देश-काल और निमित्त जिसमें नियमित हैं जो सृष्टि का आधार है, मन से जिसकी रचना का विचार नहीं हो सकता, जो अचिन्त्य है और जिसके द्वारा सृष्टि की स्थिति और प्रलय होती है जो सर्वज्ञ और शक्तिमान कारण है, वह ब्रह्म है[२७]।

---

१६ वैश्वानरः साधारणशब्द विशेषात्। ब्रह्मसूत्र।१।२।२४।
१७ अक्षरमम्बरान्तधृतेः। ब्रह्मसूत्र।१।३।१०।
१८ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म व्यपदेशात्। ब्रह्मसूत्र।१।२।१८।
१९ योनिश्च हि गीयते। ब्रह्मसूत्र।१।४।२७।
२० अत्ता चराचर ग्रहणात्। ब्रह्मसूत्र।१।२।९।
२१ ईक्षतेर्नाशब्दम्। ब्रह्मसूत्र।१।१।५।
२२ आत्मशब्दाच्च। ब्रह्मसूत्र।१।३।१५।
आत्मा प्रकरणात्। ब्रह्मसूत्र।४।४।३।
२३ गुहा प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। ब्रह्मसूत्र।१।२।११।
२४ जन्माद्यस्य यतः। ब्रह्मसूत्र १।१।२।।
२५ जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि। जन्मस्थितिभंगं समासार्थ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।२।
२६ यद्यपि घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिकं प्रकृतिर्वै कुलाल सुवर्णकारादिर्निमित्तं वै।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।२३।
२७ अनेककर्तृ भोक्तृ संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य रचना रूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।२।

ऊपर हम ब्रह्म की निमित्त और उपादान कारणरूपता का कथन कर चुके हैं। निमित्त और उपादान कारणों को लेकर ब्रह्म के स्वरूप में वैषम्य का आरोप नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण है। आचार्य शङ्कर के अनुसार घट रुचक इत्यादि का उपादान कारण मिट्टी एवं कुन्दन आदि का उपादान कारण स्वर्ण है और कुम्भकार एवं सुनार निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। किन्तु दोनों कारणों से ब्रह्म की कारणरूपता में भेद नहीं है क्योंकि दोनों कारणों का अधिष्ठान एक ही ब्रह्म है। आचार्य शङ्कर का मत है कि जैसे मिट्टी सोना आदि उपादान कारणों के लिए कुम्हार सुनार आदि अधिष्ठाताओं की अपेक्षा है वैसे ही ब्रह्म के उपादान कारण स्वरूप में अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं होती[28]। अतः यह सन्देह हो सकता है कि मिट्टी स्वर्ण आदि तो कुम्हार सुनार से भिन्न है अतः उपादान कारण की निमित्त कारण से एकरूपता नहीं हो सकती। आचार्य शङ्कर के अनुसार उपनिषदादि में सृष्टि के पूर्व अद्वितीय कारण का निश्चय किया गया है अतः निमित्त और उपादान कारणों की पृथक् सत्तायें नहीं हैं[29]।

ऊपर हम कह चुके हैं कि निमित्त कारण और उपादान कारण ब्रह्म के स्वरूप हैं और इससे ब्रह्म के स्वरूप में विषमता नहीं आती। ब्रह्मसूत्रों में कहा गया है कि निर्गुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है[30]। निमित्त और उपादान कारणों का स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है अतः इससे यह निश्चित होता है कि कार्य और कारण में भेद नहीं है। ब्रह्म सूत्रों के अनुसार कार्य और कारण का अभेद कहा गया है[31]। कार्य और कारण का अभेद स्वीकार

---

२८ मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठाताऽपेक्ष्योऽस्ति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४। ।

२९ प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४। २३।
इस सूत्र में यहाँ इस शङ्कर का अभिमत स्पष्ट करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है —

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उपनिषद् ।६।२।१।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। ॥ ।६।२।३।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सृष्टि का मूल ही कारण है और निमित्त एवं उपादान होते हुए भी ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप में वैषम्य नहीं आता।

३० [illegible]। ब्रह्मसूत्र ।१।१। ७।

३१ तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। ब्रह्मसूत्र ।२।१।१४।

करके शङ्कर ने ब्रह्म की एकरूपता की प्रतिष्ठा की है। कार्य और कारण की अभेदरूपता छान्दोग्य उपनिषद् में भी कही गई है जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी से बने सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने से ब्रह्म कार्यों का ज्ञान हो जाता है। मिट्टी से बने विकार (घट आदि) वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं सत्य तो केवल मिट्टी है[32]। विवेक चूडामणि के अनुसार मिट्टी का कार्य होने पर भी घड़ा उससे पृथक् नहीं होता क्योंकि सब ओर से मृत्तिका रूप होने के कारण घट का रूप मृत्तिका से पृथक् नहीं है। मिट्टी में मिथ्या कल्पित नाम मात्र घट की सत्ता ही नहीं है[33]। अतः ब्रह्म निमित्त और उपादान कारणों द्वारा जगत कार्य करता है किन्तु कार्य और कारण का अभेद है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः कार्य सत्ता कारण से पृथक् नहीं। घट में मिट्टी से जो अन्यभाव प्रतीत होता है वह वस्तुतः मिथ्या है। सत्य तो घट का कारण रूप मिट्टी ही है। अद्वैत सिद्धान्त में इस प्रकार कार्य और कारण की द्वैत जन्य सत्ता का निषेध किया गया है।

विचार चन्द्रोदय के अनुसार त्रिकालाबाधित ब्रह्म अथवा आत्मा सत शब्द से अभिहित किया जाता है। त्रिकाल का ज्ञान रखने के कारण ब्रह्म अथवा आत्मा चित और त्रिकाल में परम प्रेम का विषय होने के कारण आनन्द कहलाता है[34]। सत शब्द से ब्रह्म की स्थिति चित शब्द से क्रिया और ज्ञान रूपता और 'आनन्द शब्द से ब्रह्म की प्रेम रूपता का कथन होता है। विचार सागर में 'सत शब्द के लिए अस्ति चित शब्द के लिए भाति और आनन्द शब्द के लिए प्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है[35]। सत शब्द ब्रह्म का अस्तित्व प्रकाशित करता है और चित् शब्द के द्वारा ब्रह्म की चेतन सत्ता की प्रतिष्ठा होती है।

---

३२ यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छान्दोग्य उपनिषद्। ६।१।४।

३३ मृत्कार्य भूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपान्।
न कुम्भ रूपं पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाम मात्रः। विवेक चूडामणि २३०।

३४ विचार चन्द्रोदय कला ८ पृष्ठ १८ १६।

३५ अस्ति भाति प्रिय मिलु मैं नाम रूप जजान
तिनि निहि आतम रूप तिन है त जगत निदान। विचार सागर। प्रारम्भिक पृष्ठ।

चेतन होने के कारण ब्रह्म ईक्षण करके सृष्टि की रचना करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि उसने ईक्षण किया 'मैं बहुत प्रजाओं की रचना करूँ'[३६]। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का ईक्षण नित्य है। प्रकाश करना सूर्य का कर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि प्रकाश करना सूर्य का कर्म होता तो सूर्य कभी प्रकाशित होता और कभी न प्रकाशित होता। किन्तु सूर्य सदैव प्रकाश-स्वरूप है इसी प्रकार ब्रह्म का चैतन्य-स्वरूप ईक्षण नित्य है[३७]। यह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप हो कर ब्रह्म जगत-कारण है। ब्रह्मसूत्रों में इसी हेतु ब्रह्म में 'गति' अथवा क्रिया एवं ज्ञान का समन्वय स्वीकार किया गया है[३८]। यहाँ सन्देह होता है कि एक ही ब्रह्म सत और चैतन्य कैसे हो सकता है? आचार्य शङ्कर के अनुसार जो ब्रह्म सत् है वही चैतन्य भी है। 'ब्रह्म सद्रूप है, चैतन्य रूप नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर श्रुति-मर्यादा का पालन करना आवश्यक समझते हैं। यदि ब्रह्म को केवल सद्रूप कहा जाएगा और ज्ञान रूप नहीं कहा जायगा तो 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुतियाँ व्यर्थ होंगी। यदि ब्रह्म केवल सद्रूप ही रहेगा और उसमें चैतन्य का अभाव होगा तो चेतन जीव की आत्मा के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्म को यदि केवल चैतन्य रूप माना जायेगा और सद्रूपता का निराकरण कर दिया जायगा तो ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार अस्तित्व स्वरूप ब्रह्म को उपलब्ध करना चाहिये श्रुति व्यर्थ होगी। ब्रह्म को केवल चैतन्य रूप मानने में दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि जिसका अस्तित्व नहीं है उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता। आचार्य शङ्कर ब्रह्म की उभयात्मक सत्ता अर्थात् सत् चित युक्त स्वरूप भी स्वीकार नहीं करते।[३९] किन्तु इस प्रसंग में ब्रह्म की सत्ता

६ (१) [illegible] । छान्दोग्य उपनिषद् । ६ । २ । ३ ।
(२) [illegible] । [illegible] । ६ । १ ।

७ [illegible] । [illegible] भाष्य । १ । १ । ५ ।

८ [illegible] । १ । १ । ० ।

९ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] । १ । २ । ३ ।

और चेतन रूपता का उद्घाटन करना आचार्य शङ्कर का लक्ष्य रहा है। इस प्रसंग में उन्होंने ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूपों की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। साकार और निराकार का विभाजन उपासनाभेद के आधार पर किया गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार सगुण उपासना में आकार की मान्यता है और निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में निराकार स्वरूप की। किन्तु उनका प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म है अतः सगुण ब्रह्म की अविद्या मूलक गुणरूपता का लय करके निर्गुण ब्रह्म के साथ एकवाक्यता स्थिर कर दी गई है। शाङ्कर भाष्य की रत्नप्रभा टीका के अनुसार साकार ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति वाक्यों की आकार के लय द्वारा निर्गुण वाक्यों के साथ एकवाक्यता की अवगति है। सगुण आकाररूपता का तात्पर्य कल्पित आकार है और सगुण ब्रह्म की उपासना से अभ्युदय की सिद्धि होती है। किन्तु निर्गुण वाक्यों की परमार्थ वस्तु निर्गुण ब्रह्म के आलम्बन में गति है[४०]।

ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म आनन्दमय कहा गया है[४१]। तैत्तिरीय उपनिषद में ब्रह्म की आनन्दरूपता की प्रतिष्ठा हुई। इस उपनिषद में कहा गया है कि—आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये[४२]। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार भी ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहा गया है[४३]। ब्रह्मसूत्रों के अनुसार न जीव ही आनन्द स्वरूप है और न प्रकृति ही क्योंकि जीव शरीर रूप से प्रच्छन्न है और प्रकृति ब्रह्म के आधीन है[४४]। अतः ब्रह्म ही आनन्दस्वरूप है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म की आनन्दरूपता ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि आनन्द का पर्यवसान ब्रह्म में होता है। यहाँ अद्वैत ब्रह्म को लक्ष्य करके उन्होंने यह कथन किया है[४५]। आचार्य शङ्कर के अनुसार अन्न प्राण मन विज्ञान और आनन्दमय

४० तस्मात् साकारब्रह्मवाक्यानाम् आकारलयद्वारा निर्गुणवाक्यैक वाक्यतावगतिः अमन्द गति एव किन्तु तथा कल्पिताकारा गतिस्तदुपासनयाभ्युदयार्थत्वेन निर्गुण वाक्यानां तु परमार्थवस्तु वस्तुतत्त्वमेव विभाग नादीयान्। रत्नप्रभा टीका।३।२।१७।

४१ आनन्दमयोऽभ्यासात्। ब्रह्मसूत्र।१।१।१२।

४२ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीय उपनिषद्। भृगुवल्ली।६।१।

४३ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यक उपनिषद्। ३।९।२८।

४४ तदधीनत्वादर्थवत्। ब्रह्मसूत्र।१।४।३।

४५ सर्वस्याविद्या परिकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा आनन्दमयस्य। एकत्वावसानत्वात्। तैत्तिरीय उपनिषद्। शाङ्कर।।२।५।

कारण अविद्याकृत हैं[४६]। इससे प्रतीत होता है कि आनन्द ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप नहीं है और ब्रह्म पञ्चकोशातीत है।

तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म शब्द का अर्थ सबसे बढ़ा हुआ किया है[४७]। उन्होंने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किये हैं—साकार और निराकार। साकार ब्रह्म अविद्या के कारण अनेक आकारों, नाम-रूपों और गुणों से युक्त होता है। आचार्य शङ्कर का मत है कि कहीं तो ब्रह्म का स्वरूप नामरूपात्मक व जगत् भेद इत्यादि उपाधियों से युक्त है और कहीं सब उपाधियों से रहित है। यह विभाजन विद्या अविद्या के विषय विभाग के अनुसार किया गया है[४८]।

निराकार ब्रह्म आकृतियों और गुणों से शून्य है। एक ही ब्रह्म का दो स्वरूपों में भिन्न होना असंगत है। आचार्य शङ्कर के अनुसार वस्तुतः ब्रह्म निराकार ही है परन्तु जिस प्रकार प्रकाश किसी आकार युक्त आश्रय को प्राप्त करके साकार होता है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म गुणों से युक्त हो जाने पर साकार हो जाता है। प्रकाश का वस्तुतः कोई आकार नहीं होता परन्तु आकार के छेद के छिद्रों में प्रविष्ट होकर प्रकाश तदनुरूप छिद्राकार होता है। इसी प्रकार अविद्या द्वारा विभक्त होकर ब्रह्म साकार भासता है[४९]। किन्तु ब्रह्म के साकार भासने पर ब्रह्म का निर्गुण निराकार स्वरूप बाधित

---

४६ एवं मनोमयमात्मानं पुरुषं ... अनिरुक्तादि ... भूताकाश ... सर्वेषामविद्याकृतत्वम् । तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।२।५।

४७ [illegible] । तैत्तिरीय उपनिषद् ।३।१०।

४८ क्वचित् हि ब्रह्म अस्थूलादि, नामरूपविकार भेदोपाधिविशिष्टम्, तद्विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम् । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१२।

४९ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । ब्रह्मसूत्र ।३।२।१५।

"जैसे आकाश को व्याप्त करके रहने वाला सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश अङ्गुलि आदि उपाधियों के सम्बन्ध से अङ्गुलि आदि के सीधे या टेढ़े होने पर टेढ़ा या सीधा-सा प्रतीत होता है वैसे ही पृथ्वी आदि उपाधियों के सम्बन्ध से ब्रह्म आकार को प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है। उसके आधार पर ब्रह्म के आकार विशेष का उपदेश उपासना के लिए है।"

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।१५।

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।१५।

नही होता। उपासना की दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म ही साकार एव सगुण रूप मे प्रतिष्ठित होता है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि आकारवत ब्रह्म के बोधक श्रुति वाक्य उपासनापरक है[५०]। आचार्य शकर ने ब्रह्म को चैतन्य मात्र कहा है। परन्तु ब्रह्म की यह विशुद्ध चैतन्य सत्ता आकार से रहित है। ब्रह्म चैतन्य वस्तुत निर्विशेष अथवा विकार और आकारों से रहित है किन्तु उपासना के क्षेत्र मे निर्विशेष निराकार चैतन्य स्वरूप ब्रह्म साकार और सविशेष हो जाता है। ज्ञान के क्षेत्र मे तो ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ही है।

अब हम आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म के अवतार सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करेंगे। हम पिछले पृष्ठ पर कह चुके है कि आचार्य शङ्कर का लक्ष्य सगुण सविशेष और साकार ब्रह्म नही है परन्तु उपासना भेद से ब्रह्म मे गुणो और आकारो का आरोप हो जाता है। ब्रह्मसूत्र और उपनिषदो के भाष्यो मे उपासना की दृष्टि से उन्होने ब्रह्म के अवतार के सम्बन्ध मे कहीं भी सकेत नही किया। परन्तु वह ब्रह्म के अवतार धारण करने की भावना के विपक्ष मे नही हैं। गीता भाष्य उपोद्घात मे उन्होने कहा है कि ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति बलवीर्य और तेज आदि से सम्पन्न भगवान यद्यपि अज अविनाशी सम्पूर्ण भूतो के ईश्वर और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हैं तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति या वैष्णवी माया को वश मे करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से—और लोगो पर अनुग्रह करते हुए से—दिखाई देते हैं[५१]। आचार्य शङ्कर पुन अपना मत प्रकट करते हैं कि जब अधर्म से धर्म दबने लगा और अधर्म की वृद्धि होने लगी तब जगत स्थिति सुरक्षित रखने की इच्छा से युक्त आदिकर्ता नारायण नामक श्री विष्णु भगवान ब्राह्मणो की रक्षा के लिए श्री वसुदेवजी से देवकी के गर्भ मे अपने अंश से श्रीकृष्ण रूप मे प्रकट हुए[५२]।

५० चैतन्यमात्र विलक्षणरूपान्तररहित निर्विशेषं ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।१६।

५१ स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य शक्ति बलवीर्य तेजोभि सदा सम्पन्न त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां माया मूल प्रकृतिं वशीकृत्य अज अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अपिसन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रह कुर्वन् इव लक्ष्यते। गीताभाष्यउपोद्घात।

५२ अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवृद्धमाने च अधर्मे जगत स्थितिं परिपिपालयिषु स आदि कर्ता नारायणाख्यो विष्णु भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्ण किल सम्बभूव। गीता भाष्य, उपोद्घात।

अब हम पुनः निर्गुण ब्रह्म और अविद्यात्मक उपाधि का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्म वस्तुतः निराकार ही है परन्तु उपाधि के कारण ब्रह्म में आकारों की प्रतीति होती है[५३]। जिस प्रकार स्फटिक मणि उज्ज्वल होते हुए भी जवाकुसुम के संसर्ग में आ जाती है और वह मणि लाल प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म उपाधि के सम्बन्ध से सगुण एवं साकार प्रतीत होने लगता है। उपाधिवश ही भौतिक व्यवहारों का प्रचलन होता है। ब्रह्म में यह उपाधि उसकी मूल प्रकृति अथवा मूल माया के कारण होती है। इस उपाधि के कारण आत्मा में अनात्मा, शुचि में अशुचि और नित्य में अनित्य आदि भावनाओं का आरोप होने लगता है। उपाधि के सम्बन्ध में ब्रह्म-सूत्र और शङ्कर का मत है कि जिस प्रकार जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़कर जल के अनुरूप ही प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार उपाधि में प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म अविद्यात्मक रूप धारण करता है। किन्तु जिस प्रकार सूर्य के प्रतिबिम्ब के घटने, बढ़ने और हिलने से सूर्य में परिवर्तन अथवा विकार नहीं आता उसी प्रकार औपाधिक विकारों से ब्रह्म विकृत नहीं होता[५४]।

उपाधि अपरमार्थिक एवं अविद्यात्मक है। ब्रह्म निर्विकार है परन्तु उपाधि वश उसमें विकार का आरोप होता है। ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय कहा गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार विकार इन्द्रियगोचर है और ब्रह्म अविकृत है। उपाधि के कारण ब्रह्म में परिणामों का आरोप होता है, जबकि वस्तुतः ब्रह्म परिणाम रहित है। विशुद्ध रूप से ब्रह्म निरवयव है[५५]।

अब हम ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूपों का विचार प्रारम्भ करते हैं। सत्व, रज और तम गुणों से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म है और इन तीनों गुणों से रहित ब्रह्म निर्गुण कहलाता है। निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। निर्गुण ब्रह्म विशुद्ध सत्य है जिसका सृष्टि आदि कार्यों से सम्बन्ध भी नहीं होता। सगुण ब्रह्म ईश्वर रूप में सृष्टि पालन और

५३ उपाधीनां चाऽविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।।१५।

५४ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्। ब्रह्मसूत्र।३।२।२०।
जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२०।

५५ आत्मकृतेः।१।४।२६। परिणामात्। ब्रह्मसूत्र।१।४।२७।

संहार करता है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि ईश्वर सबका अध्यक्ष विचित्र सृष्टि स्थिति और संहार का कर्ता एवं देश विशेष का अभिज्ञाता है। वही सबके कर्मों के अनुसार फल की व्यवस्था करता है[५५]।

सगुण ब्रह्म में ही समस्त व्यावहारिक और उपासना सम्बन्धी विषय प्रसक्त होते हैं। सगुण ब्रह्म में ही आकार और मूर्तता है। उपासना का साध्य सगुण ब्रह्म ही है। आचार्य शङ्कर का मत है कि जो जिस गुण की उपासना करता है उस गुण के अनुसार ही उपासना का फल प्राप्त होता है[५७]। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सगुण ब्रह्म ही सविशेष ब्रह्म है। उनका कथन है कि अपारमार्थिक सविशेष ब्रह्म का ही उपदेश एक ही चन्द्रमा के जल प्रतिबिम्ब के अनेक रूपों के समान होता है[५८]। सगुण ब्रह्म औपाधिक है। माया के गुणों का संसर्ग ब्रह्म के सगुण रूप में ही होता है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की साकारिता भी औपाधिक और मायिक है। आचार्य शङ्कर का मत है कि जगत की रचना ईश्वर की आज्ञा से होती है[५९]। ब्रह्म में मनोमयत्व एवं आनन्दमयत्व आदि स्वरूप सगुण रूप के कारण ही होते हैं[६०]।

शाङ्कर सिद्धान्त में मुख्यतः निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा है[६१]। आचार्य शङ्कर के अनुसार गुणों का आरोप भेद व्यवहार के लिए सगुण ब्रह्म में होता है निर्गुण में नहीं[६२]। इसी प्रकार ज्ञान आदि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं कराते। आचार्य शङ्कर उन्हें प्रतिपत्ति अथवा उपासनोपयोगी मात्र मानते हैं[६३]। माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ने से ब्रह्म की ईश्वर सत्ता होती है। माया से युक्त ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है। माया की उपाधि को लेकर कुम्भकार के समान ईश्वर जगत का निमित्त कारण है। तम प्रधान प्रकृति के संसर्ग से ईश्वर मृत्तिका के समान जगत का उपादान कारण है[६४]। यही

५६ ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।८।
५७ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।१२।
५८ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।१८।
५९ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।१। ।
६० शब्द विशेषात्। ब्रह्मसूत्र । १।२।५।
विवक्षित गुणोपपत्तेश्च। ब्रह्मसूत्र १।२।२।
६१ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्। ब्रह्मसूत्र ३।२।१४।
६२ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।३।१ । १ ।
६३ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।३।१ ।
६४ विचार चन्द्रोदय—पीताम्बर कृत।

यह सिद्धान्त विचारचन्द्र ग्रन्थ के अनुसार कहा गया है। ईश्वर में उपाधि और माया के अंग हैं। आचार्य शङ्कर का मत है कि ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों एक साथ नहीं हो सकता है। यदि सगुणता और निर्गुणता दोनों का एक साथ सम्बन्ध हो तो विरोध होगा। ऐसी दशा में ब्रह्म केवल निर्गुण ही है सगुण नहीं। सगुणता का आरोप व्यावहारिक है औपाधिक है और मायिक है। ब्रह्म को सत् कहने का तात्पर्य है ब्रह्म के स्वरूप में असत् रूप का निषेध करना। चित् का तात्पर्य है कि ब्रह्म जड़ नहीं है। 'आनन्द' का उद्देश्य है ब्रह्म में क्लिष्टता का प्रतिरोध करना। आचार्य शङ्कर का मत है कि यद्यपि आत्मतत्त्व सत् एकमात्र सम्यक् ज्ञान का विषय है तो भी मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए उसकी सगुणता ही इष्ट है। इसलिए उसमें सत्य सङ्कल्पादि गुणों से युक्त होने का प्रतिपादन करना आवश्यक है[65]।

ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण है और ज्ञान का विषय है। यद्यपि सृष्टि आदि क्रियाएं उसी के द्वारा होती हैं परन्तु उसकी शक्ति विलक्षण है। आनन्दादि स्वभावों की उपलब्धि उसमें ही है। परन्तु उसकी सामग्री में ही आनन्द आदि स्वरूपों की स्थिति है और आनन्दादि की सामग्री में ब्रह्म के स्वरूप की परिसमाप्ति नहीं होती। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में कहा गया है कि ब्रह्म आनन्द रहित है[66]। ब्रह्म सम्पूर्ण व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता का अधिष्ठाता है परन्तु जागतिक लक्षणों का उसमें अभाव है। ब्रह्म यद्यपि चैतन्य है परन्तु उसमें कोई अनुभूति समन्वित नहीं है। जब तक वह व्यावहारिक मन, वाणी और प्रपंच का विषय नहीं बनता, तब तक ब्रह्म की कोई अभिव्यक्ति भी नहीं होती। ब्रह्म सदा और शान्त स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य का कार्य नहीं कहा जा सकता वैसे ही ब्रह्म की क्रियाशीलता भी उसका कर्म नहीं है[67]। ब्रह्म निर्गुण ही है परन्तु उसकी सगुणता सूर्य के प्रकाश के समान व्यावहारिक है। आचार्य शङ्कर का मत है कि अविद्याजन्य कार्य प्रपञ्च से विशिष्ट आत्मा विज्ञेय नहीं है किन्तु अविद्याजन्य कार्य प्रपञ्च का बाध करके आयतन शून्य एक वा एकरस आत्मा जानना चाहिए[68]। ब्रह्म की क्रियाशीलता में उसे शरीरादि की आवश्यकता नहीं है।

---

६५ छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य ८।१।

६६ तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य २।७, ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

६७ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।५।

६८ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।३।१।

सृष्टि आदि का कथन ब्रह्म की स्वयंसिद्धता के लक्ष्य से नहीं किया गया परन्तु ब्रह्म का प्रतिपादन करने की दृष्टि से सृष्टि आदि का कथन किया जाता है[69]। सृष्टि, पालन और संहार करता हुआ भी ईश्वर [illegible] है और न जीव रूप में स्थिति होने के कारण जीव के समान सुखी भी होता है। उसे जीव के समान शरीर आदि का अभिमान नहीं है[70]।

अब यह प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म ही एक मात्र विशुद्ध सत्य है और उसकी सगुणता एवं ईश्वरत्वादि समस्त औपाधिक हैं तो निर्गुण ब्रह्म से सृष्टि आदि कर्म कैसे सम्भव हो सकते हैं? और यदि सम्भव भी हों तो उसके निर्गुणत्व में कोई व्यवधान क्यों नहीं आता? इस स्थिति में आचार्य शङ्कर ने त्रिगुणात्मक प्रकृति और माया का आश्रय लेते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रकृति और माया मिथ्या है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने विवर्तवाद का आश्रय लिया है। इस सम्बन्ध में [illegible] सत् काव्य में सृष्टि का स्वरूप प्रकरण देखना चाहिये। विवर्त भावना के अनुसार ब्रह्म और माया के क्रमशः दो रूप उपलब्ध होते हैं —

१ ब्रह्म विशुद्ध निर्गुण सत्य है और उसमें प्रपञ्च आदि कार्यों का अभाव है।

२ सृष्टि एवं समस्त प्रपञ्च मायिक हैं। इसके मूल में केवल ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है।

गीता के अनुसार ब्रह्म सर्वव्यापक है। ब्रह्म के कान, मुख, सिर और नेत्र आदि सर्वत्र हैं[71]। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ ब्रह्म में ही अधिष्ठित हैं किन्तु वह सब प्रकार की इन्द्रियों से रहित है[72]। आचार्य शङ्कर का कथन है कि वह शेष समस्त इन्द्रिय रूप उपाधियों के गुणों की अनुकूलता को प्राप्त करने में समर्थ है[73]। वह जीवों के अन्तर में और बाह्य में तथा जड़ एवं चेतन पदार्थों में

६९ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।१४।

७० कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः। ब्रह्मसूत्र। २।३।४२।
प्रकाशादिवन्नैवं परः। ब्रह्मसूत्र २।३।४६।

७१ सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। गीता १३।१३।

७२ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। गीता १३।१४।

७३ सर्वेन्द्रियोपाधिगुणानुगुण्यभजनशक्तिमत् तद् ज्ञेयम्। गीता भाष्य १३।१४

व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म विभक्त-सा प्रतीत होता है परन्तु अद्वितीय ब्रह्म कभी विभक्त नहीं होता[७४]।

ब्रह्म अकर्ता है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा होते हैं। निर्गुण ब्रह्म शरीर में स्थित रहकर भी कुछ नहीं करता और न कर्म फलों से लिप्त ही होता है। ब्रह्म आकाश के समान निर्लिप्त है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सूक्ष्म होने के कारण किसी पदार्थ के सम्पर्क से युक्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मस्वरूप ब्रह्म शरीर में रहते हुए भी कर्म के विकारों से दूषित नहीं होता[७५]। माया की प्रतिष्ठा करते हुए शङ्कर का मत है कि ब्रह्म प्रकृति अथवा माया से उसी प्रकार सम्बद्ध नहीं होता जिस प्रकार मायावी तीनों कालों में भी अपनी माया से लिप्त नहीं होता[७६]। जिस प्रकार एक स्वप्नद्रष्टा आत्मा के स्वप्न स्वरूप का नाश किए बिना ही अनेक प्रकार की सृष्टि होती है उसी प्रकार ब्रह्म में यह अनेकत्व आरोपित है। जैसे रज्जु में सर्प की भावना भ्रामक होती है उसी प्रकार ब्रह्म में अनेकत्व भ्रान्ति के आरोप से भ्रान्त है। जिस प्रकार आकाश में बादल आते हैं, परन्तु आकाश में बादल स्थिर नहीं होते वैसे ही ब्रह्म में प्रत्यक्ष कर्म स्थिर नहीं हैं। आकाश वस्तुतः नीलिमा युक्त नहीं है परन्तु वह नील वर्ण प्रतीत होता है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि अज्ञानी आकाश में तल मलिनतादि की कल्पना करते हैं परन्तु आकाश तल मलिनतादि से युक्त नहीं होता है[७७]। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म में अनेकत्व मलिनतादि विकार कहे जाते हैं परन्तु विकार से भी ब्रह्म में विकार नहीं आते[७८]। एक ही ब्रह्म में वैषम्य और विविधता उसी प्रकार औपाधिक और भ्रामक है जिस प्रकार तिमिर रोग

---

७४ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। गीता ।१३।१६।

टिप्पणी — प्रस्तुत श्लोक से यह सिद्ध है कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर गुणों और आकारों में व्यक्त होता है परन्तु गुणों और विकारों से विकृत नहीं होता।

७५ गीता भाष्य ।१३।३२।

७६ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।२८।

७७ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।।

७८ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

के रोगी को चन्द्रमा का असम्यक ज्ञान होता है ।

ब्रह्म के स्वरूप में सृष्टि का विवर्त है। संत ज्ञानेश्वरजी की उक्ति है कि जिस प्रकार जिस समय हम चक्कर खाता है, उस समय आस पास के पेड़, पहाड़ और चट्टान हमें घूमती दिखाई पड़ती हैं, ठीक इसी प्रकार अपनी कल्पना के कारण ही विकार हीन परब्रह्म में भूत मात्र का आभास होता है[८०]। गीता में कहा गया है कि समस्त भूत तो ब्रह्म में है परन्तु ब्रह्म ही उनमें नहीं है[८१]। संत ज्ञानेश्वरजी का कथन है कि जिस प्रकार पत्थर के अन्दर देखने से पानी नहीं दिखाई पड़ता अथवा स्वप्न की अवस्था में दिखाई पड़ने वाले अनेक आकार जागृत अवस्था में नहीं दिखाई पड़ते उसी प्रकार भूत मात्र मुझमें (ब्रह्म में) ही भासमान होते हैं। परन्तु फिर भी इनमें (भूतों में) मेरा निवास नहीं होता। जिस प्रकार आकाश में वायु सदैव वर्तमान रहती है, और पंखे के हिलाने से उसका विशेष अनुभव होता है उसी प्रकार उस निर्गुण ब्रह्म में समस्त प्राणी प्रतीत होते हैं परन्तु वस्तुतः वे प्राणी उसमें स्थित नहीं होते[८२]। आचार्य शङ्कर के अनुसार अविद्यावश सम्पूर्ण प्राणियों की रचना होती है[८३]। ब्रह्म प्राणियों की रचना नहीं करता। जीवों के कर्मों और उनके फलों से ब्रह्म अछूता ही रहता है[८४]।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म मन और वाणी द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता[८५]। ब्रह्म की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में ज्ञानेश्वरजी का मत है कि जो वस्तु छिद्रों से युक्त इस शरीर में रहने पर भी उसमें से गिरकर बाहर नहीं निकलती। इसके विपरीत जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि हम उसे शून्य भी नहीं कह सकते और जो आकाश के पल्लों से छानी गई हो परन्तु इतनी

७९ टिप्पणी—उपर्युक्त कथन का प्रयोजन ब्रह्म का नाम रूप से रहित सिद्ध करने का है। शंकर के अनुसार नाम रूप आदि वस्तुतः एक स्वरूप के अनेक रूपान्तर हैं, जैसे जल की तरंगें फेन और बुलबुले सभी जल के रूपान्तर हैं।

८० हिन्दी ज्ञानेश्वरी पृष्ठ १५।

८१ गीता ९।४।

८२ हिन्दी ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ १।

८३ गीता भाष्य ९।६।

८४ गीता भाष्य ९।९।

८५ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय उपनिषद् २।४।९।

विरल और सूक्ष्म होने से जो हिलाने पर भी प्रपंच की इस श्रेणी में से नीचे नहीं गिरती वह परब्रह्म है[८६]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का कथन 'नेति नेति' आदेश के द्वारा किया गया है। इस आदेश में ब्रह्म ऐसा नहीं है, ब्रह्म ऐसा नहीं है ऐसा कहा गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म मन और वाणी से अतीत है। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् ने नेति नेति आदेश द्वारा कहीं ब्रह्म का निषेध तो नहीं कर दिया गया है। उनके अनुसार नेति-नेति आदेश के द्वारा ब्रह्म में प्रपंच का प्रतिषेध किया गया है। ब्रह्म अधिष्ठान रूप में प्रपंच को धारण करता है, अतः ब्रह्म ही प्रत्यगात्म रूप है। प्रपंच का निषेध कर देने से ब्रह्म निषिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि मूल रूप में ब्रह्म में ही प्रपंच की स्थिति है। आचार्य शङ्कर का मत है कि प्रत्यगात्म रूप होने के कारण विषयों में ब्रह्म का अन्तर्भाव नहीं होता। नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव होने के कारण ब्रह्म में रूप प्रपंच का प्रतिषेध है[८७]।

आचार्य शङ्कर ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म को परिच्छिन्न मूर्त और अमूर्त लक्षण कहा है[८८]। उनके अनुसार अमूर्त के सारभूत पुरुष का चक्षु से सम्बन्ध नहीं होता है[८९]। इसका तात्पर्य यह है कि निर्गुण ब्रह्म के अकथनीय स्वरूप का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता है। आचार्य शङ्कर का मत है कि श्रुतियों का ज्ञान भी व्यावहारिक है। श्रुतियों में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसका ज्ञान लक्षित किया गया है। ब्रह्म के कल्पित रूपों का निवारण करके श्रुतियाँ उसका प्रतिपादन करती हैं। निर्गुण ब्रह्म में प्रपंच का अभाव दिखाने का उद्देश्य श्रुतियों का नहीं है किन्तु उनका उद्देश्य प्रपंच का प्रतिषेध करना मुख्य है[९०]। शङ्कर का मत है कि ब्रह्म के कल्पित रूप का बोध करके उसके स्वरूप की प्रतिष्ठा करना नेति-नेति आदेश का लक्ष्य है[९१]।

---

८६ हिन्दी यूनिवर्सिटी, पृष्ठ १२५।

८७ अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति।

बृहदारण्यक उपनिषद्। २।३।६।

८८ प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः। ब्रह्मसूत्र। ३।२।२२।

८९ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।२२।

९० ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।२२।

९१ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।२२।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'नेति नेति' निषेधों से ब्रह्म के स्वरूप का निराकरण क्यों नहीं हो जाता है ? इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सत्य तो केवल एक है और शेष तो वाणी के विकार हैं[६२]। आचार्य शङ्कर का मत है कि वाचारम्भण आदि शब्दों से कार्य की असत्ता सिद्ध होती है। परन्तु कार्य का असद्भाव होने पर भी ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं होता क्योंकि वह सब कल्पनाओं का मूल है[६३]। इस प्रकार ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का प्रतिषेध होकर मन और वाणी से अतीत स्वरूप का परिशेष रहता है। अब यह प्रश्न होता है कि प्रतिषिद्ध प्रपञ्च-समूह से अतिरिक्त ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इस विषय में आचार्य शङ्कर का कथन है कि ब्रह्म अव्यक्त है। वह स्वयं अन्यों का साक्षी है, उसका साक्षी अन्य नहीं है। ऐसा अव्यक्त ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता[६४]।

ऊपर हम 'नेति नेति' आदेश द्वारा ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का कथन कर चुके हैं। 'नेति नेति' पद द्वारा भौतिक निषेधों का निषेध किया गया है। अतः यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि 'नेति नेति' प्रतिषेध द्वारा ब्रह्म का भी निषेध हो सकता है। ऐसी दशा में ब्रह्म अभाव रूप निश्चित किया जायगा। किन्तु आचार्य शङ्कर का मत है कि प्रतिषेध द्वारा ब्रह्म अभाव रूप नहीं निश्चित किया जा सकता क्योंकि ब्रह्म ही प्रतिषेध का आधार है। उनका कथन है कि प्रतिषेध का पर्यवसान ब्रह्म में है, अभाव में नहीं। अतः ब्रह्म अभाव रूप नहीं कहा जा सकता[६५]। ब्रह्म की असत्ता अथवा अभावरूपता का कथन करना 'नेति नेति' पद का लक्ष्य नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म अनिर्वचनीय है और यह अवचनीय निर्गुण ब्रह्म ही शङ्कर की चिन्तन-परम्परा का प्रतिपाद्य है।



६२ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४।
६३ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।२२।
६४ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।२३।
६५ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।२२।

द्वितीय प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार सृष्टि, माया, अविद्या, अध्यास और प्रकृति का स्वरूप

आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर उनके सृष्टि-सम्बन्धी विचारों का परिचय देना आवश्यक है। हम देखते हैं कि ब्रह्मसूत्रों और उपनिषदों में सृष्टि विषयक अनेक स्थल आए हैं। आचार्य ने सृष्टि विषय का भाष्य उक्त ग्रन्थों में प्रस्तुत प्रमाणों के अनुसार और अनुकूल ही किया है। अन्यथा, शाङ्कर अद्वैत दर्शन का प्रतिपाद्य सृष्टि नहीं है। आचार्य ने सृष्टि को व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में शाङ्कर दर्शन में प्रदीप्त सृष्टि माया और अविद्या अध्यास और प्रकृति के स्वरूपों पर अध्ययन के निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। ये सभी विषय परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं किन्तु इतना होते हुए भी इनका अपना अपना तात्त्विक महत्त्व भी है। इसी विचार से इनका पृथक् पृथक् विवेचन किया गया है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार सृष्टि का स्वरूप

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'पहले एक सत् ही था'[1]। ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया है कि 'पहले केवल आत्मा ही था और उसने ईक्षण किया कि लोकों की रचना करूँ'[2]। इन वाक्यों से यह निश्चित होता है कि सृष्टि के पूर्व कोई अस्तित्व था और उस अस्तित्व में जगत् की अनेकरूप पदार्थ सत्ता की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार एक सद्वस्तु या सदात्मा से सृष्टि के विकास होने की प्रक्रिया को सत्कार्यवाद कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार 'पहले यह असद् ही था, इससे सत् उत्पन्न हुआ'[3]। इस प्रकार एक 'असत्' से सृष्टि के

---

१ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१।

२ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत लोकान्नु सृजै। ऐतरेय उपनिषद् १।१।१।

३ असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। तैत्तिरीय उपनिषद् २।७।

विकास क्रम की प्रक्रिया को असत्कार्यवाद कहते हैं। आचार्य शङ्कर असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। उनके मतानुसार असद् शब्द से 'सद्' रूप में व्यक्त सृष्टि के अस्तित्व का निषेध नहीं होता। इस सद् शब्द से कथित सृष्टि के अस्तित्व का प्रतिषेध किसी पदार्थ से नहीं हो सकता। सृष्टि कार्यरूप से ब्रह्म में वर्तमान रहती है। इसलिए सृष्टि का कारण रूप ब्रह्म कार्यरूप सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व भी वर्तमान था[४]।

नाम रूपों में व्यक्त हो जाने पर वस्तु का निवेदन उपनिषदों में 'सद्' शब्द द्वारा होता है। यह सृष्टि प्रारम्भ में व्याकृत नहीं थी और नाम रूपों की अभिव्यक्ति भी नहीं थी। आचार्य शङ्कर के अनुसार उस स्थिति को ही असद् नाम से अभिहित किया गया है[५]। अस्तु कार्य-कारण में अभिन्नता है[६]। इस प्रकार कार्य वस्तुतः कारण स्वरूप ही है। इसी आधार पर कार्य जगत की भी एक कारण रूप में स्थिति है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता। उसी प्रकार कार्य जगत की सत्ता से भी ब्रह्म कभी व्यभिचरित या दूषित नहीं होता[७]। इस सत्ता का अर्थ जगत की दृश्यात्मक उपलब्धि नहीं है। इस सत्ता का स्वरूप ब्रह्म के साथ एकरूपता स्थापित करना है क्योंकि व्यावहारिक सत्ता का बाध परमार्थ में हो जाता है।

सृष्टि-सम्बन्ध में कारण दो रूपों में ग्रहीत है—निमित्त और उपादान कारण। निर्विशेष सत्तादि के रूप में निमित्त कारण और सृष्टि-पदार्थों के रूप में उपादानता की उपलब्धि होती है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म तो निर्गुण आदि स्वरूपों में ही है तब उससे स्थूल द्रव्यादि जागतिक उपलब्धियों की रचना नहीं हो सकती। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म ही जगत का उपादान कारण भी है[८]। कार्य कारण में अभेद है। उपादान कारण ही कार्य

४ प्रतिषेधमात्रहीदं नाऽस्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्यय प्रतिषेध प्रागुत्पत्तेः सत्व कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। यथैव हीदानीमपीदं कारणात्मना सत्त्व प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।७।

५ नामरूप व्याकृत हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धं। अतः प्राङ्नामरूप व्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१७।

६ एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१६।

७ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१६।

८ उपादान —शङ्कर के अनुसार जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है वह उस वस्तु का उपादान कारण है। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।२५।

में परिणत होता है। सृष्टि विषय में जगतादि विविधता को ब्रह्म-परिणाम भी कहा जाता है। परन्तु वे ब्रह्म परिणामवाद को स्वीकृत नहीं करते। उनके अनुसार एक ही ब्रह्म परिणाम रहित और परिणाम युक्त नहीं हो सकता[६]। इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि जैसे ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है और ज्ञान मोक्ष का साधन है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म परिणाम भी स्वीकार कर लिया जाय तो क्या हानि है? इस पर आचार्य शङ्कर कहते हैं कि वस्तुतः जगत शब्द उपचार मात्र है। सृष्टि कार्य में एक निश्चित कार्य-कारण सत्ता अनुस्यूत है। दूध से ही दही बन सकता है मिट्टी से नहीं। इसी प्रकार मिट्टी से घटादि बन सकते हैं, दुग्ध-दधि नहीं। कारण यह कि कारण के सद् होने से कार्य की सत्ता हो सकती है। दुग्ध से ही दधि-कार्य हो सकता है क्योंकि कारण अवस्था में ही कार्य की स्थिति है[९]। आचार्य शङ्कर के मतानुसार इस प्रकार असत्कार्यवाद अनुपपन्न है।

मिट्टी से घट, शरावादि अनेक रूपों का निर्माण होता है एवं कारण से विलक्षण अनेकविध कार्यों का प्रत्यक्ष और व्यवहार होता है। ऐसी दशा में कार्य की सत्ता कारण से पृथक् उपलब्ध होती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार कार्य-कारण में सर्वथा अभेद है[११]। जिस प्रकार आतान वितान रूपों में उपलब्ध तन्तुओं द्वारा बने पट को तन्तुओं से पृथक् नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार कारण-तन्तु और कार्य पट में सर्वथा अभेद है। अन्य पदार्थ की सत्ता में अन्य की उपलब्धि नहीं होती[१२]। अश्व के अस्तित्व में गौ की उपलब्धि नहीं हो सकती और गौ में अश्व की नहीं। उपनिषदों में कहा गया है कि पहले सद् ही था अथवा एक आत्मा ही था[१३]। वे मानते हैं कि अर्वाचीन कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण रूप में ही कार्य वर्तमान था[१४]।

आचार्य शङ्कर के मतानुसार परिणाम से कोई स्वतन्त्र रूप से फल अभिप्रेत नहीं है। सर्वधर्मविशेष रहित ब्रह्म के ज्ञान से फल सिद्धि होती है।

---

८ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१४।

९ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१८।

११ भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा—तन्तु संस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्य नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१५।

१२ न च नियमेनान्यस्य भावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, न ह्यश्वो गोरन्यः सन् गोभाव एवोपलभ्यते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१५।

१३ छान्दोग्य उपनिषद्।६।२।१।

१४ कारणात्मनैव कार्यस्य सत्त्वं प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१६।

अत जगद्रूप से परिणत होने वाला ब्रह्म अपने रूप से प्रतिपादित है[१५]। परिणाम वस्तुत आय प्रपच का प्रत्याख्यान नहीं करता। परन्तु आचार्य शङ्कर सगुण उपासना में ब्रह्म परिणाम को उपयोगी भी मानते हैं[१६]।

चैतन्य ही जगत का कारण हो सकता है जड नहीं। जिस प्रकार नेत्रादि से रूपादि की अवगति होती है उसी प्रकार चैतन्य द्वारा सृष्टि का होना प्रकृत है[१७]। इस सम्बन्ध में वेदान्त का जड प्रधान से उत्पत्ति मानने वाले साख्य सिद्धान्त से विरोध है। सत चित और आनन्द स्वरूप की स्वीकृति ब्रह्म के आद्य स्वरूप के साथ कही जा चुकी है। सृष्टि के निरूपण में भी इन लक्षणों का आरोप ब्रह्म पर और जगत पर होना है। सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है[१८]। वही जगत का धारण करने वाला और सूर्य चन्द्रादि को शासन में नियन्त्रित करने वाला कहा गया है[१९]। ब्रह्म कारणवाद के पक्ष में आचार्य शङ्कर की युक्तियाँ ये हैं —

१—साख्य का प्रधान जड होने के कारण सृष्टि नहीं कर सकता।

२—साख्य का पुरुष स्वत निष्क्रिय होने से सृष्टि नहीं कर सकता।

३—जीव व्यावहारिक पराधीनता के कारण स्वत सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।

४—प्रकृति ईश्वित्व अत त्व प्राप्ति के लिए ईश्वर के अधीन है। अत उससे स्वतन्त्र सृष्टि नहीं हो सकती।

वेदान्त सूत्रों में शब्द और वेद को भी प्रपच कारण कहा गया है[२०]। वेद शब्द से ही देवतादि की उत्पत्ति मानी गई है।

शब्द को आचार्य शङ्कर नित्य मानते हैं। उनके अनुसार नित्य अर्थ के साथ शब्द भी नित्य है। यह शब्द वाचक रूप में स्थित रहता है। इसी व्यवहार्य अर्थ से व्यावहार्य शब्द की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार शब्द से सृष्टि मानी गई है[२१]। इसमें उनका लक्ष्य यह है कि अर्थ नित्य है। अर्थ के नित्य

१५ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।२४।

१६ अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपच परिणामप्रक्रिया चाऽऽश्रयति सगुणोपासनेषूपयोक्ष्यत इति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१४।

१७ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।२४।

१८ चेतन ब्रह्म जगत कारण। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।११।

१९ III च प्रशासनात। ब्रह्मसूत्र। १।३।११।

२० शब्द इति चेन्नात प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ब्रह्मसूत्र। १।३।२८।

२१ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।२८।

होने से उसका वाचक भी नित्य है। शब्द ही उस अर्थ का वाचक है। अस्तु वेद शब्दादि सृष्टि के समान ही नित्य हैं। शब्द की नित्यता में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष से तात्पर्य श्रुति का है और अनुमान का लक्ष्य है स्मृति। श्रुति और स्मृति में वेद शब्द से सृष्टि मानी गई है[22]। देवतादि समस्त जगत वेद शब्द से उत्पन्न होता है अतः वेद नित्य हैं[23]।

सृष्टि अनादि है। भूत, भविष्य वर्तमान जन्म स्थिति और प्रलय द्वारा सृष्टि क्रम बाधित नहीं होता। वस्तुतः प्रलय भी सृष्टि का एक रूपान्तर मात्र है। प्रलय द्वारा तत्त्वों का विनाश अथवा उच्छेदन नहीं होता। समस्त पदार्थों के आकार लुप्त हो जाते हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार जिस प्रकार प्राणी सो कर जगने पर पुनः पूर्ववत् व्यवहार करता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रलय सर्जनादि में व्यवहार चलता रहता है[24]। इसी प्रकार वेद का नित्यत्व भी सृष्टि कल्पान्तरों में बाधित नहीं होता। कौषीतकि उपनिषद् के अनुसार जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष जब जागता है तब अग्नि से स्फुलिंगों के समान आत्मा से प्राण देवता और लोक प्रकट हो जाते हैं[25]।

महाप्रलय में भी हिरण्यगर्भादि ईश्वरों को सब व्यवहार स्मरण रहते हैं। आचार्य शङ्कर का मत है कि यदि ऐसा महाप्रलय हो जिसमें सब व्यवहारों का उच्छेदन हो जाय तो भी परमेश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भादि ईश्वरों को पूर्वकल्प के व्यवहारों का स्मरण रह सकता है[26]। अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक कल्प में सृष्टि में मौलिकता रहती है अथवा पूर्वकल्प के समान ही उत्तरकल्प की भी सृष्टि होती है। आचार्य शङ्कर श्रुति के आधार पर उत्तरसृष्टि भी पूर्व कल्प के अनुसार ही मानते हैं। यदि उत्तरकल्प में विलक्षणत्व स्वीकार कर लिया जायगा तो जीव के कर्मों और उसके फलों की

---

22 ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।२८।

23 अत एव च नित्यत्वम्। ब्रह्मसूत्र। १।३।२९।
शब्द सिद्धान्त के अन्तर्गत दो वादों का उल्लेख शंकर ने किया है– स्फोटवाद और वर्णवाद। आचार्य शंकर वर्णवाद और स्फोटवाद को प्राचीन आचार्यों के अनुसार ग्रहण करते हैं। सारांश, वे वैदिक शब्दों के आधार पर वेदादि शब्दों को नित्य मानकर अनन्त सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं।

24 ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।३०।

25 ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।३०।

26 ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।३०।

व्यवस्था बाधित होगी[२७]। इसी प्रकार ऋग्वेद संहिता में भी पूर्वकल्प के समान सूर्य चन्द्रादि पृथ्वी अन्तरिक्षादि की सृष्टि कही गई है[२८]। आचार्य शङ्कर का कथन है कि जगत का नाश हो जाने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। उसी शक्ति से पुनः सृष्टि उत्पन्न होती है। शक्तियाँ अनेक प्रकार की कही हैं। इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध के समान लोक देव पशु मनुष्य वर्ण आश्रम धर्म और फल की व्यवस्थायें भी अनादि हैं[२९]।

सृष्टि से सम्बन्धित ईक्षण और प्रवेश श्रुतियाँ विशेष महत्त्व की हैं। एक कारण से अनेक रूप कार्यों में एकरूपता और अन्तर्यामित्व स्थापित करना ईक्षण और प्रवेश श्रुतियों का उद्देश्य है। अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में सत्कार्यवाद की ये प्रक्रियायें अद्वितीय ब्रह्म सत्य की स्थापना करती हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि कार्य वैचित्र्य होने पर भी कारण में वैचित्र्य नहीं है। दूसरे यह अनेक रूप सर्जन भी मूलतः एक रूप ही है[३०]। सृष्टि रचना का क्या प्रयोजन है? शङ्कर का मत है कि परमात्मा आप्त काम है। उसे सृष्टि निमित्त में किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है। आचार्य शङ्कर सृष्टि को अधिक महत्त्व भी नहीं देते क्योंकि वह अविद्या कल्पित और अपारमार्थिक है[३१]। यदि ऐसा स्वीकार किया जाए तो परमात्मा में वैषम्यादि दोष प्रसक्त होते हैं। संसार में कोई अतिसुखी और कोई अतिदुःखी होता है। यह वैषम्य भी ईश्वर पर आरोपित होता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अनादि सृष्टि में कर्म भी अनादि है। मनुष्य या प्राणी अपने कर्मफलानुसार सुखी अथवा दुःखी होता है[३२]। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में पहले आकाश की उत्पत्ति मानी

२७ तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। महाभारत शान्तिपर्व।२३१।८५
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।३।३०।

२८ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः। ऋक् संहिता।१०।१९०।३। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।३।३०।

२९ ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।३।३०।

३० तत्त्वत। छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।३। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
छान्दोग्य उपनिषद्।६।२।१।

३१ लोकवत्तु लीला कैवल्यम्। ब्रह्मसूत्र।२।१।३३।

३२ तस्मात् यथान्येवामाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वर
सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।३४।
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। ब्रह्मसूत्र।२।१।३४।
न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। ब्रह्मसूत्र।२।१।३५।

गई है फिर वायु की, वायु से तेज अथवा अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से अन्न अथवा पृथ्वी की[33]। आत्मा से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आचार्य शङ्कर पंच भूतों और इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई क्रम नहीं मानते[34]। इसी प्रकार मुख्य प्राण की भी उत्पत्ति उसी अद्वितीय आत्मा से होती है[35]। नामरूप की रचना भी उसी से होती है। नामरूप के व्याकरण को ही संज्ञामूर्तिक्लृप्ति कहते हैं[36]। छान्दोग्य उपनिषद् में नाम रूपादि पदार्थों का त्रिवृत्करण कहा गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार प्रत्येक नामरूप का व्याकरण तेज जल और अन्न की उत्पत्ति के वचन से किया गया है[37]। इसी प्रकार मांस आदि अन्नात्मक भूमि के कार्य हैं[38]। इस प्रकार त्रिवृत् पद्धति से नामरूपादि का कथन है त्रिवृत पदार्थों का साम्य होना आवश्यक नहीं है। कोई एक धातु विशेष रूप से वर्तमान हो सकती है जैसे तेज में अग्नि का आधिक्य है और उदक में जल का[39]। एकत्व के प्रसंग में तीन भूतात्मक सम्बन्धी भेद व्यवहार हैं। सर्प रूप भेद के तिरोभूत होने पर रज्जु सत्य अवशिष्ट रहेगा। अतः त्रिवृत्करण व्यावहारिक है पूर्ण सत्य नहीं है[40]।

आचार्य शङ्कर का उद्देश्य परमार्थ का निर्वचन करना है व्यवहार की व्यवस्था देना नहीं। अस्तु वे सृष्टि आदि व्यावहारिक अथवा पंच भौतिक तथ्यों की सहायता मात्र परमार्थ कथन में लेते हैं। सृष्टि उपनिषदों का प्रिय प्रतिपाद्य है और वेदान्तदर्शन में ब्रह्म जिज्ञासा के अन्तर्गत ब्रह्म की प्रामाणिकता जगत की जन्म स्थिति और प्रलय के द्वारा सिद्ध की गई है। सृष्टि-सम्बन्ध में प्रथम

---

३३ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्। ब्रह्मसूत्र २।३।७।
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः। ब्रह्मसूत्र २।३।८।
तेजोऽतस्तथा ह्याह। ब्रह्मसूत्र २।३।१०।
आपः। ब्रह्मसूत्र २।३।११।
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः। ब्रह्मसूत्र २।३।१२।
शङ्कर के अनुसार अन्न शब्द पृथ्वी का वाचक है। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।१२।

३४ ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।१५।

३५ श्रेष्ठश्च। ब्रह्मसूत्र। २।४।८।

३६ संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्। ब्रह्मसूत्र २।४।२०।

३७ तेजोऽबन्नानां त्रिवृत्करणेनवाक्यत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।४।२०।

३८ मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च। ब्रह्मसूत्र २।४।२१।

३९ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः। ब्रह्मसूत्र २।४।२२।

४० त्र्यात्मकत्वे त्रिवृत्करणे तुल्येऽप्यपचो सत्या न भेदेन भूतत्रयोत्तरो लोकस्य प्रसिध्यति। ब्रह्मसूत्र भाष्य २।४।२२।

तो व्यावहारिक अथवा जागतिक प्रत्यक्ष स्वतः ही अनुभूत होता है। दूसरे, इस अज्ञेय विषय में मनुष्य बुद्धि सक्षम नहीं है। वेदान्त इसको अनिर्वचनीय मानता है। पारमार्थिक क्षेत्र में सृष्टि आदि मायिक सत्य मात्र रह जाते हैं। सृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में आकाश, वायु, जल आदि पंच तत्त्वों को ही वेदान्त के अन्तर्गत प्रपंच की संज्ञा दी गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में त्रिवृत्करण पद्धति के द्वारा पदार्थों के अस्तित्व धारण का संकेत मिलता है[४१]। परन्तु आचार्य शङ्कर ने त्रिवृत्करण का कहीं पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया है। ब्रह्मसूत्र में भी उन्होंने उसका भाष्य सूत्र के प्रसंगवश ही किया है। सृष्टि उनका प्रतिपाद्य विषय न होने के कारण उसकी जो भी व्यवस्था दी गई है वह मायिक अथवा अविद्यात्मक ही है। परन्तु उत्तरकालीन अद्वैत वेदान्त में पदार्थों का पंचीकरण किया गया है। जिस प्रकार त्रिवृत्करण में तेज, जल और अन्न ये तीन तत्त्व ही समस्त नाम रूपादि के कारण हैं उसी प्रकार पंचीकरण में पंचतत्त्वों का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। पहले पंच महाभूत अपंचीकृत थे। अपंचीकृत महाभूत पाँच विभागों में विभक्त नहीं होते हैं। ईश्वर की इच्छा से वे स्थूल पाँच भूतों के रूप में उत्पन्न होते हैं। इन स्थूलभूत पंच महाभूतों का ही पंचीकरण होता है[४२]।

पंच भूतों की पंचीकरण पद्धति

इसके अनुसार प्रत्येक पंच भूत को दो भागों में विभक्त किया जाता है। इस प्रकार पंच भूतों के दस भाग होते हैं। पुनश्च उन दस भागों के पाँच आधे आधे भेद रखकर दूसरे प्रत्येक पाँचों भागों को चार चार भागों में विभक्त किया जाता है। इस प्रकार परस्पर सब भिन्न भिन्न भूत मिलकर पंचीकृत कहलाते हैं। जिस प्रकार कोई पाँच मित्र एक एक फल खाने लगें जिसमें से प्रत्येक आधा अपने लिए रख छोड़े और अवशिष्ट अर्धभाग को सब परस्पर बाँट लें इसी प्रकार पाँच तत्वों का मिलाप होता है[४३]। जैसे आकाश के पंचीकरण में—

आकाश के दो भाग किये। इनमें से एक भाग अवशिष्ट रखा गया और

४१ आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। छान्दोग्य उपनिषद् ।८।१४।१।
अग्नि का रोहित रूप, शुक्ल रूप जल का, कृष्ण रूप अन्न का है।
छान्दोग्य उपनिषद् । ६।१।४।

४२ ये तीन देवता प्रत्येक त्रिवृत् होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ।६।३।४।
विचार चन्द्रोदय—तृतीय कला।

४३ विचार चन्द्रोदय। कला ३।

द्वितीयार्ध के चार भाग किये। ये भाग आकाश में नहीं मिलते। पुनश्च—

एक भाग वायु में मिले।
एक भाग तेज में मिले।
एक भाग जल में मिले।
एक भाग पृथ्वी में मिले।

अपञ्चीकृत पाँच महाभूतों का पञ्चीकरण नहीं होता। इन्हें सूक्ष्म भूत और तन्मात्रा भी कहते हैं[४४]। काम क्रोध शोक मोह और भय ये आकाश के पाँच तत्त्व हैं। वायु के पाँच तत्त्व चलन वलन धावन प्रसारण और आकुञ्चन हैं। क्षुधा, तृष्णा आलस्य निद्रा और कान्ति ये तेज के पाँच तत्त्व हैं। शुक्र शोणित लार मूत्र और प्रस्वेद जल के तत्त्व हैं। पृथ्वी के पाँच तत्त्व अस्थि मज्जा नाड़ी त्वचा और रोम हैं। ये पाँचों तत्त्व पञ्चीकरण के अनुसार पञ्च भूतों के अंग हैं। जैसे आकाश में —

१ शोक—आकाश का मुख्य भाग है।
२ काम—आकाश में तेज का भाग है।
३ क्रोध—आकाश में वायु का भाग है।
४ मोह—आकाश में जल का भाग है।
५ भय—आकाश में पृथ्वी का भाग है।

इसी प्रकार उपर्युक्त पच्चीस तत्त्व पञ्चभूतों के साथ सम्बद्ध हैं[४५]।

अविद्या और माया

पिछले पृष्ठों पर सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय आदि व्याख्या पर विचार किया गया। वहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि शङ्कर सृष्टि को पारमार्थिक सत्य नहीं मानते। वस्तुतः जो असत्य है वही अविद्या और माया है। यहाँ हम सृष्टि के अविद्यात्मक अथवा मायात्मक स्वरूप पर संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। आचार्य शङ्कर ने यहाँ पर कर्म को अविद्या माना है[४६]। इसी उपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति दो शब्दों का

---

४४ विचार चन्द्रोदय। कला ३।

४५ विचार चन्द्रोदय। कला ३।
उक्त रीति से सम्पूर्ण तत्त्व स्थित हो जाते हैं। इस पद्धति का उल्लेख उत्तरकालीन वेदान्त चिन्तन परम्परा का क्रम है। उत्तरकालीन वेदान्त में भी इसका रूप तात्त्विक माना गया है। आचार्य शंकर के अनुसार सृष्टि पारमार्थिक न होने के कारण उसका वर्ण्य या प्रतिपाद्य नहीं है।

४६ ईशावास्य उपनिषद्। भाष्य।९।

प्रयोग हुआ है। आचार्य शङ्कर के अनुसार असंभूति अव्याकृत प्रकृति का वाचक शब्द है और संभूति हिरण्यगर्भ नामक कार्य ब्रह्म का। उन्होंने अव्याकृत प्रकृति को अविद्या कहा है। ये दोनों व्यक्त और अव्यक्त प्रकृतियाँ हैं यह इन्हें अविद्यात्मक मानते हैं[४७]। ये दोनों उपासना के लक्ष्य हैं। मुण्डक उपनिषद् में भी अविद्या शब्द से कर्म का ही बोध कराया गया है[४८]। अविद्या को उन्होंने शक्ति माना है। यह शक्ति ब्रह्म की है। अविद्या स्वरूप बीज शक्ति अव्यक्त शब्द से अभिहित की जाती है। यह अव्यक्त शक्ति परमेश्वर के अधीन रहती है। आचार्य शङ्कर ने इसको मायामयी और महान स्वरूपा सुषुप्ति कहा है[४९]। इस अविद्या से ही जीव के सब व्यवहार चलते हैं[५०]। गीता में इस शक्ति को अक्षर कहा है। शङ्कर इस अक्षर को भगवान की माया शक्ति मानते हैं[५१]।

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म और जगत के निरूपण में अविद्या शब्द का प्रयोग किया है और माया का कम। माया शब्द का उन्होंने प्रयोग नहीं किया है। दस प्रधान उपनिषदों में इसका प्रयोग प्रायः २५ बार हुआ है। गीता में माया शब्द प्रायः ४० बार आया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में माया शब्द की केवल १० बार ही पुनरावृत्ति हुई है। परन्तु माण्डूक्य कारिकाओं के मूल में इसका प्रयोग २५ बार हुआ है। डॉ० रामानन्द तिवारी के अनुसार माया पद का प्रयोग नैतिक प्रसंग में किया गया है। उपनिषदों में इसका प्रयोग न ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति के रूप में हुआ है और न अविद्या व्यापक के रूप में[५२]।

डा० रामानन्द तिवारी ने 'शङ्कराचार्य का आचार दर्शन' नामक ग्रंथ में माया को छलना अथवा मिथ्याचार रूपा माना है[५३]।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया ईश्वर की सृजक शक्ति के रूप में प्रकट हुई है और माया को ही प्रकृति कहा गया है[५४]। ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति की अभिव्यक्ति माया के रूप में हुई है। ईश्वर में माया का आश्रय होने के कारण ईश्वर को आचार्य शङ्कर ने मायावी कहा है। डा० रामानन्द तिवारी

४७ ईशावास्य उपनिषद् भाष्य ।१ ।

४८ मुण्डक उपनिषद् भाष्य ।१।२।८।१।

४९ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४।३।

५० गीता भाष्य ।१५।१६ ।

५१ शङ्कराचार्य का आचारदर्शन।

५२ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४।३।

५३ शङ्कराचार्य का आचारदर्शन।

५४ माया प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ।४।१ ।

के अनुसार मायावी उपमान का प्रयोग अपनी सृष्टि द्वारा अस्पष्ट रहने वाले ब्रह्म के अनिर्वाच्य स्वरूप के समर्थन में हुआ है[55]। माया शब्द का प्रयोग सृष्टि रचना एवं व्यवहार में असारता तथा मिथ्यात्व प्रतिपादन करने के लिए हुआ है। मिथ्यात्व का अर्थ अभाव नहीं है वरन् परिवर्तनशील जागतिक पदार्थों का निषेध करके उनके अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। इस मिथ्यात्व का ही दूसरा नाम अध्यास है। अध्यास अविद्यात्मक है।

अविद्या शब्द का प्रयोग योगदर्शन में भी हुआ है। योगदर्शन के अनुसार अनित्य, अपवित्र दुःख और अनात्मा में नित्य पवित्र सुख और आत्म भाव की प्रतीति अविद्या मानी गई है। योगदर्शन में पुरुष और प्रकृति के संयोग के कारण को भी अविद्या कहा गया है[56]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि माया से इन्द्र अनेक रूप वाला होता है[57]। यहां अनेक रूप में विकीर्ण सृष्टि को माध्यम रूप में माया अंकित हुई है। आचार्य शङ्कर ने मायावी पद का प्रयोग इसी भाव में किया है, ऐसा प्रतीत होता है। उनके अनुसार देवता आदि और मायावी आदि के द्वारा अपने स्वरूप का नाश किये बिना ही हाथी घोड़े आदि विचित्र सृष्टियां देखने में आती हैं[58]। माया में उपलब्ध मिथ्यात्व ज्ञान प्रकाशन में सहायक है। आचार्य शङ्कर इस मिथ्याज्ञान को न्याय सूत्रों के अनुसार ही मानते हैं। यह उनकी स्वतन्त्र सृष्टि नहीं है। न्याय सूत्र में कहा गया है कि दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्या ज्ञान का उत्तरोत्तर नाश होने से उसके पूर्व कार्यों का नाश होकर अपवर्ग प्राप्त होता है[59]। गीता के मूल में माया शब्द का प्रचुर प्रयोग है, ऐसा प्रतीत होता है। माया और अविद्या में आचार्य शङ्कर के अनुसार भेद नहीं है। माया, मायाम् और मायया इन विभक्तियों में माया पद गीता में आया है। 'मायया' शब्द से आचार्य शङ्कर 'यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली आदि को माया से खिलाड़ी घुमाता रहता है' ऐसा अर्थ करते हैं। ईश्वर भी सबको

---

५५ शंकराचार्य का आचार दर्शन।

५६ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योगदर्शन।२।५।
द्रष्टृदृश्ययोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।
तस्य हेतुरविद्या। योगदर्शन।२।२३।२४।

५७ बृहदारण्यक उपनिषद्।२।५।१९।

५८ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।२८।

५९ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः
न्यायसूत्र।१।१।२।

हृदयो मे स्थित होकर सब प्राणियो को आवागमन मे घुमाता रहता है[९] । गीता के ७वें अध्याय के १५वें श्लोक मे मायया शब्द पर प्रकाश नही डाला गया वहीं पर १४वें श्लोक मे माया को दैवी और त्रिगुणात्मक कहा गया है[६१] । आचार्य शङ्कर ने वहाँ उसे ईश्वर की शक्ति कहा है । उसी श्लोक मे मामाम शब्द के लिए सब भूतो को मोहित रखने वाली माया कहा गया है[६२] । यहाँ माया के आकार प्रकार पर विवेचन उपलब्ध नही है । गीता मे माया पद का भाष्य शास्त्रिक है । ब्रह्मसूत्र मे मायामात्र पद का प्रयोग है[६३]। यहाँ स्वप्न को मायामात्र कहा गया है । आचार्य शङ्कर के अनुसार स्वाप्न सृष्टि माया है, जिसमे परमार्थ की गन्ध तक नही है[६४] ।

अध्यास की छाया मे ही अविद्या और माया पुष्ट होती हैं । वस्तुत मिथ्या ज्ञान से मायाशक्ति की प्रतीति होती है । जैसे मन्द अन्धकार मे यह स्थाणु है ऐसे विशेष ज्ञान के अभाव के समय मे पुरुष ज्ञान होता है । इसी प्रकार शुक्ति मे यह रजत है ऐसा ज्ञान होता है । इसी प्रकार आत्मा अनात्मा का ज्ञान न होने से मैं आदि का सम्बन्ध सिद्ध होता है । आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अनात्मा के भेद जानने वाले पडितो के भी साधारण गडरिये के समान शरीर आदि मे मैं ऐसा शब्द प्रयोग और ज्ञान भ्रान्ति से उत्पन्न होते है[६५] । यही मिथ्या ज्ञान है । यह मिथ्या ज्ञान ही सम्पूर्ण जगत मे माया या अविद्या रूप मे अध्यस्त है । इस मिथ्या ज्ञान से ही अद्वैतात्म तत्त्व मे द्वैत की प्रसक्ति होती है । अद्वैत ब्रह्म मे द्वैत ज्ञान होने का माध्यम उपाधि नाम से अभिहित किया जाता है । आचार्य शङ्कर कहते हैं कि परमेश्वर तो अविद्या से कल्पित शरीर, कर्त्ता भोक्ता और विज्ञानात्मा से अन्य है । जैसे ढाल तलवार धारण करने वाले सूत्र से आकाश मे चढने वाले मायावी से भूमि पर खडा हुआ परमार्थ रूप वही मायावी अन्य है । अथवा जैसे उपाधि से परिच्छिन्न घटाकाश उपाधि से अपरिच्छिन्न आकाश अन्य है[६६] ।

---

९ गीताभाष्य ।१८।६१।
६१ गीताभाष्य ।७।१४।१५।
६२ गीताभाष्य ।७।१४।
६३ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।३।
६४ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।३।
६५ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।
६६ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१८।

उपाधि अविद्यात्मक है। आत्मा इसके संसर्ग से ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि रूप में उत्पन्न होता है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि अपरिच्छिन्न आकाश ही घट, कमण्डलु आदि उपाधियों से परिच्छिन्न-सा भासता है। अज्ञानियों की भ्रान्ति से 'तत्त्वमसि' इस प्रकार के आत्मा के एकत्व के उपदेश के पहले कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भेद विरुद्ध नहीं है[६७]। अतः ईक्षितृत्व आदि के द्वारा आचार्य शङ्कर यह प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर से अन्य संसारी नहीं है। तो भी इस अद्वैत स्वरूप में एक औपाधिक सत्ता वर्तमान है। यह औपाधिक विकारभाव व्यावहारिक है। जागतिक सत्तादि द्वैतात्मक प्रत्यक्ष पदार्थ उपाधि-संग से ग्रहण किये जाते हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार घट, कमण्डलु, गुफा आदि उपाधियों के साथ जैसा आकाश का सम्बन्ध है उसी प्रकार देहादि संघात रूप उपाधियों के साथ आकाशवत् ईश्वर का सम्बन्ध है। अतः आकाश अभिन्न होने पर भी उपाधि के सम्बन्ध से घटाकाश, करकाकाश शब्द का व्यवहार ज्ञान आदि लोक में देखा जाता है।

उपाधि-सम्बन्धजन्य घटाकाश आदि भेद रूप मिथ्याबुद्धि आकाश में आरोपित होती है। उसी प्रकार देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध होने के कारण ईश्वर और संसारी की भेदबुद्धि मिथ्याबुद्धि है[६८]। इस प्रकार व्यवहार में औपाधिक सत्ता है परमार्थ में नहीं। इसी सिद्धान्त के अनुसार कर्तृत्व भोक्तृत्व अविद्यात्मक है। जीव का स्वरूप अविद्या से उत्पन्न हुआ है इसलिए उसमें स्वप्न में देखे हाथी आदि के व्यवहार के समान अविद्या विषय में ही कर्तृत्व आदि व्यवहारों का निर्देश है[६९]।

अब प्रश्न यह है कि यह उपाधि किसमें है? यह यदि आत्मा में हो तो आत्मा विकारी होगा। यदि जीव में है तो उसका मोक्ष नहीं हो सकता। शङ्कर का कथन है कि जैसे शुद्ध स्फटिक की स्वच्छता और शुक्ल रूप विवेक ज्ञान होने के पूर्व रक्त नीलादि उपाधियों से युक्त होता है उसी प्रकार विवेक ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदनारूपी उपाधियों से जीव संयुक्त होता है। यद्यपि पूर्व में भी स्फटिक वैसा ही स्वच्छ था तो भी प्रमाणादि से उत्पन्न हुए विवेक ज्ञान के अनन्तर वही स्फटिक अपने स्वच्छ और शुक्ल रूप से प्रकट हुआ कहलाता है। उसी प्रकार देहादि उपाधियों से

---

६७ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।७।

६८ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।५।

६९ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।२३।

मुक्त जीव भी संसारी अथवा अपारमार्थिक सा प्रतीत होता है। श्रुतियों से उत्पन्न ज्ञान शरीर के धर्मों से सम्बन्धित है और परमार्थ ज्ञान में सहायक मात्र है[७०]। इन्द्रियों द्वारा बुद्धि के परिणाम रूप उपाधि विशेष के सम्बन्ध से विषयों को ग्रहण करता हुआ स्थूल देह के साथ ऐक्य की भ्रान्ति को प्राप्त हुआ जीव जागता है[७१]।

समस्त नाम रूपात्मक सृष्टि अविद्यात्मक और उपाधिजन्य है। इससे यह प्रकट है कि यदि सृष्टि आदि मायिक ही हैं तो उनकी उत्पत्ति वस्तुतः नहीं होती है और जगतादि का अभाव है। परन्तु आचार्य शङ्कर के अनुसार ऐसी बात नहीं है। यद्यपि उपाधि अविद्याकृत है और संसारी जीव को आच्छादित किये है तो भी इनका आश्रय क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है। जैसे मकड़ी अपने से ही तन्तु उत्पन्न करती है, बगुली शुक्र के बिना ही गर्भ धारण करती है या पद्मिनी बिना किसी साधन के एक सरोवर से दूसरे सरोवर में चली जाती है वैसे ही ब्रह्म भी बिना किसी साधन सामग्री के सृष्टि करता है[७२]। अतः जो भी पदार्थ रूप जगत व्यावहारिक रूप से दृश्य है वह उपाधि भ्रान्ति द्वैत प्रपंच की अपेक्षा नहीं रखता। अविद्यादि की अनादिता पिछले पृष्ठों में कही जा चुकी है परन्तु मूल रूप में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी इसकी उपलब्धि होती है। ऐसी दशा में अविद्या की अनिर्वचनीयता प्रमाणित है। असत्कार्यवाद का निरसन करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है कि पूर्णवर्मा के अभिषेक के पूर्व वन्ध्या पुत्र राजा था, है या होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। वन्ध्यापुत्र कारक व्यापार से उत्पन्न नहीं होता अतः जो असत् है उसकी उत्पत्ति त्रिकाल में नहीं है[७३]। अतः यह अविद्याजन्य औपाधिक जगत-जीव व्यापार असत् तो नहीं है परन्तु नेति-नेति आदेश के अनुसार ब्रह्म की निर्गुण निराकार स्थिति के रूप में वह सत् भी नहीं कहा जा सकता[७४]। इसके अतिरिक्त कार्य की उपस्थिति कारण में है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वन्ध्यापुत्र में कार्य का अभाव है[७५]।

---

७ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।१९।
७१ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।६।
७२ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।२५।
७३ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।१८।
७४ सत्तन्नासदुच्यते । गीता ।१३।१२।
७५ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।१८।

ऐतरेय उपनिषद में कहा गया है कि प्रज्ञान ब्रह्म है। यहाँ प्रज्ञान शब्द पर ध्यान देना चाहिए। उक्त उपनिषद में संज्ञान[७६] आज्ञान[७७], विज्ञान प्रज्ञान, मेधा धृति मनीषा,[७८] जूति स्मृति संकल्प, क्रतु असु, काम और वश प्रज्ञान[७९] के नाम कहे गये हैं[८०]। उसी के आगे प्रज्ञान को ही ब्रह्म इन्द्र प्रजापति, सम्पूर्ण देवता पृथ्वी आकाश, वायु जल, तेज, अण्डज जरायुज स्वेदज उद्भिज, अश्व गौ मनुष्य हाथी जीव जंगम पतत्रि, स्थावर प्राणिवर्ग सभी को प्रज्ञान स्वरूप ब्रह्म के अन्तर्भूत माना गया है[८१]। ब्रह्म ही सबका लय स्थान कहा गया है। यहाँ प्रज्ञान शब्द चैतन्य बोधक प्रतीत होता है और उससे ब्रह्म की सर्वमयता सिद्ध होती है। आचार्य शङ्कर इस प्रज्ञान को औपाधिक मानते हैं[८२]।

आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म सम्पूर्ण औपाधिक विशेषता से रहित नित्य निरञ्जन, निर्मल निष्क्रिय शान्त एवं अद्वितीय है। वह 'नेति नेति' आदि क्रम से समस्त विषयों का बाध करके जानने योग्य है तथा सब प्रकार के शाब्दिक ज्ञान का अविषय है। वही अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञारूप उपाधि के सम्बन्ध से सर्वज्ञ और जगत् के सर्वसाधारण और अव्यक्त बीज का प्रवर्तक है। वही प्रज्ञान ब्रह्म व्याकृत जगत् का बीजभूत विज्ञानात्मा का अभिमानी हिरण्यगर्भ है। वही ब्रह्माण्ड के भीतर सर्वप्रथम उत्पन्न हुए विराट् प्रजापति आदि अभिमानी है। वही ब्रह्म अग्नि आदि की उपाधि में देवता संज्ञा वाला है[८३]। इस प्रकार उपाधियों का अध्यास भी ब्रह्म में प्रमाणित होता है। अविद्या का विस्तृत रूप उसी ब्रह्म का प्रतिरूप है, परन्तु ब्रह्म स्वतः अविद्या का स्वरूप नहीं है। अविद्या नैसर्गिक अनादि सिद्ध है और जीव में अविद्या का अध्यास होता है। प्रज्ञान शब्द चैतन्य स्वरूप होकर सृष्टिकर्त्ता आत्मा का वाचक है। औपाधिक आत्मा माया का कारण है, और निरुपाधिक रूप में

---

७६ ऐतरेय उपनिषद् । ३।१।२।
७७ चैतन्य ।
७८ प्रभुता ।
७९ रागादिजनित दुःख ।
८० स्पर्शादि कामना ।
८१ ऐतरेय उपनिषद् । ३।१।३।
८२ उपाधि भूतात्तदुपाधिजनित गुण नाम धेयानि । ऐतरेय उपनिषद् भाष्य । ३।१।२।
८३ ऐतरेय उपनिषद् भाष्य । ३।१।३।

विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म है। जीव में अविद्या का अध्यास है। यद्यपि जीव भी ब्रह्म ही है परन्तु व्यावहारिकता द्वारा उसका स्वरूप प्रच्छन्न है। आचार्य शङ्कर का मत है कि जीव में अविद्या उसी प्रकार अध्यस्त है जैसे गहरे अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी में साँप का भ्रम होना। जिस प्रकार रज्जु को साँप समझ कर कोई मनुष्य भागता है और उसमें भय उत्पन्न होकर शरीर में कम्प रोमाञ्च मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु जब अन्य के द्वारा उस रज्जु ज्ञान कराया जाता है कि यह सर्प नहीं रस्सी है तब उसका सर्प ज्ञानजन्य भय छूट जाता है। इसी प्रकार जीव में जब तक ब्रह्म का द्वैतजन्य विकार रहता है तब तक वह बद्ध है। किन्तु द्वैतजन्य ज्ञान के निरस्त हो जाने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है और परमार्थतः न तो उसमें अविद्या का अध्यास ही होता है और न उससे उसकी मुक्ति ही होती है[८४]। अतः यहाँ भी ब्रह्म में विवर्त की सम्भावना है। विवर्त भावना का संक्षिप्त परिचय हम शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप प्रकरण में दे चुके हैं। विवर्त भावना का विस्तृत विवेचन हम 'सन्तों के अनुसार सृष्टि प्रकरण' में पुनः करेंगे।

आचार्य शङ्कर के अनुसार माया शक्ति स्वरूपा है। माया का ज्ञान मन और वाणी के द्वारा नहीं हो सकता। गीता में इसको कूटस्थ कहा गया है[८५]। आचार्य शङ्कर के अनुसार कूटस्थ शब्द का अर्थ जो कूट अथवा राशि की भाँति स्थित है उसको कूटस्थ कहते हैं। कूट नाम माया है। कूट शब्द से वञ्चना, छलना कुटिलता आदि भाव ध्वनित होते हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार माया अनेक रूपों में स्थित है। अतः वह कूटस्थ है[८६]।

अध्यास

पीछे अविद्या और माया प्रसंग में हमने अध्यास शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ हम शाङ्कर दर्शन में प्रयुक्त इस विशिष्ट शब्द और अध्यास सिद्धान्त पर संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य शङ्कर जिस चरम सत्य का अनुभव करते हैं उसमें केवल अस्मद् प्रत्यय के अधिष्ठान स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार है। इस अस्मद् के अतिरिक्त 'युष्मद्' की भावना और बुद्धिप्रकाश और अपकार के समान

---

८४ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।४।६।

८५ कूटस्थमचलन्ध्रुवम्। गीता। १२।३।

विगया है। यह 'युष्मत्' प्रत्ययगोचर विषय ही अनात्मा है[८७]। अहं आत्मा का वाचक है और त्वं उसके अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों का। आचार्य शङ्कर के अनुसार अहं विषयी है और त्वं विषय। विषय और विषयी का तादात्म्य कभी हो सकता। इसी प्रकार दृष्टा और दृश्य का तादात्म्य सिद्ध नहीं होता। आत्मा अहम् दृष्टा चैतन्य है और उसके अतिरिक्त विषय पर हैं। आत्मा के अतिरिक्त देह इन्द्रियादि जड़ और अनात्म हैं अतएव उससे भिन्न हैं[८८]। इन द्वन्द्वों का स्थिति निराधार है। देह इन्द्रियादि सम्बन्ध से ही सम्पूर्ण ज्ञान और अज्ञान का ग्रहण होता है। किन्तु जड़ तत्वों से निर्गुण निर्विकल्प आत्मा का अनुभव नहीं होता। आचार्य शङ्कर का कथन है कि जो भी इन्द्रिय जन्य या बाह्यानुभूतियाँ होती हैं वे सत्य का पूर्ण रूप प्रस्तुत नहीं करतीं। इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि से ग्राह्य सत्य पदार्थ जगत की वास्तविकता को प्रकाशित नहीं करते। वस्तुतः पदार्थ सत्य के मूल में एक ही तत्त्व की प्रतिष्ठा है जबकि प्रत्यक्षतः उसका मूल स्वरूप आच्छादित होता है। इस आच्छादन को आचार्य शङ्कर अध्यास नाम से अभिहित करते हैं। इस अध्यास की उत्पत्ति आकस्मिक नहीं होती। यह स्वभाव सिद्ध है और व्यावहारिक है[८९]। इसकी प्रक्रिया में आत्मरूप धर्मों के अहंकार का अथवा चेतन्य में जड़ का अध्यास होता है। अन्योन्य में अन्योन्य के धर्मों और स्वरूपों का अध्यास होता है। अध्यास के स्वरूप निरूपण में यह कहा गया है कि इसके द्वारा सत्य और अनृत का मिथुनीकरण होता है। इसके सहयोग से ही निर्विकार असंग आत्मा में यह मेरा यह मैं इस प्रकार की प्रतीति होती है[९०]। ये व्यवहार और प्रतीति वस्तुतः मिथ्या ज्ञान के कारण हैं[९१]।

आचार्य शङ्कर का कथन है कि स्मृति रूप पूर्व दृष्टि का दूसरे में जो

---

८७ युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तम प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

८८ इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

८९ नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहार। ब्रह्मसूत्र भाष्य।

९० विषयिणस्तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदम् इति नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

९१ मिथ्याज्ञान निमित्तः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

अवभास है वही अध्यास है[६२]। इसके सम्बन्ध में अन्य धारणायें भी हैं जिनका उन्होंने उल्लेख इस प्रकार किया है —

१—अन्य में अन्य के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं।

२—जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेद न समझने के कारण होने वाला भ्रम अध्यास है।

३—जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्म वाले भाव की कल्पना को अध्यास कहते हैं।

४—दूसरे में दूसरे के धर्म की प्रतीति अध्यास है[६३]।

५—इन सब मतों से पृथक् आचार्य शङ्कर के मतानुसार जिसमें वह नहीं है उसमें वह है ऐसी बुद्धि अध्यास है।

अध्यास का विवरण इस प्रकार है —

१—बाह्य पदार्थों का आत्मा में अध्यास—जैसे पुत्र आदि के पूर्ण और अपूर्ण होने पर मैं पूर्ण हूँ या मैं ही अपूर्ण हूँ ऐसी प्रतीति।

२ आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास—जैसे मैं मोटा हूँ मैं छोटा हूँ, मैं गोरा हूँ मैं खड़ा हूँ ऐसी प्रतीति।

३ इन्द्रियों के धर्मों का आत्मा में अध्यास—जैसे मैं गूँगा हूँ मैं बहरा हूँ आदि।

४ अ—अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास—जैसे संकल्प निश्चय आदि का आत्मा में आरोप करना।

आ— मैं ज्ञान उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण का अन्तःकरण की वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास।

ई—सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण में अध्यास[६४]।

इस अध्यास में ही समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। शङ्कर के अनुसार सब विधि निषेध बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र व्यावहारिक हैं[६५]। वस्तुतः ये व्यवहार अविद्याकृत हैं और अध्यास बुद्धि से उत्पन्न होते हैं।

---

६२ स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

६३ इन सिद्धान्तों के मूल में आत्मख्याति असत्ख्याति अख्याति अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति आदि सिद्धान्त प्रतीत हैं।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१। रत्नप्रभा टीका। १।१।१।

६४ ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

६५ सर्वाणि प्रमाणानि प्रमाणानि प्रमाणाभासानि ... सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर मिथ्यात्व की ओट में जागतिक सत्ता का अभाव प्रतिपादित नहीं करते हैं। वे मिथ्यात्व के रूप में व्यावहारिक सत्ता का प्रतिषेध भी नहीं करते। उनके अध्यास सिद्धान्त का उद्देश्य है अनित्य से आवृत नित्य आत्मा जड से अभिभूत चैतन्य आत्मा और मिथ्यात्व में आबद्ध अद्वितीय आत्मा की अनुभूति।

अब एक प्रश्न यह है कि आत्मा यदि अविषय है, तो उसमें अन्य विषय का अध्यास कैसे हो सकता है[101]। आचार्य शङ्कर का कथन है कि आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है। वह अहं प्रत्यय का विषय है। आत्मा स्वयं प्रकाश है और प्रत्यगात्मा है। आकाश में तल मलिनता का अध्यास अज्ञानी करते हैं और प्रत्यगात्मा में अध्यास अविरुद्ध है[102]। इस प्रकार अध्यास का अधिष्ठान ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त-स्वभाव आत्मा सिद्ध होता है।

अध्यास सिद्धान्त आचार्य शङ्कर की माया और अविद्या सम्बन्धी स्थापनाओं के मूल में है। इस अध्यास की मुख्य घटना तो यह है कि जागतिक सत्ताओं की मिथ्यात्मकता कथित होकर भी उसका अधिष्ठान बाधित नहीं होता। यद्यपि प्रमाण प्रमेय आदि व्यावहारिक हैं तो भी आत्मा के स्वरूप में उनका प्रमाण स्वीकार किया गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार जिसमें आत्म भाव अध्यस्त नहीं है उस शरीर से कोई व्यापार नहीं हो सकता। यदि ये सब अध्यस्त न हों, तो असङ्गात्मा प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती[103]। अध्यास की भी महान व्यापकता है। इस सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान शङ्कर का प्रतिपाद्य है। इन शास्त्रादि प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार 'मैं यह देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होने पर भी प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण भी आत्म साक्षात्कार पर्यन्त प्रमाण हैं[104]।

उत्तरकालीन अद्वैत वेदान्त में अध्यास शब्द भ्रान्ति के पर्याय रूप में गृहीत हुआ है[105]। भ्रान्ति ज्ञान का विषय मिथ्यावस्तु और स्वतः भ्रान्ति ज्ञान

१०१ आत्मा की अविषयता इस प्रकार है कि वह अध्यास अवि[illegible] रूप में ही प्रत्यक्ष होता है और शास्त्रादि उसमें प्रमाण हैं। अन्यथा अध्यास के निवृत्त होने पर उसका ग्रहण नहीं हो सकता। अतः वह शास्त्रादि द्वारा विषय नहीं किया जा सकता।

१०२ प्रत्यगात्मा जीवात्मा को कहते हैं। रत्नप्रभा टीका।१।१।१।

१०३ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।१।

१०४ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।४।

१०५ विचार [illegible] [illegible]।६।

अध्यास कहे गये हैं[106]। अध्यास के दो भेद हैं—ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास। अर्थाध्यास छः प्रकार का है —

१ केवल सम्बन्धाध्यास—आत्मा में अनात्मा के तादात्म्य का होना।

२ सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास—आत्मा में अनात्मा का सम्बन्ध और स्वरूप दोनों का अध्यास।

३ केवल धर्माध्यास—आत्मा में शरीर के वर्णादि और इन्द्रियादि के देखने आदि का धर्म ही अध्यस्त होता है उनके स्वरूप का अध्यास नहीं होता, यह केवल धर्माध्यास है।

४ अन्योन्याध्यास—लोह और अग्नि के समान आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का अन्योन्याध्यास कहलाता है।

५ धर्म सहित धर्मी का अध्यास—अन्तःकरण के कर्तापन आदि धर्म और स्वरूप दोनों का अध्यास आत्मा में है।

६ अन्तराध्यास—आत्मा का स्वरूप अनात्मा में अध्यस्त नहीं है परन्तु अनात्मा आत्मा में अध्यस्त है। यही अन्तराध्यास है[107]।

इसके अतिरिक्त अर्थाध्यास के दो विभाजन और हैं —

१ संसर्गाध्यास या सम्बन्धाध्यास—आत्मा का अनात्मा में संसर्गाध्यास है। आत्मा बाध नहीं होता वरन् उसमें सम्बन्ध का बाध होता है।

२ स्वरूपाध्यास—अधिष्ठान आत्मा का बाध नहीं होना। देहादि अनात्मा का ज्ञान होने से उसके स्वरूप का बाध होता है[108]। केवल धर्माध्यास धर्म सहित धर्मी का अध्यास और अन्तराध्यास के अन्तर्गत हैं। आत्मा और अनात्मा के ज्ञान के निमित्त अन्योन्याध्यास अधिक उपयोगी माना गया है[109]।

सत् चित् आनन्द और अद्वैत ये आत्मा के विशेषण हैं। असत्, जड़, दुःख और द्वैत ये अनात्मा के विशेषण हैं[110]। इन दोनों वर्गों का परस्पर

१०६ विचार चन्द्रोदय। कला ६।

१०७ ,,

१०८ ,, ,,

१०९ ,, ,,

११० विचार चन्द्रोदय। कला। ६।
भ्रम को भ्रान्ति पर्याय माना गया है। भ्रम भ्रान्ति समष्टाध्यास के अन्तर्गत है। स्वरूपाध्यास में ४ प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं—भेद भ्रान्ति, कर्तृभोक्तृत्व की भ्रान्ति, विकार की भ्रान्ति और ब्रह्म से पृथक् जगत् सत्यता की भ्रान्ति।

अध्यास है। इस अध्यास रूप में ही प्रपंच आत्मा में अध्यस्त है। उत्तरकालीन अद्वैत वेदान्त में अविद्या का अर्थ भ्रान्ति किया गया है। स्थाणु में पुरुष की प्रतीति मरुभूमि में जल की प्रतीति, आकाश में नीलिमा की प्रतीति रज्जु में सर्प की प्रतीति अथवा दर्पण में नगरी की प्रतीति इसके दृष्टान्त हैं[111]। जगन्मिथ्यात्व सिद्धान्त में ये दृष्टान्त प्रमाण माने जाते हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य अथवा उपनिषद् भाष्यों में आचार्य शङ्कर ने इस मिथ्यात्व को अविद्या के अन्तर्गत ग्रहण किया है। आचार्य शङ्कर उस अविद्या में भी एक प्रकार का सत्य अनुस्यूत मानते हैं। उसकी व्यावहारिक सत्ता का निग्रह वे नहीं करते। परन्तु उत्तर युग के वेदान्त दर्शन में संसार की स्वीकृति भ्रान्ति के रूप में हुई है। यह भ्रान्ति पाँच प्रकार की है —

१—भेदभ्रान्ति —इसमें पाँच प्रकार के भेद स्वीकृत हैं—जीव ईश्वर का भेद, जीवों का पारस्परिक भेद, जड़ों का भेद, जीव जड़ का भेद और जड़ ईश्वर का भेद।

२—कर्ता भोक्तापन की भ्रान्ति —अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप में प्रतीत होना उक्त भ्रान्ति है।

३—संग भ्रान्ति —आत्मा की देहादि रूप में सजातीय विजातीय और स्वगत भेदों की सम्बन्ध रूप में प्रतीति होना।

४—विकार भ्रान्ति —दुग्ध के विकार दधि के समान की ब्रह्म के विकार रूप में जगत की प्रतीति होना।

५—ब्रह्म से पृथक जागतिक सत्ता की प्रतीति होना[112]।

उक्त भ्रान्तियों और अध्यास के सम्बन्ध में वेदान्त ग्रन्थों में इस प्रकार के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं जैसे—

१—दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब मिथ्या है। नेत्रवृत्ति ही दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर स्वरूप का ज्ञान कराती है। मुख से मुख का प्रतिबिम्ब अभिन्न है। अतः प्रतिबिम्ब मुख सम्बन्ध से सत्य है। इसके विपरीत प्रतिबिम्ब की भिन्नता प्रतीत होना भ्रान्ति है। 'उसका अभेद ही सत्य है' इस प्रकार इस ज्ञान से भेद भ्रान्ति की निवृत्ति होती है[113]।

२—कर्ता भोक्तापने की भ्रान्ति में स्फटिक और लाल वस्त्र का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे रक्त वस्त्र के संयोग से श्वेत स्फटिक भी रक्त वर्ण प्रतीत

---

१११ विचार चन्द्रोदय कला। ६।

११२ विचार चन्द्रोदय। कला। ६।

११३ विचार चन्द्रोदय। कला। ६।

होता है परन्तु उससे पृथक् उसका रंग स्वच्छ श्वेत है। उसी प्रकार अन्तःकरण के धर्मों से भिन्न आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित है।

३—जैसे घट के संयोग से आकाश घटाकाश संज्ञा से युक्त होता है परन्तु घट की उत्पत्ति नाश गमनागमनादि आकाश को स्पर्श नहीं करते। इसी प्रकार आकाश के समान आत्मा भी असंग है। इस दृष्टान्त से संग भ्रान्ति की निवृत्ति कही गई है।

४—जैसे अन्धकार दोष से रज्जु ही सर्प रूप में प्रतीत होती है अथवा जैसे दुग्ध के विकार दधि का दुग्ध से भिन्न ग्रहण होता है परन्तु यह सब अविद्या के कारण इस रूप में प्रतीत होते हैं। जगत रूपी रज्जु में सर्प रूपी उपाधि का विवर्त है। जगत परिणाम रूप नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान से विकार भ्रान्ति की निवृत्ति होती है।

५—जिस प्रकार एक स्वर्ण खण्ड से अनेक कुण्डलादि की सृष्टि होती है और वे कुण्डलादि वस्तुतः स्वर्ण से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत की सत्ता नहीं है[114]।

प्रकृति का स्वरूप

पाणिनि सूत्र के अनुसार 'उत्पन्न करने वाली' शक्ति प्रकृति है[115]। इस परिभाषा के अनुसार प्रकृति सृष्टि रचना का साधन है। सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व, रज और तम गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं[116]। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार माया को प्रकृति कहा गया है[117]। हम इस प्रकरण में सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के स्वरूप का वर्णन नहीं करेंगे। इस प्रकरण में हम उपनिषद् वेदान्त-दर्शन और आचार्य शङ्कर सम्मत प्रकृति के स्वरूप का विचार करेंगे।

प्रकृति के दो रूप हैं—परा और अपरा। गीताकार ने इन्हें ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नामों से अभिहित किया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अपरा प्रकृति निकृष्ट और अशुद्ध है। यह अनर्थकारी और संसार बन्ध रूपा है[118]। परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ है। यह सर्वान्तर में प्रविष्ट होकर जगत को धारण करती है।

---

११४ विचार चन्द्रोदय। कला। ६।

११५ जनि कर्तुः प्रकृतिः। पाणिनि सूत्र। १।४।३०।

११६ सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्यसूत्र। १।६१।

११७ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद्। ४।१०।

११८ अपरा न परा निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसारबन्धात्मिका इयम्।

गीता भाष्य। ७।५।

यही परा अर्थात् उत्तम और शुद्ध प्रकृति है[११९]। इसके अतिरिक्त परा और अपरा को धारण करने वाली प्रकृति मूल प्रकृति कहलाती है। गीता भाष्य में आचार्य शङ्कर ने अहंकार को ही मूल प्रकृति माना है। अहंकार ही सबका प्रवर्तक है और संसार में प्रकृति का बीज भी अहंकार है। इसको अव्यक्त भी कहते हैं। उनके अनुसार जैसे विषयुक्त अन्न भी विष कहा जाता है वैसे ही अहंकार और वासना से युक्त अव्यक्त – मूल प्रकृति भी अहंकार नाम से कही जाती है[१२०]। उन्होंने मन, बुद्धि अविद्या अहंकार एवं मूल प्रकृति को उत्तरोत्तर एक दूसरे के मूल में माना है। अविद्या युक्त अव्यक्त मूल प्रकृति की संज्ञा पाता है[१२१]। परा और अपरा प्रकृतियाँ उत्पत्ति, प्रलय एवं स्थिति में व्याप्त होकर ईश्वर के द्वारा सृष्टि का कारण होती हैं[१२२]।

अव्यक्त महत और अजा शब्दों का प्रयोग सांख्य दर्शन के अनुसार है[१२३]। परन्तु वेदान्त में ये सब ईश्वर के अधीन माने गये हैं। प्रकृति अनादि है इसी लिए उसके लिए अजा शब्द का प्रयोग हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति के लिए प्रधान शब्द का प्रयोग हुआ है[१२४]।

अजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है कि अजा पद तेज जल और अन्न रूप और भूत समूहों की जननी है। अजा शब्द प्रकृति का बोधक है[१२५]। वे इसको समस्त जगत की उत्पत्तिकर्त्री परमेश्वरीय शक्ति मानते हैं[१२६]। इसी आधार पर प्रधान नाम की प्रकृति

११९ विशुद्धा आत्मभूता [illegible] अन्न प्रविष्टया
गीता भाष्य।८।५।

१२० गीता भाष्य।७।४।

१२१ गीता भाष्य।७।४।

अव्यक्त शब्द सांख्य दर्शन का है जिसका तात्पर्य सांख्य दर्शन में स्वीकृत प्रकृति है। वेदान्त में इसे ईश्वर के अधीन तत्व माना गया है।

१२२ ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।३।

१२३ ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।१७।

१२४ ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।१२।

१२५ गीता भाष्य ७।६।

१२६ शङ्कर के अनुसार अविद्या रूप बीज शक्ति का इतर शब्द से कही गयी है। अव्यक्त आकाश शब्द से भी कहा गया है।
छान्दोग्य उपनिषद्।८।१४।१। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।४।

भी ईश्वरीय शक्ति का रूप है जो ईश्वर के अधीन है[१२७]। चराचर जगत की कारण भूत तेज जल और अन्न रूपा प्रकृति में 'अजा' सादृश्य की कल्पना की गई है। अजा शब्द का अर्थ बकरी है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि एक लोहित शुक्ल और कृष्ण वर्ण वाली बकरी जिसके संग में बहुत से बच्चे हों जिसके ऊपर एक बकरा प्रेम करता हुआ पीछे फिर और एक भोग के उपरान्त उसे त्याग दे वैसे ही यह भी अजा तेज जल और अन्न भूत प्रकृति स्वरूप बहुत से स्वरूप विकारों को उत्पन्न करती है[१२८]। अस्तु तेज जल और अन्न के लिए अजा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पञ्च पञ्च जनाः शब्द का प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद् में हुआ है[१२९]। सांख्य दर्शन के आचार्य इसे पचीस तत्वों का बोधक मानते हैं। परन्तु वेदान्त इसे सांख्य दर्शन सम्मत प्रकृति का प्रमाणक नहीं मानता[१३०]। आचार्य शङ्कर के अनुसार पञ्च जन शब्द के द्वारा प्राण चक्षु श्रोत्र अन्न आदि कहे गये हैं[१३१]। प्रकृति में तीन गुणों की स्वीकृति है और वेदान्त उसमें तीन तत्वों की अभिव्यक्ति मानता है[१३२]। गीताकार ने स्पष्टतः तीनों गुणों का समाहार स्वीकार किया है। परन्तु माया में भी गुणों का समाहार करने में उनका पर्यवसान सांख्याभिमत प्रकृति न होकर माया में हो जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार समस्त कार्यों में बड़ी होने के कारण और अपने में विकारों को स्वयं धारण करने वाली होने से प्रकृति ही महत् ब्रह्म विशेषण से निरूपित की गई है[१३३]। ब्रह्म सूत्रों में प्रकृति को योनि शब्द से अभिहित किया गया है[१३४]। गीता में महत् ब्रह्म को ईश्वर की योनि कहा गया है[१३५]। आचार्य शङ्कर के अनुसार समस्त योनि

---

१२७ तदधीनत्वादर्थवत्। ब्रह्मसूत्र १।४।३।

१२८ श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।९।

१३२ परमेश्वरोत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृति भूतेयम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।९।

१३० सति पञ्चस्वपि ... ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।११।

१३१ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।१२।

१२९ यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥ बृह० ४।४।१७।

१३३ गीता भाष्य १४।३।

१३४ योनिश्च हि गीयते। ब्रह्मसूत्र १।४।२७।

१३५ मम योनिर्महद्ब्रह्म। गीता १४।३।

में ईश्वर के गर्भाधान से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होकर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है[131]।

गीता में प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहा गया है[136]। आचार्य शङ्कर के अनुसार पुरुष और प्रकृति ईश्वर की प्रकृतियाँ हैं। पुरुष परा और प्रकृति अपरा है। जीव क्षेत्रज्ञ और भोक्ता पुरुष के पर्याय हैं। यह पुरुष ही सुख दुःख का भोक्ता है[138]। पुरुष का प्रकृति में भोक्तृत्व अविद्यात्मक है। आचार्य शङ्कर प्रकृति को ही कार्य कारण रूप हेतु और फल के आकारों में परिणत हुए मानते हैं। भोग्यरूपा प्रकृति के साथ उससे विपरीत धर्म वाले पुरुष का भोक्ता भाव से जब अविद्या रूप संयोग होगा तभी संसार प्रतीत होगा[139]। अतः पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग अविद्या के कारण है। ये दोनों प्रकृतियाँ संसार का अनादि सिद्ध कारण हैं। इन प्रकृतियों से ही जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है[140]। इसी प्रकार प्रकृति ही क्षेत्र है और पुरुष क्षेत्रज्ञ है। आचार्य शङ्कर शरीर को कार्य अथवा क्षेत्र और जीव को क्षेत्रज्ञ मानते हैं[141]। क्षेत्रज्ञ में जीवत्व का आरोप अविद्या के कारण होता है। उनका मत है कि अविद्या द्वारा आरोपित धर्म से ब्रह्म अथवा आत्मा का उपकार या अपकार नहीं होता। इसी प्रकार अविद्या द्वारा जीवत्व क्षेत्रज्ञ को विकृत नहीं करता[142]।

साङ्ख्य के अनुसार सृष्टि की तीन अवस्थायें हैं—प्रकृति, प्रकृति विकृति और विकृति। मूल प्रकृति किसी तत्त्व की विकृति नहीं है। महत आदि प्रकृति

---

१३६ प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि। गीता १३।१६।

१३७ पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। गीता १३।२।

१३८ गीता भाष्य १३।२।

१३९ गीता भाष्य १३। ।

१४० याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतु ते द्वे अनादी सत्यौ संसारस्य कारणम्। गीता भाष्य। १३।१६।

१४१ इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। गीता १३।१।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गीता १३।२।

१४२ न हि स्वाभाविकम् अपि नास्ति अविद्याकृतेन धर्मेण कस्यचित् उपकारो अपकारो। गीता भाष्य। १ । । शंकर के अनुसार शरीर को चोट आदि से बचाया जाता है अथवा यह शनैः शनैः क्षीण होता है अथवा यह क्षेत्र के समान कर्मफल प्राप्त होते हैं इसलिए शरीर को क्षेत्र कहते हैं। गीता भाष्य १३।१।

और विकृति दोनों ही हैं। पुरुष न प्रकृति ही है और न विकृति ही[१४३]। परन्तु वेदान्त के अनुसार पुरुष और प्रकृति ब्रह्मवाद के अन्तर्भूत हैं। आचार्य शङ्कर का ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण दोनों ही हैं। उनका मत है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य अधिष्ठाता न होने के कारण ब्रह्म को ही निमित्त कारण समझना चाहिए। जैसे लोक में मृत्तिका सुवर्ण आदि उपादान कारण कुम्हार सुनार आदि अधिष्ठाताओं की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं वैसे ही ब्रह्म उपादान होकर अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व एक ही अद्वितीय का कथन है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अन्य अधिष्ठाता के अभाव से आत्मा कर्ता है और अन्य उपादान के अभाव से आत्मा में प्रकृतित्व है[१४४]। आचार्य शङ्कर के कार्य कारण भेद के अन्तर्गत उपादान कार्य भी है और कारण भी है। इसी प्रकार उपादान कारण ब्रह्मकार्य भी है और वेदान्त कथित प्रकृति भी है। ईक्षण द्वारा आत्मा के बहुत रूपों में होने का सङ्कल्प कथित है और बहुत प्रजा रूपों में होना प्रसिद्ध है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस प्रकार अनेक रूपों में उत्पन्न होने का सङ्कल्प आत्मा करता है। इससे उपादान स्वरूप में ब्रह्म प्रकृति है[१४५]। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है 'यह सब भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं[१४६]।' आचार्य शङ्कर के अनुसार जो जिसमें उत्पन्न होता है उसी में लीन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उनका कथन है कि कार्य का प्रलय भी उपादान से अन्य या भिन्न नहीं दिखाई देता। अतः उपादान स्वरूप ब्रह्म प्रकृति है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि उसने आत्मा को स्वयं रचा[१४७]। सिद्ध वस्तु विकार रूप से साध्य हो सकती है। अतः ब्रह्मसूत्र में जगत को आत्मा का परिणाम कहा गया है[१४८]। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा यद्यपि पूर्व सिद्ध है तो भी उसने अपने को विशेष विकार रूप से परिणत किया। इस प्रकार भी ब्रह्म

---

१४३ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। सांख्य कारिका ३।

१४४ तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।४।२३।

१४५ बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वात् बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।४। ६।

१४६ छान्दोग्य उपनिषद्। १।९।१।

१४७ तदात्मानं स्वयमकुरुत। तैत्तिरीय उपनिषद्। २।७।

१४८ आत्मकृतेः परिणामात्। ब्रह्मसूत्र। १।४।२६।

में प्रतिष्ठित है[१४९]। ब्रह्म में उपादानता होने से ब्रह्मसूत्रों में इसी हेतु ब्रह्म को 'योनि' कहा गया है। यह योनि शब्द प्रकृति वाचक है[१५०]। इस विवरण में ब्रह्म को ही प्रकृति का कारण कहा गया है। परन्तु अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है। अतः यह प्रश्न है कि प्रकृति की ब्रह्म में क्या स्थिति है। ऐसी दशा में प्रकृति का केवल व्यावहारिक सत्य माना जायेगा। व्यवहार सम्पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि वह अपारमार्थिक है। आचार्य शङ्कर के अनुसार बाजीगर की माया के समान इस मायारचित संसार वृक्ष रूप में सनातन प्रकृति विस्तार को प्राप्त हुई है[१५१]। त्रिगुणात्मिका माया का नाम प्रकृति है। उस प्रकृति द्वारा ही मन, वाणी और शरीर से होने वाले सारे कर्म सब प्रकार से सम्पादित होते हैं[१५२]। प्रकृति वस्तुतः सृजनात्मक सत्य है जिसमें परमार्थ का लेश भी नहीं है। ब्रह्म में सम्पादित उपादानता में निमित्त के साथ उसका अभेद है। सम्पूर्ण जागतिक अथवा अलौकिक सत्य ब्रह्म के ही अन्दर हैं। अतः उपादान की ब्रह्म से पृथक सत्ता नहीं है। उपादान में स्थूलता है जिसमें परिवर्तन की प्रतिक्रिया होती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस परिवर्तन में ब्रह्म ही केवल अपरिवर्तनशील है। अतः उपादान स्वरूप प्रकृति ब्रह्म में अधिष्ठित है और उसके अनुशासन में सृजन, स्थिति और प्रलय का स्वरूप धारण किये हुए है[१५३]। यद्यपि प्रकृति अविद्यात्मक है तो भी उसकी अनादि सत्ता कही गई है। आचार्य शङ्कर ने उसे ही शक्ति स्वरूपा माना है।

सृष्टि का कर्तृत्व प्रकृति जन्य है। असंग होने से ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है। आचार्य शङ्कर का मत है कि इन्द्रिय रूप गुण ही गुणों में व्यवहार कर रहे हैं आत्मा में परमार्थतः व्यवहार नहीं है[१५४]। गीता में गुण और कर्म का विभाग कहा गया है। इस विभाग से प्रकृति क्रियाशील होती है[१५५]। एक

---

१४९ पूर्वसिद्धापि सत्यात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति ... अतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।४।२७

१५० योनिश्च हि गीयते। ब्रह्मसूत्र। १।४।२७।
योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।४।२७।

१५१ गीता भाष्य। १५।३।

१५२ गीता भाष्य। १३।२९।

१५३ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। गीता। ९।१०।

१५४ गीता भाष्य। ३।२८।

१५५ त्रिगुणात्मक माया के कार्यरूप पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ इनके समुदाय का नाम गुणविभाग है। इनकी पारस्परिक चेष्टा का नाम कर्मविभाग है। गीता भाष्य। ४।१३।

प्रश्न यह है कि कर्म करने वाला पुरुष है अथवा प्रकृति। यह तो स्पष्ट है कि गुणों के कारण ही क्रिया हो रही है। परन्तु गुणों की सत्ता पुरुष से पृथक नहीं है। किन्तु पुरुष अकर्ता है। ऐसी स्थिति में कर्मफलों का उत्तरदायी कौन होता है? इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि पुरुष की सत्ता में ही सब क्रियायें होती हैं क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है[१५६]। संत ज्ञानेश्वरजी का कथन है कि जिस प्रकार हण्डी, मटका और घट आदि में पृथ्वी तत्त्व स्वयं उन्हीं पदार्थों के आकार में रहता है, स्थल और काल के बिना भिन्न हुए समस्त स्थलों और समस्त कालों में जो क्रियायें सभी सूक्ष्म भूतों द्वारा होती हैं वह क्रिया ब्रह्म वस्तु के हाथ में है। वही वस्तु का विश्व आकृत करते हैं। इसका कारण यही है कि वह ब्रह्म वस्तु ही सर्वाकार होकर सब क्रियायें करता रहता है[१५७]। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म में कर्तृत्व आदि नहीं होते। यदि उसमें कर्तृत्व आदि मान लिये जायें तो ब्रह्म में भाग का प्रसंग आयेगा। यही नहीं निर्विकार ब्रह्म विकारी होगा। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप में व्याघात होगा। संत ज्ञानेश्वर के अनुसार जिस प्रकार सायंकाल, प्रातःकाल और मध्याह्नकाल आदि दिनमान के क्रमशः चलते रहने पर भी आकाश में कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। विश्व की उत्पत्ति के समय जो ब्रह्मा था, स्थिति के समय विष्णु और नाम रूपात्मक नाश होने पर जो रुद्र कहलाता है वह इन तीनों गुणों के लुप्त हो जाने पर शून्य अवशिष्ट रहता है जो गगन का शून्यत्व नष्ट करके और सत्वादि तीनों गुणों का लोप होकर शून्य रूप में अवशिष्ट रहता है वही महाशून्य है[१५८]। पुरुष इस स्वरूप के साथ कर्तृत्व से मुक्त रहता है। वस्तुतः उसमें कर्तृत्व न रहने पर भी उसका आरोप करना अविद्या और अज्ञान के ही कारण है। संत ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि यह बात ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार तपाये हुए लोहे पर घन की चोटें पड़ती हैं और उनके सम्बन्ध में साधारण लोग यही समझते हैं कि ये चोटें अग्नि पर पड़ती हैं अथवा जिस प्रकार पानी के हिलने पर उसमें चन्द्रमा के एक प्रतिबिम्ब के स्थान पर अनेक प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ते हैं और उन प्रतिबिम्बों के अनेकत्व का आरोप

---

१५६ सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छान्दोग्य उपनिषद् । ३।१४।१।

१५७ हिन्दी ज्ञानेश्वरी । १३।१ ।

१५८ हिन्दी ज्ञानेश्वरी । १७।२१।

अविचारी लोग प्रतिबिम्बित होने पर करते हैं[१५९]। प्रकृति को इसी पुरुष से जीवन प्राप्त होता है और इसी की सामर्थ्य से यह संसार की उत्पत्ति करती है। इस प्रकार प्रकृति को ब्रह्म के विवर्त रूप में स्वीकृति की गई है।

प्रकृति के इस गुण सिद्धान्त के आधार पर माया को भी गीता में गुणमयी कहा गया है[१६०]। एक ओर सृष्टि रूप में प्रकृति की परिणति होती है और दूसरी ओर उसका पर्यवसान माया में होता है। प्रकृति सिद्धान्त मूलतः सांख्य दर्शन का है जिसको वेदान्त ने स्वीकार कर लिया है। सृष्टि सम्बन्ध में वेदान्त का अपना मत है। सत्कार्य की प्रतिष्ठा और ईक्षण एवं प्रवेश द्वारा विश्व में ब्रह्मकारिता की दृष्टि है। परन्तु प्रकृति अद्वैत वेदान्त की माया के साथ एकरस हो गई है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि प्रकृति माया है और उसका अधिष्ठाता सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म उपाधि के कारण मायावी है[१६१]। यह प्रकृति ही माया रूप में ब्रह्म में अध्यस्त है। शङ्कर के अनुसार उस प्रकृत परमेश्वर के रज्जु आदि अधिष्ठानों में कल्पित सर्पादि रूप मायिक अवयवों का अध्यास है और इसी से भूताकाशादि सम्पूर्ण जगत व्याप्त है[१६२]। संत ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि उस प्रकृति का ही गुण नाम है। वह क्षण क्षण अपने रूप और रंग दिखलाती है और उसी के कारण जड़ पदार्थ भी मत्त हो जाते हैं। वही नामा को प्रसिद्ध करती है वही प्रेम को पूर्ण बनाती है और वही इन्द्रियों को जगाती है। यह भ्रम का असीम प्रदेश है अमर्याद की मूर्ति है और सभी प्रकार के विकार उत्पन्न करती है। यह वासना रूपी बल्ली की छतरी या मंडप है जिस पर बेल चढ़ती है और फलती फूलती है। यह भ्रांति के वन की लक्ष्मी है और इसलिए इसका सुप्रसिद्ध नाम दैवी माया रखा गया है[१६३]।



---

१५९ हिन्दी ज्ञानेश्वरी। १३।२६।
१६० दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। गीता ।७।१४।
१६१ श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य। ४।१०।
१६२ श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य। ४।१० ।
१६३ हिन्दी ज्ञानेश्वरी। १३।२१।

तृतीय प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अथवा जीव का स्वरूप

आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप प्रकरण में बताया जा चुका है कि ब्रह्म अद्वितीय एवं निर्गुण है किन्तु वह गुणों का अधिष्ठान और कारण भी है। ब्रह्म गुणों और कारणों के द्वारा एक से अनेक रूप धारकर भासित होता है। अनेक जीव भी इसी प्रकार एक ब्रह्म के स्वरूप होते हुए भी अनेक रूपों में प्रत्यक्ष होते हैं। तब आत्मा और जीव में क्या अन्तर है? यदि अन्तर है तो क्यों है? इन्हीं बातों पर इस प्रकरण में विचार किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण के शीर्षक में आत्मा अथवा जीव शब्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः शङ्कर के अनुसार जीव एवं आत्मा में पारमार्थिक भेद नहीं है इस सम्बन्ध में हम इस प्रकरण में विचार करेंगे। किन्तु हम यहाँ जीव शब्द से आत्मा का व्यावहारिक रूप ग्रहण करेंगे और आत्मा से पारमार्थिक ब्रह्म का अद्वैत स्वरूप। यहाँ आत्मा के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूपों का आधार मानकर आत्मा अथवा जीव' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अहम् प्रत्यय का विषय और स्वप्रकाश है[1]। रत्न प्रभा टीका के अनुसार 'अहम् इत्याकारक' अहंकार का भान ही आत्मा है[2]। 'विवेक चूडामणि' के अनुसार आत्मा अहम् पद की प्रतीति से लक्षित होता है। यह नित्य और आनन्द घन, अखण्ड, अद्वितीय चैतन्य स्वरूप बुद्धि का साक्षी और सत् असत् भेदों से भिन्न है[3]। वस्तुतः अहम् पद का

---

१ अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।१।

२ अहमिति अहङ्कारविषयभान रूपस्य आत्मनो। रत्नप्रभा टीका। १।१।१।

३ नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो

बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः।

अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः

प्रत्यक्सदानन्दघनः परात्मा। विवेक चूडामणि। २५३।

विषय आत्मा नहीं है वरन समस्त विषय अनात्म में आश्रित हैं।

किसी भी प्रकार की उपलब्धि या ज्ञान बिना विषय और विषयी के संयोग के संभव नहीं। विषय और विषयी का संयोग अहंकार का स्वरूप ही है। अतः आत्मा विषयी है और जगत की पदार्थ सत्ता विषय रूप है। जब तक संसार के व्यवहार में मैं व मेरा सम्बन्ध नहीं स्थापित होता तब तक वस्तु की प्रतीति और उपलब्धि नहीं होती। किन्तु भौतिक प्रकार सत्ता की उपलब्धि भी अहं के सम्बन्ध से होती है। विवेक चूड़ामणि के अनुसार अहम् प्रत्यय का आधार स्वयं नित्य पदार्थ है[४]। यह नित्य पदार्थ ही आत्मा है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि आत्मा अहं प्रत्यय का आश्रय है और जब तक किसी विषय में मैं मेरा सम्बन्ध नहीं होता तब तक वस्तु का ज्ञान और उपलब्धि नहीं होती। अतः आत्मा ही जगत एवं समस्त पदार्थ सत्ता का अधिष्ठाता है। पदार्थ सत्ता का परिवर्तन होता रहता है। परन्तु आत्मा जगत सत्ता का आधार है एवं भौतिक परिवर्तनों से लेकर देह तक प्रकृति के समस्त विकार और विषय असत्य और परिवर्तनशील हैं किन्तु आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होती[५]। आत्मा ही सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान है। विवेक चूड़ामणि के अनुसार आत्मा सबका द्रष्टा है आत्मा का द्रष्टा कोई नहीं है। आत्मा बुद्धि को प्रकाशित करता है किन्तु इसको बुद्धि प्रकाशित नहीं कर सकती[६]। आत्मा ही चेतन सत्य है और इसी हेतु जड़ पदार्थों का द्रष्टा और प्रकाशक है। आत्मा में ही जगत की स्थिति है। वस्तुतः आत्मा स्वतः जगत रूप नहीं है क्योंकि जड़ और अनात्मा पदार्थ सत्ता का चेतन्य आत्मा में अभाव है। विवेक चूड़ामणि के अनुसार आत्मा से समस्त जगत व्याप्त है किन्तु उसको कोई व्याप्त नहीं कर सकता। जगत अनात्म पदार्थ है परन्तु चैतन्य आत्मा का अधिष्ठान होने के कारण विश्व आभासित होता है[७]। जिस

४ अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः। अवस्थात्रयसाक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षणः।
विवेक चूड़ामणि। २७।

५ ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा देहावसाना विषयाश्च सर्वे।
क्षणेऽन्यथाभाविनय ह्यमीषामसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा। विवेक चूड़ामणि। ३५१।

६ यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तु यं चेतयत्ययम्। विवेक चूड़ामणि। १२६।

७ येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम्। विवेक चूड़ामणि। १२ ।

प्रकार सूर्य के प्रकाशित होने पर समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार आत्मा बुद्धि रूपी गुहा में स्थित होकर जगत को प्रकाशित करता है[८]।

न शरीर ही आत्मा है न इन्द्रियां ही। आत्मा शरीर को धारण करने वाला अधिष्ठाता है। इन्द्रियां शरीर मन एवं बुद्धि आदि बिना आत्म चैतन्य के आश्रय के क्रिया करने में असमर्थ हैं। 'विवेक चूडामणि' के अनुसार आत्मा की सन्निधि में इन्द्रियाँ शरीर और मन आदि क्रिया करते हैं। आत्मा मन और अहङ्कार रूप विकारों देह इन्द्रियों एवं प्राणों की क्रियाओं का ज्ञाता है। जिस प्रकार लोहे का गोला अग्नि से तप जाने पर लालिमा और उष्णता आदि रूपों को धारण करता है किन्तु लौह पिण्ड वस्तुतः कुछ नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा अमण है और भौतिक विषयों का अनुवर्तन करती हुई भी कुछ भी चेष्टा नहीं करता और न विकृत ही होता है[९]।

इस प्रकार आत्मा के निम्नलिखित पक्ष हैं —

१ आत्मा अप्रत्यय विषयों की विषयी है ऐसा हम पिछले पृष्ठों पर कह चुके हैं।

२ आत्मा स्वतः शरीर इन्द्रियां और मन इत्यादि के विकारों का अधिष्ठाता होते हुए भी विकारों से प्रभावित नहीं होता। आत्मा अधिष्ठाता होने के कारण समस्त विकारों का साक्षी है। ऊपर हम ऐसा निश्चित कर चुके हैं।

३ आत्मा नित्य है, एवं समस्त भौतिक विषय अनित्य हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है।

विवेक चूडामणि के अनुसार परमार्थतः आत्मा जन्म नहीं लेता, वृद्धि को प्राप्त नहीं होता क्षीण नहीं होता और न विकारों से दूषित होता है। जिस प्रकार घट के नष्ट हो जाने पर घट में स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, वरन आकाश रूप ही रहता है उसी प्रकार आत्मा शरीरादि के नष्ट हो जाने पर भी अविच्छिन्न रहता है[१०]। आत्मा प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न है। विकार रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है क्योंकि

---

८ अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहायामव्याकृताकाश उरुप्रकाशः।
आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन्॥ विवेक चूडामणि ।१३४।

९ ज्ञाता मनोऽहङ्कृतिविक्रियाणां देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम्।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो न चेष्टते नो विकरोति किंचन॥ विवेक चूडामणि ।१३५।

१० न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्यः।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम्॥ विवेक चूडामणि ।१३६।

वह सत और असत को प्रकाशित करता है। आत्मा जागृति स्वप्न और सुषुप्ति मे 'अहम्' भाव से वर्तमान रहता है। जागृत अवस्था मे आत्मा विषयों और पदार्थों का व्यवहार करता है। स्वप्न अवस्था मे आत्मा अन्तः पदार्थों का ज्ञाता है। सुषुप्ति मे आत्मा विषयों से रहित होकर सुख का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध मे हम सन्तो के अनुसार सृष्टि का स्वरूप प्रकरण एव इस प्रकरण मे अगले पृष्ठो पर सविस्तार विचार करेंगे। यहाँ इस विषय का केवल इतना ही प्रयोजन है कि आत्मा इन अवस्थाओ का साक्षी है और बुद्धि रूप मे विषयों का द्रष्टा है। इस सम्बन्ध की पुष्टि विवेक चूडामणि से होती है[11]।

ब्रह्मसूत्र भाष्य मे कहा गया है कि आत्मा प्रसिद्ध है अथवा सर्व ज्ञान और अनुभव मे नित्य आता है[12]।

यदि आत्मा प्रसिद्ध न होता तो वह अनुभव और ज्ञान के द्वारा ग्रहीत न होता। जो वस्तु अस्तित्व मे नही है वह त्रिकाल मे भी अस्तित्व मे नहीं आ सकती। यदि आत्मा अप्रसिद्ध होता तो उसकी उपलब्धि कभी नही हो सकती थी। अतः आचार्य शङ्कर ने आत्मा को प्रसिद्ध ही कहा है। आत्मा की प्रसिद्धि इसलिए है कि नित्य प्रति के व्यवहारों का 'मैं मेरी' बुद्धि का आश्रय यह आत्मा ही है। प्रसिद्ध होने से आत्मा स्वयं सिद्ध है। आत्मा की सिद्धि के लिए *किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा स्वतः प्रमाण का* आश्रय है। अतः आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा प्रमाण प्रस्तुत करने से पहले ही सिद्ध है। आत्मा स्वयंसिद्ध है, अतः स्वयंसिद्ध आत्मा का निराकरण नही हो सकता[13]।

यदि आत्मा स्वयंसिद्ध और प्रसिद्ध है तो उसकी उपलब्धि क्यों नही होती। अथवा यदि आत्मा स्वयंसिद्ध और प्रसिद्ध है तो यह स्वतः प्राप्त है और उसको प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार श्रुति-सम्मत

११ प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्थास्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः।

विवेक चूडामणि ।१३७।

१२ प्रत्यगात्मा प्रसिद्धेः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

१३ आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्।
सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।७।

साधन ज्ञान अथवा कर्म की भी आवश्यकता नहीं होगी। इसके उत्तर में ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा गया है कि विषय और विषयी का तादात्म्य उसी प्रकार विरुद्ध है जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश के विरोधी स्वभावों का तादात्म्य। इसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा का भी जड़ देह एवं इन्द्रियों के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। जाड्य चैतन्य आदि धर्म और अहंकार एवं आत्मा रूपी धर्मी अत्यन्त भिन्न हैं। इस प्रकार आत्म और अनात्म का भेद ज्ञान न होने पर एक के स्वरूप का दूसरे के धर्मों में अध्यास अथवा मिथ्या बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सत्य और अनृत का मिथुनीकरण करके 'यह मैं' 'यह मेरा' आदि मिथ्याज्ञान में स्वाभाविक लोक-व्यवहार चलता है''[14]। यहाँ उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि आत्मा अनात्म पदार्थों में मिथ्या ज्ञान के कारण अध्यस्त हो जाता है। अतः आत्म ज्ञान नहीं हो पाता और प्राणी की बुद्धि अनात्म पदार्थों में भटकती रहती है। व्यवहार सत्ता का ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है आत्मा का नहीं। आचार्य शङ्कर के अनुसार अध्यास अनादि अनन्त स्वाभाविक और मिथ्याज्ञान रूप है। अध्यास के कारण ही आत्मा में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व उत्पन्न होते हैं। यह अध्यास ही सबको प्रत्यक्ष होता है''[15]।

'विवेक चूड़ामणि' के अनुसार आत्मा अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय इन पाँच कोशों से ढका हुआ है। जिस प्रकार वापी का जल शैवाल उत्पन्न करके अपने को ही आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार पंचकोशों द्वारा आत्मा अपने को ढक लेता है, अतः आत्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। जिस प्रकार शैवाल के हट जाने पर तृष्णा को शान्त करने वाला जल प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार पंच कोशों का अपवाद हो जाने पर पंचकोशातीत

---

१४ विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथापि अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।१।

१५ एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

आत्मा भासित होने लगता है[१५]।

इस प्रकार आत्मा विकार रहित शुद्ध एव अद्वितीय सत्य है किन्तु उसम बुद्धि के अध्यस्त होने के कारण विकारो एव अनात्म पदार्थों की प्रतीति होती है। अध्यास मिथ्या ज्ञानमूलक है तो भी स्वाभाविक है। यद्यपि अध्यासजन्य पदार्थों की प्रतीति आत्मा के अधिष्ठान म ही होती है तथापि पदार्थों का तादात्म्य आत्मा के स्वरूप के साथ नही हो सकता। सत्य आत्मा और असत्य अनात्म पदार्थों का सयोग हो जाने क कारण आत्मा स्वयसिद्ध और प्रसिद्ध होते हुए भी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा सुलभ नही है।

पचकोशो का वणन तत्तिरीय उपनिषद म हुआ है। कोश शब्द तलवार के म्यान धन के भाण्डार और कोशकार नामक कीडे के गृह का बोध कराता है। ये पाच कोश आत्मा को आवत करत हैं। अत यहा कोश शब्द से आत्मा क आच्छादक तत्त्वो का बोध होता है[१७]। आत्म अनात्म विभाग के अनुसार ये कोश अनात्म कहे जायँगे। अन्नमय कोश अन्न द्वारा प्रसूत रजो वीय द्वारा सम्पन्न होता है जन्म के अनन्तर वद्धिवान होता है एव मृत्यु द्वारा अन्नमय शरीर का नाश होता है। यह स्थूल देह ही अन्नमय कोश कहा गया है[१८]। इसी शरीर से दुख सुखादि भोगे जात है। जन्म के पूव और मरण के उपरान्त यह शरीर नही होता। आत्मा शाश्वत भाव रूप है और शरीर के नष्ट एव उत्पन्न होने पर नष्ट या उत्पन्न नहा होता। आचाय शङ्कर के अनुसार देहादि को सघात कहा गया है। ये देहादि अविद्या के काय है। आत्मा से ये सवथा पृथक ह और आकाश सम्बन्ध से घट कमण्डलु के समान औपाधिक हैं[१९]। गीता म शरीर को क्षेत्र कहा गया है[२०]। शरीर

---

१६ कोशैरन्नमयाद्यै पञ्चभिरात्मा न सवृतो भाति।
निजशक्तिसमुत्पन्न शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् ॥ विवेक चू ामणि ।१५१।
तच्छैवालापनये सम्यक सलिल प्रतीयते शुद्धम।
त ष्णासन्तापहर सद्य सौख्यप्रद पर पुस ॥ विवेक चू ामणि ।१५२।
पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्यय शुद्ध।
नित्यानन्दैकरस प्रत्यग्रूप । पर स्वयज्योति ॥ विवेक चू ामणि ।१५३।

१७ विचार चन्द्रोदय। कला ५।

१८ विचार चन्द्रोदय। कला ५।

१९ ब्रह्म सूत्र भाष्य। १।१।५।

२० इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। गीता।१३।१।

स्थान चरक संहिता में आकाशादि पंच सूक्ष्म भूतों, महत्तत्त्व (बुद्धि) अव्यक्त और अहंकार ये आठ मूल प्रकृतियां मानी गई हैं। पंच कर्मेन्द्रियां पंच ज्ञानेन्द्रियां मन और इनके रूप रसादि विषय ये सब मिलकर सोलह विकार कहे गये हैं[२१]। इसके अनुसार अव्यक्त के अतिरिक्त भूत प्रकृति और विकार क्षेत्र की संज्ञा पाते हैं। इस अव्यक्त भावना और सांख्य प्रतिपादित विकार सिद्धान्त को आचार्य शङ्कर ने गीता के माध्यम से ग्रहण किया है। इन सभी तत्त्वों का उल्लेख गीता में हुआ है। गीता में क्षेत्र या शरीर के निर्माता विभिन्न तत्त्वों का विवरण नहीं मिलता। किन्तु हम चरक संहिता शारीर स्थान के अनुसार क्षेत्र की बनावट का जो विचार कर चुके हैं, वह गीता सिद्धान्त के अनुकूल है[२२]।

अब हम अन्नमय कोश के अन्तर्गत ग्रहीत शरीर के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन करेंगे। विचार चन्द्रोदय के अनुसार स्थूल देह पंच तत्त्वों और उनके पांच अंशों से युक्त एवं समन्वय मात्र है[२३]। स्थूल देह के सात धर्म कहे गये हैं[२४]।

सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्व हैं —पंच ज्ञानेन्द्रियां पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच प्राण और मन एवं बुद्धि[२५]। प्राणमय कोश ही सूक्ष्म देह रूप है। इस प्राण शब्द

२१ खादीनिबुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टम ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश । चरक संहिता। शारीर स्थान।६३।

२२ बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिता । चरक संहिता। शारीर स्थान।६ ।
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः । चरक संहिता। शारीर स्थान।६४।

२३ यहां हम पंच तत्त्वों और उनके पाँच भेदों से युक्त समन्वय का विवरण यहां देते हैं।
(१) आकाश के पंच तत्त्व —काम, क्रोध, शोक, मोह और भय।
(२) वायु के पंच तत्त्व —चलन, वलन, धावन, प्रसारण और आकुञ्चन।
(३) तेज के पंच तत्त्व —क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा और कान्ति।
(४) जल के पंच तत्त्व —शुक्र, शोणित, लार, मूत्र और स्वेद।
(५) पृथ्वी के पंच तत्त्व —अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा और लोम।

विचार चन्द्रोदय। कला।३।

२४ नाम, जाति, आश्रम, वर्ण, सम्बन्ध, परिमाण और जन्म मरण ये शरीर के धर्म हैं।

विचार चन्द्रोदय। कला। ।

२५ श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। वाक् पाणि पाद उपस्थ और गुदा ये कर्मेन्द्रियां हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पंच प्राण हैं। संकल्प विकल्पात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, तत्त्वबोध।

का प्रयोग वायु, इन्द्रिय, जीव और ब्रह्म के लिए हुआ है[२६]। परन्तु प्राण के ब्रह्म स्वरूप से लेकर इन्द्रियादि रूप में व्यक्त होने के कारण मूल में तो अद्वैतात्मा है और औपाधिक भेद से विकार समूह क्षेत्र मात्र। आत्मा ही प्राण का स्वरूप है क्योंकि चैतन्य इसका लक्षण है।

कारण शरीर अज्ञान स्वरूप है। स्वप्न का कारण निद्रा रूप अज्ञान है। जाग्रत अवस्था में भी 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ' अथवा 'मैं यह नहीं जानता हूँ' इस अनुभव का विषय अज्ञान है। सुषुप्ति में भी 'मैं उस अवस्था में कुछ नहीं जानता था' इस प्रकार का अज्ञान स्वरूप अनुभव होता है[२७]।

मनोमय शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है। यह देह का अहंता है। गृहादि में ममता करने वाला है और इन्द्रियों द्वारा बहिर्गमन करता है। परन्तु आत्मा निर्विकार है। अतः मनोमय कोश की अहंता और कर्तृत्व औपाधिक हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा ही उपाधियुक्त होकर अन्तःकरण होता है। यह भिन्न भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त आदि अनेक प्रकार से कहा जाता है[२८]। मन आत्मा का उपाधि युक्त स्वरूप है। औपाधिक कर्तृत्व के कारण मन में कर्तृत्व प्रतीत होते हैं।

मन के ऊपर बुद्धि की प्रतिष्ठा है क्योंकि संकल्प विकल्पों में निश्चय का समरण बुद्धि द्वारा होता है। अन्न की अपेक्षा प्राण, प्राण की अपेक्षा मन और मन की अपेक्षा बुद्धि अधिक सूक्ष्म है। अतः मनोमय कोश पर विज्ञानमय कोश की स्थिति है। परन्तु बुद्धि का कर्तृत्व भी औपाधिक है। आत्मा उस बुद्धि के संयोग से ही कर्तृत्व धारण करता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा न तो स्वतः ध्यान करता है और न चलता है। किन्तु बुद्धि के ध्यान करने पर मानो वह ध्यान करता है एवं बुद्धि के चलने पर मानो चलता सा है। यह आत्मा बुद्धि की उपाधि धारण करने पर विकृत होता है। इससे यह कर्तृत्व भोक्तृत्व मिथ्या ज्ञानमूलक है[२९]। पंच ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोश है[३०]। सुषुप्ति काल में चिदाभासयुक्त बुद्धि विलीन होती है और जाग्रत में नख से शिख तक शरीर में व्यापक होकर व्यवहार करती

---

२६ प्रश्नोपनिषद् ब्रह्मसूत्र। ३।१।३। प्राणमयकोश। ब्रह्मसूत्र।१।३।४।

२७ विचार चन्द्रोदय। कला।८।

२८ ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।३२।

२९ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।४०।

३० विचार चन्द्रोदय। कला।५।

है[31]। बुद्धि विनाशशील है और आत्मा अविनाशी है। यह विज्ञानमय कोश भी प्राण और मन के समान सूक्ष्म देह रूप है। आनन्दमय कोश सम्पूर्ण कोशों का प्रेरक है। आनन्द की प्रेरणा से समस्त व्यवहार और कर्म होते हैं। उपनिषद् में भी कहा गया है कि पुत्र आत्मा के लिए प्रिय होता है[32]। आनन्द भोग करते समय बुद्धि अन्तर्मुखी होती है। पुण्यकर्म फल के अनुभव काल में आनन्द की अनुभूति आत्मस्वरूप में होती है। तैत्तिरीय उपनिषद में यह आनन्द प्रिय, मोद और प्रमोद तीन प्रकार का कहा गया है। आनन्द वृत्ति पुण्य फल की निवृत्ति होने पर निद्रा रूप में विलीन होती है। आनन्द का सिर प्रिय वृत्ति वाला कहा गया है। अभीष्ट पदार्थ की उपलब्धि होने पर मोदवृत्ति होती है। इसे आनन्द दक्षिण या एक पक्ष भी कहते हैं। अभीष्ट वस्तु के उपयोग से प्रमोद वृत्ति होती है। प्रमोद वृत्ति द्वितीय अथवा वाम पक्ष है। अज्ञान की वृत्ति में आत्मस्वरूपभूत आनन्द प्रतिबिम्बित होता है। बिम्ब रूप आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द इस आनन्दमय कोश का आधार है[33]। इसे ही ब्रह्म-पुच्छ कहा गया है[34]। यह आनन्द ही कारण देह रूप है। आत्मा इस आनन्द का अधिष्ठान है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आनन्द ब्रह्म का विकार नहीं है और न सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक है। ब्रह्म निर्विकार है और आनन्दमयत्व आदि ब्रह्म में आरोपित नहीं होते[35]। यद्यपि पञ्चकोशों का इस प्रकार निराकरण कर देने पर ब्रह्म की अनुभवगम्यता बाधित होगी, परन्तु आत्मा के जिस अनुभव से पञ्चकोश का भान होता है उसका निवारण करने वाला चैतन्य आत्मा है। अतः आत्मा पञ्चकोशातीत है[36]।

माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा की तीन अवस्थाओं में एकरूपता स्थापित की गई है। ये अवस्थायें जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अन्तर नहीं है। उक्त आचार्यों के अनुसार जागृत और स्वप्न में भेद नहीं है। आत्मा इनसे अतीत है। जागतिक व्यवहार निपट मिथ्यात्व है[37]। परन्तु आचार्य शङ्कर ने

---

३१ विचार चन्द्रोदय । कला ।५।
२ बृहदारण्यक उपनिषद् ।४।५।६।
३ विचार चन्द्रोदय । कला ।५।
३४ ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तैत्तिरीय उपनिषद् ।२।५।
५ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१९।
६ विचार चन्द्रोदय । कला ।५।
३७ माण्डूक्य कारिका । अद्वैत प्रकरण ।२६।

स्वप्न और जाग्रत का भेद स्वीकार किया है। आचार्य शङ्कर ने बौद्धों के विज्ञान और शून्य मतों का खण्डन करते हुए जाग्रत को एक सत्य स्वीकार किया है[३८]। जाग्रतादि भेद व्यवहार में सत्य है क्योंकि पारमार्थिक आत्मा में अवस्था भेद नहीं हो सकता। जाग्रतावस्था में आत्मा स्थूल देह से व्यवहार करती है। उपाधि योग से मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव जाग्रत दशाओं का अनुभव करता है। इस अवस्था में आत्मा को देहाध्यास कहा जा सकता है[३९]। इसी प्रकार आचार्य शङ्कर स्वप्न को जाग्रति में अनुभूत विषयों का परिणाम मानते हैं। जाग्रत अवस्था में अनुभूत विषयों का रूप वासनामय है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा वासनायुक्त मन से स्वप्न देखती है[४०]। सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न दोनों की उपाधियों का अन्त हो जाता है। इस काल में आत्मा आत्मा में ही विलीन होती है। यह विलीनीकरण आत्मा के पारमार्थिक रूप के साथ सम्बन्धित नहीं है। विशुद्ध चेतन आत्मा में आत्मा का विलीनीकरण व्यवहार के कारण है[४१]। हृदय शब्द की व्युत्पत्ति से आचार्य शङ्कर हृदय में आत्मा की स्थिति निश्चित करते हैं। यह आत्मा ही हृदय रूप में सत् शब्द से वाच्य होती है[४२]। इस प्रकार आत्मा स्वयं सिद्ध है और प्रत्येक दशा में वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती। आचार्य शङ्कर का कथन है कि आत्मा का अर्थ स्वरूप है यह प्रसिद्ध है[४३]।

जाग्रत अवस्था में चौदह इन्द्रियाँ अध्यात्म कहलाती हैं[४४]। इन चौदह अध्यात्मों के चौदह देवता हैं[४५]। इनके चौदह विषय हैं[४६]। आत्मा इन

३८ ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।२।२८, ।२।२१।

३९ मन प्रचारोपाधिविशेषसम्बन्धादिन्द्रियाधान शूहणरलग्शिपन्नो जीवो जागर्ति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।९।

४० तद्वासनाविशिष्ट स्वप्न न पश्यन मन शब्दवाच्यो भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।९।

४१ सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।९।

४२ स्वमात्मान सदुच्छब्दवाच्यमपीतो भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।९।

४३ आत्मा हि नाम स्वरूपम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।६।

४४ पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण ये अध्यात्म हैं।

४५ दिक्पाल वायु सूर्य वरुण और अश्विनीकुमार पांच ज्ञानेन्द्रियों के देवता हैं। अग्नि इन्द्र वामन प्रजापति यम पंच कर्मेन्द्रियों के देवता हैं। चन्द्र ब्रह्मा वासुदेव और रुद्र ये अन्तःकरण के देवता हैं। ये चौदह अधिदैव हैं। विचार चन्द्रोदय। कला।५।

४६ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध वचन आदान गमन रतिभोग, मलविसर्जन सकल्प विकल्प निश्चय चिन्तन अहम्मता ये चौदह अधिभूत हैं। विचार चन्द्रोदय कला।५।

समस्त अवस्थाओं का ज्ञाता है। जागृति में इसका स्थान नेत्र, वैखरी वाणी, स्थूल भोग, क्रियाशक्ति और रजोगुण है। उस समय आत्मा 'विश्व' नाम वाला रहता है। जाग्रत के अनुभूत विषयों और भोगों के संस्कारों से युक्त इसकी स्थिति बाल के हजारवें भाग के समान सूक्ष्म हिता नाड़ी में होती है। स्वप्नावस्था में इन संस्कारों के कारण स्वाप्न अनुभूति होती है[४७]। उस समय आत्मा का स्थान कण्ठ होता है। स्वप्नावस्था में मध्यमा वाणी सूक्ष्म भोग ज्ञान शक्ति है एवं आत्मा सतोगुण में रहता है। स्वप्न में वह आत्मा तैजस नाम वाला होता है। आत्मा इस अवस्था को भी जानता और भोगता है। इन अवस्थाओं की स्थिति और अभाव दोनों का साक्षी और ज्ञाता आत्मा ही होता है। सुषुप्ति में भी आत्मा उसका द्रष्टा होता है। पुरुष जब जागकर उठता है तो वह उसके सुख और तल्लीनता का कथन करता है। इस अवस्था में बुद्धि आत्मा में विलीन रहती है किन्तु ज्ञान धारा अक्षुण्ण रहती है। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा हृदय स्थान में रहता है। इसकी वाणी पश्यन्ती और आनन्द भोग, द्रव्य शक्ति है। इसका गुण तमोगुण है। इसके अभिमान में आत्मा प्राज्ञ नाम वाला होता है[४८]।

सुषुप्ति में भी आत्मा जागृति और स्वप्न के समान ही एक रस था। इस सम्बन्ध में 'विचार चन्द्रोदय' में तीन चार दृष्टान्त दिये जाते हैं।

१ जिस प्रकार किसी का भूषण कुएं में गिर पड़े और वह व्यक्ति उसको ढूंढ़ने के लिए उसमें ऊपर कर डुबकी लगाये। वह व्यक्ति जल के अन्दर से यह नहीं कह सकता कि उसे भूषण मिला अथवा नहीं मिला। वाक् अग्नि का कार्य है और अग्नि और जल में विरोध है, अतः जल के अन्दर से उसकी वाणी प्रस्फुटित नहीं होती। इसी प्रकार निद्रावस्था में आत्मा के अस्तित्व का निर्वचन सुप्त पुरुष नहीं कर सकता है। परन्तु सुषुप्ति काल के अज्ञान का स्मरण रहता है।

२ जिस प्रकार बाज सब तरफ से घूम श्रमीभूत होता है और डाल के विश्राम में एकत्रीभूत उसी प्रकार सुषुप्ति में अज्ञान और आवृत्ति में बुद्धि लय होकर आत्मा अकेला स्थित रहता है और जाग्रत और सुषुप्ति का अनुभव करता है।

३ जिस प्रकार बाल क्रीडा के लिए बालक घर के बाहर जाता और

---

४७ बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।१८।

४८ विचार चन्द्रोदय। कला ५।

परिश्रान्त होने पर पुन मात श्रोत्र म विश्राम करता है। उसी प्रकार आत्मा श्रम साहचय स व्यथित होकर प्रकार रूप माता के सुषुप्ति गोद म सुखी होता है।

३ जिस प्रकार जल राशि म घट का अस्तित्व रहता है उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था म आत्मा की स्थिति होती है। जल राशि म घट भी जल रूप रहता है परन्तु रज्जु सयोग म वह बाहर निकाला जाता है और पुन घट रूप म प्रवश होता है। उसी प्रकार आत्मा सुषुप्ति म विलीन होकर अज्ञान रूप होता है और जागत अवस्था म पुन घट क समान व्यावहारिक अनुभूतियो का विषय होता है।

इन दृष्टान्तो के अनुसार आत्मा विकास का साक्षी और ज्ञाता है[४९]। व्यवहार म इस प्रकार आत्मा साक्षित्व का प्रमाण और परमाथ म कूटस्थ ब्रह्म का स्वरूप होत है। सुषुप्ति और स्वप्न के तीन तीन भेद कहे गये हैं[५०]।

आचाय शङ्कर आत्मा की एक रसता के प्रतिपादन म कहते हैं कि पुरुष स्वप्न मे हाथी देखता है और जगकर उसी का कथन करता है कि आज मैंने स्वप्न म हाथी देखा था परन्तु अब नही देख रहा हू। इस कथन स उसका निषेध भी करता है। दोनो का द्रष्टा यही आत्मा है। सुषुप्ति म आचाय शङ्कर के अनुसार विशेष विज्ञान का अभाव है किन्तु विज्ञाता का प्रतिषेध नही होता[५१]। जाग्रत और स्वप्न का परस्पर व्यभिचार होता है। इस व्यभिचार म आत्मा सतुष्ट नही होती। परन्तु सुषुप्ति म प्रपच का परित्याग होता है और आत्मा निष्प्रपच होता है। आत्मा अपने सत्स्वरूप से युक्त होता है और निष्प्रपच हो कर ब्रह्म स्वरूप होता है। यह कथन ब्रह्म काय और कारण की अभिन्नता प्रदर्शित करने के लक्ष्य से किया गया है[५२]। सुषुप्ति म आत्मा को स्वरूप ज्ञान रहता है परन्तु विशेष ज्ञान नही रहता। बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि द्रष्टा की दृष्टि का लोप

---

४९ विचार चन्द्रोदय। कला।५।

५० सुषुप्ति जाग्रत सुषुप्तिस्वप्न सुषुप्ति सुषुप्ति ये तीन प्रकार की सुषुप्तियाँ हैं। स्वप्न जागृत, स्वप्न स्वप्न स्वप्न सुषुप्ति ये तीन स्वप्न हैं। सुषुप्ति मूर्छा और समाधि ये तीनों भिन्न स्थान हैं। विचार चन्द्रोदय। कला।१६।

५१ ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१६।

५२ ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।२।६।

नहीं होता है। इस प्रकार अन्य-आत्मा का उच्छेद हो जाने पर भी उनके साक्षी के निराकरण की सम्भावना नहीं है। आत्मा ही उपर्युक्त अन्यथात्व की साक्षी है[४३]।

आचार्य शङ्कर आत्मा को ज्ञात और अज्ञात का साक्षी मानते हैं। शारीर स्थान चरक संहिता में आत्मा को भूतादि भावों का साक्षी कहा गया है। इसके अनुसार चेतन आत्मा ही साक्षी हो सकता है अचेतन आत्मा नहीं। महत्व जड़ है और यह सांख्य मतानुसार सृष्टि का बीज माना गया है। परन्तु शारीर स्थान चरक संहिता में चेतन आत्मा को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। शारीर स्थान का यह सिद्धान्त वेदान्त के अनुकूल है।

आत्मा सत् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है। आचार्य शङ्कर के अनुसार 'ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण में ब्रह्म की सत्, चित् और आनन्द रूपताओं का वर्णन किया जा चुका है। शाङ्कर मत के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक स्वरूप हैं अतः यहाँ भी ब्रह्म के समान आत्मा के इन तीनों रूपों का वर्णन करना आवश्यक है। सृष्टि के अनादि संस्कारों के रूप में यह अनादि सत् है। समस्त पदार्थों का एकमात्र अधिष्ठान होने से भी यह सत् है। उपनिषदों में इसी प्रकार इन तीनों रूपों को आधार मानकर सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है।

आत्मा चैतन्य स्वरूप है परन्तु उसमें कोई विकार सन्निविष्ट नहीं है। यह चैतन्य आत्मा सामान्य और विशेष दो अंशों द्वारा वर्णित किया गया है। एक रूप सर्वव्यापी आत्मा सामान्य है और विभिन्न इन्द्रियों में विकसित जीव अथवा पदार्थ रूप में विकीर्ण विशेष चैतन्य है। आत्मा का सत् स्वरूप त्रिकालाबाधित है और चित् स्वरूप त्रिकाल में भासता है। आनन्द त्रिकाल में परम प्रेम का विषय है। अनात्मा नाम रूप और वस्तु के आकारों में व्यक्त है। ये नामरूप और वस्तु ही दुःख के कारण हैं और इनसे विपरीत आत्मा आनन्दमय है। आत्म-पदार्थों के विरुद्ध अनात्म पदार्थ अप्रिय हैं। अतः आत्मा के लिए द्रव्य प्रिय है परन्तु द्रव्य से भी पुत्र प्रिय है, पुत्र की अपेक्षा शरीर अधिक प्रिय है। इसी प्रकार शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ अधिक प्रिय हैं। इन्द्रियों से प्राण अथवा मन अधिक प्रिय है। परन्तु इन सबसे भी आत्मा प्रिय है क्योंकि आधि व्याधि से अधिक पीड़ित होकर पुरुष कहता है कि मेरे प्राण

४३ बृहदारण्यक उपनिषद् । ।७।२३।

जाय तब मैं सुखी होऊंगा[५४]। इससे सिद्ध है कि आत्मा सर्वाधिक प्रिय है। अतः प्रेम का विषय होने के कारण आत्मा आनन्द स्वरूप है।

आत्मा के विशेष चैतन्य रूप को चिदाभास भी कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों में सामान्य चैतन्य ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को चिदाभास कहते हैं। यह चिदाभास चैतन्य के लक्षणों से रहित होता है परन्तु चैतन्य के समान भासित होता है। इस चिदाभास की प्रत्येक देश काल— अन्तःकरण और अज्ञान में स्थिति है। इस चिदाभास विशेष के दो रूप हैं। अज्ञान की भांति अवस्था में जब यह प्रतीत नहीं होता परन्तु प्रतीति से भ्रान्ति की निवृत्ति होती है तब यह अधिष्ठान विशेष कहलाता है[५५]। परन्तु भ्रान्ति दशा में इसकी प्रतीति होती है और ज्ञान दशा में नहीं होती। तब यह अध्यस्त रूप विशेष होता है और कल्पित विशेष कहलाता है। जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है परन्तु इसका प्रतिबिम्ब केवल जल या दर्पण में ही उपाधि रूप से प्रतिबिम्बित होता है। अथवा जैसे सूर्यकान्त मणि केवल वस्त्र या कपास आदि को ही जलाती है अन्य पदार्थों को नहीं उसी प्रकार उपाधि स्वरूप आत्मा विशेष रूपों में व्यक्त होता है। इस विशेष चैतन्य से ही जीव में व्यावहारिकता आती है। आचार्य शङ्कर ने इसको ही अन्धकार के समान युष्मद् प्रत्यय का विषय माना है[५६]।

सामान्य चैतन्य त्रिकाल में एकरस रहता है। इसमें विशेष उपाधि रूप में विषयों की प्रतीति होती है। विशेष चैतन्य व्यावहारिक और सामान्य पारमार्थिक है। सामान्य ब्रह्म सत्य है और विशेष चिदाभास रूप में मिथ्या है। विशेष चैतन्य में कर्त्तापना भोक्तापना बन्धमोक्ष जन्म मरण और योनि प्राप्ति अध्यस्त हैं। यह संसार विशेष रूप है और अनात्म है। आत्मस्वरूप ब्रह्म सामान्य चैतन्य है[५७]। सामान्य चैतन्य ब्रह्म बुद्धि कल्पित सर्वदेश और काल में व्याप्त है। सामान्य चैतन्य में ही एक रज्जु में दण्ड सर्प, रेखा और धारा की भ्रान्ति होती है। इस दण्ड सर्प भ्रान्ति कल्पने में रज्जु ही 'सामान्य इदं' अंश है। यह सामान्य इदं अंश अव्यभिचारी नहीं है अर्थात विकार रहित है क्योंकि भ्रान्ति और भ्रान्ति निवृत्ति दोनों कालों में रज्जु शाश्वत सत्य है।

५४ विचार चन्द्रोदय। कला।८।
५५ विचार चन्द्रोदय। कला।१।
५६ विचार चन्द्रोदय। कला।१।
५७ विचार चन्द्रोदय। कला।१।

सामान्य चैतन्य अस्ति भाति और प्रिय रूप सब पदार्थों का ज्ञाता है। सामान्य चैतन्य सर्वाधिक सूक्ष्म और व्यापक है।

आत्मा को विशेषित करने वाले दो प्रकार के विशेषण हैं—विधेयमुखी और प्रतिषेधमुखी[५८]। आत्मा उत्पत्ति और नाश से रहित होने के कारण नित्य है। वृद्धि और ह्रास से रहित होने से वह अव्यय है। मायादि मलों से रहित होने से आत्मा शुद्ध है। वह सजातीय विजातीय, स्वगत और विगत भेदों से रहित है। शरीर रूप क्षेत्र का ज्ञाता होने से आत्मा क्षेत्रज्ञ है। समस्त पदार्थों का अधिष्ठाता होने से आश्रय है। विकार रहित होने से आत्मा अक्रिय है। आत्मज्ञान के लिए दूसरे पर निर्भर न होने के कारण आत्मा स्वयं प्रकाश है। ऊर्ण नाभि के समान जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से हेतु है। आत्मा सर्वत्र व्यापक है। भेद रहित होने के कारण आत्मा असंगी है। किसी आवरण से बाधित न होने के कारण आत्मा अनावृत है। इस प्रकार आत्मा के ये द्वादश धर्म कहे गये हैं[५९]। ज्ञानात्मा नाम से बुद्धि का, महानात्मा नाम से महत्तत्त्व और शान्तात्मा नाम से शुद्ध ब्रह्म का कथन होता है। स्थूल सूक्ष्म संघात समूह को मिथ्यात्मा कहते हैं। गौणात्मा से पुत्र का कथन और मुख्यात्मा से कूटस्थ ब्रह्म लक्षित है। संकल्प विकल्प रूप वृत्ति मन, निश्चय रूप बुद्धि, चिन्तन रूप चित्त, वृत्ति और अहंकार अहपने की वृत्ति से युक्त होने से यह आत्मा ही चार अन्तःकरणों में व्यक्त हुई है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा का उपाधि भूत अन्तःकरण मन, बुद्धि विज्ञान और चित्त आदि अनेक प्रकार से कहा जाता है। वृत्ति विभाग से संशय वृत्ति के कारण आत्मा ही मन संज्ञा वाला होता है[६२]। इसी प्रकार अन्तःकरण भी उपाधि भूत आत्मा का स्वरूप है[६१]। आचार्य शङ्कर ने छायात्मा और विज्ञान आत्मा का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। छायात्मा प्रतिबिम्ब मात्र है। यह नष्ट हो जाता है[६०]। विज्ञानात्मा नाम से जीव

---

५८ सच्चिद्, आनन्द स्वयं प्रकाश कूटस्थ साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा आदि विधेयमुखी लक्षण हैं। विचार चन्द्रोदय। कला।७।
अनन्त अखण्ड, अमल, अद्वितीय असंग निर्विकार, निराकार अचल, अव्यय और अक्षर निषेधमुखी लक्षण हैं। विचार चन्द्रोदय। कला।७।

५९ विचार चन्द्रोदय। कला।१६।

६० विचार चन्द्रोदय। कला।१६।

६१ उपाधिभूतमन्तःकरणं मनो बुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा। ब्रह्मसूत्र।२।३।३२।

६२ वृत्ति विभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।३२।

का बन्धन होता है। यह इन्द्रियों से युक्त होता है। आचार्य शङ्कर ने औपाधिक जीव स्वरूप विज्ञान आत्मा को परमात्मा से अनन्य कहा है[६३]।

आत्मा के पारमार्थिक रूप में वस्तुतः कर्तृत्व का अभाव है। यदि आत्मा को कर्ता मान लिया जाय तो उसमें स्वाभाविक कर्तृत्व मानना पड़ेगा। कर्तृत्व होने से मोक्ष प्रसंग का अभाव होगा क्योंकि कर्म के स्वाभाविक होने से आत्मा की कर्म से त्रिकाल में भी निवृत्ति न हो सकेगी। जैसे अग्नि का उष्णत्व से वियोग नहीं होता उसी प्रकार कर्तृत्वमय आत्मा से कर्म का निराकरण नहीं हो सकता। ऐसा होने से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती[६४]। कर्मस्वभावी होने से समाधि की भी सिद्धि नहीं हो सकती[६५]। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा में जो कर्तृत्व अध्यस्त है वह स्वाभाविक नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के लिए ध्यान करता हुआ सा, चिन्तन करता हुआ सा आदि वाक्यों का प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि वस्तुतः आत्मा ध्यान या चिन्तन नहीं करता, वरन् वैसा करता हुआ सा प्रतीत होता है[६६]।

ब्रह्मसूत्रों में आत्मा के कर्तृत्व का व्याख्यान करने के लिए शिल्पी का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार बढ़ई बसूला आदि लेकर कर्म करता है और थककर दुःखी होता है उसी प्रकार आत्मा कर्म में अध्यस्त होकर दुःख का अनुभव करता है। परन्तु अपने घर जाकर जिस प्रकार अपने बसूले आदि औजार रखकर बढ़ई स्वस्थ और सुखी होता है उसी प्रकार आत्मा कर्तृत्व से मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अविद्या कल्पित द्वैत से युक्त हुआ आत्मा स्वप्न और जागृति अवस्था में कर्ता होकर दुःखी होता है। यह आत्मा अपने परब्रह्म स्वरूप में प्रवेश करके कारण संघातों से मुक्त होता है एवं सुषुप्ति अवस्था में अकर्ता होकर सुखी होता है। इसी प्रकार मुक्ति की अवस्था में भी विद्या रूपी प्रदीप से अविद्या अन्धकार को दूर करके आत्मा ही केवल शान्त और सुखी होता है। जैसे बढ़ई अपने व्यापार

---

६३ ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।५।१७।

६४ पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। विचार चन्द्रोदय उपाख्यान।

६५ समाध्यभावाच्च। ब्रह्मसूत्र। २।३।३९।
न स्वाभाविककर्तृत्वमात्मनः सम्भवति अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।

६६ अग्नेरिवौष्ण्यात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४।
न च पुरुषार्थसिद्धिः। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४।
ध्यायतीव लेलायतीव। बृहदारण्यक उपनिषद्। ४।३।७।

कर्म की अपेक्षा से कर्त्ता होता है परन्तु अपने शरीर से वह अकर्ता है, इसी प्रकार आत्मा भी अपने मन आदि उपकरणों की अपेक्षा से कर्त्ता होता है अन्यथा अपने स्वरूप से तो आत्मा अकर्ता ही हैं[६७]। परन्तु आत्मा निरवयव है। उपाधिभूत मन आदि का ग्रहण या त्याग कर आत्मा में दुःख या सुख का आरोप होता है। यह आत्मा मन सहित ही आत्मा में विहार करता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यह विहार वासनामय है, पारमार्थिक नहीं[६८]। इसके विपरीत बुद्धि आदि एवं इन्द्रियों में कर्म करने की स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। ये कर्म औपाधिक होते हैं[६९]। बुद्धि इन्द्रियादि के द्वारा उपाधिभूत कर्तृत्व होता है। किन्तु आत्मा में परमार्थतः कर्तृत्व का अभाव है। अतः यहाँ भी विवर्त भावना की सम्भावना है। विवर्त भावना के सम्बन्ध में शङ्कर के अनुसार 'ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण में संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है।

यह आत्मा ही जीव है। आचार्य शङ्कर के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में यह शरीर आत्मा ही प्राण धारण करने वाला है। इसलिए भी एवं संसार की अनादिता व्यक्त करने वाला होने से यह आत्मा ही जीव नाम कहलाता है[७०]। जीव चेतन है तथा प्रज्ञात्मा भी है[७१]। प्रज्ञात्मा शब्द से मुख्य प्राण का भी कथन होता है। प्राण का अंश जीव है एवं वही मुख्य प्राण है। इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्मा साथ रहते हैं[७२]। आचार्य शङ्कर के अनुसार प्राण शब्द से न वायु का ही कथन किया गया है और न इन्द्रियों के व्यापार का ही। वायु के अध्यात्मभाव को प्राप्त होने पर एवं पुनः उसकी

६७ यथा च तक्षोभयथा। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।

६८ तथा लोके यस्तात्करणान्तः कर्त्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवति एवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसम्पृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्त्ता दुःखी भवति, ... परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातोऽकर्ता सुखी भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।
समना एव स्वप्ने विहरति। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।
वासनामय एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।

६९ कर्तृत्वमप्यस्य उपाधिनिमित्तमेवेति। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४०।

७० सृष्टमेव शरीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिप्रपन्नानि सृष्टस्य ... दर्शयति। अनादिमत्त्वे तु ससारस्य प्राग्सत्त्व कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सृष्टप्रमुखेऽभिलप्यत। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।१।३६।

७१ प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।३१।

७२ जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मना। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१। ३१।

पाँच अवस्थायें होने पर वह प्राण कहलाता है[७३]। प्राण की पाँच वृत्तियाँ मानी गई हैं। वे वृत्तियाँ प्राण अपान उदान व्यान और समान हैं[७४]। प्राण मन के समान पाँच वृत्तियों वाला माना गया है[७५]। अतः प्राण जीव का उपकरण कहा गया है[७६]। आचार्य शङ्कर मुख्य प्राण और अन्य प्राण में वैलक्षण्य मानते हैं। वाक् आदि के लीन होने पर भी मुख्य प्राण जागता रहता है। अन्य प्राण मृत्यु से आक्रान्त होते हैं पर मुख्य प्राण नहीं।[७७] इन्द्रियों और मुख्य प्राण में भी भेद हैं। इन्द्रियाँ विषय ज्ञान के लिए हैं परन्तु मुख्य प्राण नहीं[७८]।

छान्दोग्योपनिषद में जीव के लिए सम्प्रसाद शब्द का प्रयोग हुआ है[७९]। सम्प्रसाद शब्द आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का विज्ञापक है। आचार्य शङ्कर के अनुसार सम्प्रसाद शब्द से उक्त जीव जाग्रदावस्था में इन्द्रियों का प्रत्यक्ष होता है। जाग्रत अवस्था की वासनाओं से युक्त होकर नाड़ी में प्रविष्ट होकर वही स्वप्न का कारण होता है। तब यही आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीराभिमान से पृथक् होकर सुषुप्तावस्था में विज्ञानतत्त्व का परित्याग करके ब्रह्म में एकाकार होकर अपने स्वरूप में व्यक्त होता है[८०]। यद्यपि जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करना आचार्य शङ्कर का उद्देश्य है किन्तु जीव के जीवत्व और ब्रह्मत्व में ऐक्य की प्रतिष्ठा वे तब तक नहीं मानते जब तक कि जीव अपनी साधना से आत्म अनात्म का ज्ञान नहीं कर लेता। मुमुक्षुत्व प्राप्त करने के लिए आचार्य शङ्कर षट साधन सम्पत्ति का होना आवश्यक मानते हैं[८१]। इससे जीव की जागतिक सत्ता का गौडपाद के समान

७३ वायुरेवाऽयमध्यात्ममापन्न । ब्रह्मसूत्र भाष्य । २।४।९।

७४ प्राणोऽपानो व्यान उदान समान । बृहदारण्यक उपनिषद् ।१।५।३।

७५ प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतय । योग सूत्र ।१।६।

७६ जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य । ब्रह्मसूत्र भाष्य । २।४।१२।

७७ तत्त्वान्तर भूता मुख्यादितर । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।४।१८।
वैलक्षण्याच्च । ब्रह्मसूत्र भाष्य । २।४।१९।

७८ विषयालोचनमनुत्त चेन्द्रियाणां न प्राण । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।४।१९।

७९ अथ य एष सम्प्रसाद । छान्दोग्य उपनिषद् ।८।३।४।

८० सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितान् स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्त शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात् समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।२ ।

८१ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।

उन्होंने ब्रह्म का तिरस्कार नहीं किया। परमार्थ ज्ञान के लिए वे व्यावहारिक प्रमाण प्रमेय विधान स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि जीव ब्रह्म ही है, परन्तु उसमें व्यवहार भेद भी है। आचार्य शङ्कर उसमें और ब्रह्म में लौकिक भेद मानते हैं। जीव में परमेश्वर के सम्पूर्ण धर्म नहीं हैं[82]। जीव की महिमा अल्प है[83]। ब्रह्मसूत्रों में भी इस भेद का निर्देश है[84]। परन्तु यह भेद व्यावहारिक है और उपासना के लिए उपयोगी है ज्ञान-लाभ के लिए नहीं। मनोमयत्वादि गुण ब्रह्म में ही संयुक्त हैं जीव में नहीं। जीव शरीर में ही रहने वाला है। वह इस भोग के अधिष्ठान को त्यागकर अन्यत्र नहीं जाता है[85]। कठोपनिषद् में जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन छाया और ताप के रूपक के द्वारा किया गया है[86]। आचार्य शङ्कर ने यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट किया है। यह भेद व्यावहारिक है। यद्यपि छाया और ताप दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले हैं परन्तु यह विरोध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् में एक वृक्ष पर दो पक्षियों का प्रसंग आया है[87]। कठ उपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ माना गया है[88]। इसी प्रकार आचार्य शङ्कर के अनुसार ये पक्षी अध्यात्म प्रकरण के अन्तर्गत हैं। भक्षण करने के कारण एक पक्षी जीवात्मा और दूसरा द्रष्टा होने के कारण परमात्मा है। इन दोनों में द्रष्टा और द्रष्टव्य भाव है। मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि जीव शोक करता है। परन्तु वह अन्य से शोक रहित होकर परमात्मा की महिमा को जानता है[89]। क्रिया स्वयं दर्शन वाला अन्य है

---

८२ परमेश्वरस्य त्वविचिन्त्य गुणविशिष्टकार्यत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।३।२।

८३ न शारीरस्य तदुपपत्तिः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।३।२५।

८४ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः। ब्रह्मसूत्र।१।२।३।

८५ कीदृशं शरीरं स्व भवति तस्य भोगाधिष्ठानाद् शरीरादन्यत्र न वर्तमानम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।२।३।
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च। ब्रह्मसूत्र।१।२।४।

८६ कठ उपनिषद्।१।३।१।
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। ब्रह्मसूत्र।१।२।११।

८७ मुण्डक उपनिषद्।३।१।१।
विशेषणाच्च। ब्रह्मसूत्र।१।२।१२।

८८ कठ उपनिषद्।१।३।३। १।३।४।

८९ "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इत्यन्नभोक्ता भवति अनश्नन्नन्यो।
अभिचाकशीति इत्यनशनचेतनावान्या परमात्मा। द्रष्टृत्वेन।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।२।१२।

और जीवात्मा का साक्षी है। अतः अथवा जीवात्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व अविद्याजन्य हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार स्वप्न में हाथी के समान जीव के पारमार्थिक स्वरूप में कर्तृत्व भ्रान्ति अविद्याकृत है[६०]।

जीव का व्यवहार औपाधिक है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा का अनात्म पदार्थों में अभिनिवेश होता है। अनात्म में अभिनिवेश होने के कारण देहादि संघातों की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि मिथ्या बुद्धि के कारण होती है। सांसारिकता औपाधिक है और संसारी की इष्टप्राप्ति के लिए देह इन्द्रियों आदि की आवश्यकता है[६१]। जीव संसारी है और बुद्धि आदि उपाधियों का अभिमानी[६२]। आत्मा जैसे जैसे उपाधि परिच्छिन्न होता जाता है उस उस अवस्था विशेष के साथ आत्मा ही मन बुद्धि चित और ज्ञान आदि नामों द्वारा सम्बोधित किया जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार उपाधि शब्द से प्रायः बुद्धि का बोध होता है। आत्मा न चलन करता है और न ध्यान करता है परन्तु बुद्धि के चलन पर मानो चलता है और बुद्धि के ध्यान करने पर मानो ध्यान सा करता है। बुद्धि रूप उपाधि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होकर मिथ्या ज्ञानपूर्वक व्यवहार होता है। व्यवहार का ज्ञान बुद्धि के उपाधि होने के कारण है[६३]। आचार्य शङ्कर का बुद्धि के प्रति उपाधि कथन का विशेष आग्रह है। आत्मा की सांसारिक बुद्धि के संयोग नाश तक निवृत्ति नहीं होती। अथवा जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है तब तक जीवन और संसारित्व है[६४]। इस प्रकार बुद्धि और ब्रह्म के संयोग से व्यावहारिक जीव की स्थिति होती है। आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप में वह नित्य है और उपाधि के साथ मरण एवं जन्म धर्मा जीव कहलाता है। वस्तुतः जीव के विभाग नहीं होते, परन्तु आकाश में घटादि के सम्बन्ध के समान बुद्धि आदि उपाधियों से जीव विभक्त सा प्रतीत होता है[६५]। जीव के

६० समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। मुण्डक उपनिषद् ।३।१।२।

६१ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।२।१३। (४) ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१। ५।

६२ जीवो बुद्धयाद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।१८।

६३ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।३।३।

६४ बुद्धौ ध्यायन्तीव चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरस्सरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२। ।३ ।

६५ यावदात्मभावित्वाच्च बुद्धि संयोगस्य।
बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्य जीवस्य जीवत्व संसारित्वञ्च। बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः परिकल्पित स्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।३।३ ।

जन्म मरण भी उपाधि के कारण हैं, क्योंकि उपाधि के जन्म से इसका जन्म और तदनुसार मरण होता है[९६]।

हिरण्यगर्भ आत्मा को जीवघन कहा जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यह हिरण्यगर्भ सर्वेन्द्रियों से युक्त है। हिरण्यगर्भ ब्रह्म लोक का निवासी है। इन्द्रियों से आवृत्त जीवों का यह निवास-स्थान है। अतः यह जीवघन ब्रह्म लोक कहा जाता है[९७]। यह हिरण्यगर्भ जीव व्यष्टियों की समष्टि है। शरीर में ब्रह्म का निवास है। वह जीव रूप में शरीर रूप पुर में रहता है अतः उसको ब्रह्मपुर कहते हैं[९८]। आचार्य शङ्कर के अनुसार जिस प्रकार शालग्राम में विष्णु सन्निहित है उसी प्रकार इस जीवपुर में ब्रह्म सन्निहित है[९९]। परन्तु बुद्धि आदि उपाधियों के अभिमानी जीव में ब्रह्म ही नाम रूप वाला होकर अनुभव का विषय होता है। उनके कथनानुसार शरीर से पृथक् रहकर जो अपना स्वरूप प्राप्त करता है वही उसका पारमार्थिक स्वरूप है[१००]। यह जीव शरीर रूप पुर में रहने के कारण पुरुष कहलाता है[१०१]। आत्मा के शरीर में रहने से वह शारीर होता है। देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदि उपाधियों से परिच्छिन्न होने से शारीर शब्द से आत्मा का कथन होता है। उनके अनुसार यहाँ पर शारीर की व्युत्पत्ति कही गई है।[१०२]

परमार्थतः जीव में परिमाण नहीं है। अकर्ता अभोक्ता असंसारी नित्य मुक्त, मन स्वरूप होने से आत्मा के विभाग नहीं हो सकते। व्यवहार में जीव के छोटे-बड़े होने और स्थूल सूक्ष्म होने के विधान हैं। ये सब बुद्धि रूप उपाधि के धर्मों से अध्यास के कारण हैं। आचार्य शङ्कर का मत है कि जीव में बुद्धि के गुणों की प्रधानता होने से बुद्धि के परिमाण से जीव के परिमाण का कथन

---

९६ उत्पत्त्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिपादनमाकाशस्येव घटादिसम्बन्धनिमित्तम्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।३।१७।

९७ जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघन । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।१३।

९८ ब्रह्मणः पुरं सत् शरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।१४।
यथा शालग्रामे विष्णुः सन्निहित । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१। ।१४।

९९ पारमार्थिकं स्वरूपं यत् शरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य । १।२।१६।

१०० ब्रह्मसूत्र भाष्य ।

१०१ बृहदारण्यक उपनिषद् ।२।५।१८।

१०२ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।२।६।

होता है। इसका विपरीत उत्पत्ति, परिमाण आदि स्वाभाविक नहीं है[13]। बुद्धि के अभिप्राय से ही जीव का स्थान हृदय है[14]।

जीवात्मा विभु है अणु नहीं[15]। जीव चैतन्य है और सर्वत्र व्याप्त है। जैसे अग्नि का स्वरूप उष्णता और प्रकाश है वैसे ही जीव का चैतन्य स्वाभाविक है। द्वैत गुण और गुणी का विभाग नहीं है। अतः जीव चैतन्य स्वरूप है और उसके खण्ड नहीं हो सकते। आचार्य शङ्कर अणुत्व की मध्याकार भी नहीं करते परन्तु यह अणुत्व बुद्धि या उपाधि के माध्यम से ही गृहीत है[16]।

पारमार्थिक आत्मा में कर्तृत्व नहीं है किन्तु व्यावहारिक रूप से जीव रूप में आत्मा कर्तृत्व का अनुभव होता है। यह कर्तृत्व वस्तुतः अविद्याकृत होता है और ईश्वर अधिष्ठान रूप होकर जीव के कर्तृत्व का प्रवर्तक होता है। जीव के कर्तृत्व का ईश्वर नियामक है। जीव में राग द्वेष की प्रेरणा होती है। आचार्य शङ्कर का मत है कि अपने कर्तृत्व में जीव स्वतन्त्र नहीं है। कर्म का प्रेरयिता ईश्वर है। कृषि आदि कर्म यद्यपि जीव द्वारा होते देखे जाते हैं परन्तु जीव ईश्वर की प्रेरणा के बिना क्रिया नहीं कर सकता[17]। यहाँ जीव से निर्विशेष आत्मा और ईश्वर से मायावी ब्रह्म का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

ईश्वर प्रेरक है और जीव उस पर निर्भर है। यह प्रेरणा मायामयी है। यह अनादि है और जीव के कर्म और उसके फल के लिए ईश्वर पर आश्रित है[18]। इस सम्बन्ध में गीता में कहा गया है कि सबके हृदय देश में रहकर

१३ नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति ... बुद्ध्युपाधिधर्माध्यास निमित्तं ... बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।२६।

१४ हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।२६।

१५ तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्। ब्रह्मसूत्र।२।३।२९।

१६ चैतन्यमेव त्वस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ नात्र गुणगुणिविभागो विद्यते।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।२९।

१७ यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्तः सामग्रीसम्पन्नश्च जीवः ... यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धम् तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।४१।

१८ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

गीता।१८।६१।

परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति ... पूर्व ... अनादित्वात्संसारस्य।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।४२।

ईश्वर जीव को माया द्वारा यन्त्र में चढ़े हुए मनुष्य के समान घुमा रहा है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि जीव द्वारा पालित विधि निषेधों का नियोक्ता ईश्वर है। जीव उसके अधीन रहने वाला है। जीव और ईश्वर की प्रेरक और प्रवृत्ति होने की परम्परा बीजाङ्कुर न्याय से सिद्ध है[१०९]।

प्रश्न यह है कि जब आचार्य शङ्कर जीव और ब्रह्म का ऐक्य स्वीकार करते हैं तब तो जीव का भी ईश्वर के समान सामर्थ्यवान होना चाहिए। उसी के लक्षणों और गुणों से युक्त होने से जीव को मायादि कर्म विपाक या अज्ञान का अनुभव नहीं होना चाहिए। परन्तु आचार्य शङ्कर ने जीव की व्यावहारिकता में उसके संसार धर्मित्व का तिरस्कार नहीं किया। कर्म और उसके फल के लिए जीव ईश्वर के अधीन है। अविद्या के कारण जीवत्व है, अन्यथा नहीं। आचार्य शङ्कर का मत है कि जीव और ईश्वर में यद्यपि समान धर्मित्व है तो भी जीव में अविद्या का व्यवधान है। इस व्यवधान के कारण ही जीव का ईश्वर धर्म तिरोभूत है[११०]। जिस प्रकार अरणि में दहन और प्रकाश दोनों ही हैं परन्तु वे उसमें सन्निहित रहते हैं उसी प्रकार ईश्वर धर्म जीव में समाहित रहते हैं। नाम रूपादि अविद्या उपाधियों से प्रच्छन्न रहने के कारण ऐश्वर्य भ्रम से आवृत रहता है[१११]। यह तिरोभाव भ्रम के कारण है।

ईश्वर से जीव के बन्धन और मोक्ष होते हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होने से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है[११२]।

ब्रह्मसूत्रों में जीव को ईश्वर का अंश कहा गया है[११३]। आचार्य शङ्कर के अनुसार जीव और ईश्वर में अग्नि और उसके विस्फुलिंग के समान भेद है। इन दोनों में भेद प्रतीत होने पर भी उनकी उष्णता में अभिन्नत्व है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में चैतन्य साम्य है। इस प्रकार का अभेद द्योत

१०९ [illegible] । ब्रह्मसूत्र भाष्य । ३।२।५।

११० ब्रह्मसूत्र भाष्य । ३।२।५।

१११ [illegible] तिरोहितं भवति [illegible] [illegible] [illegible] । ब्रह्मसूत्र भाष्य । ३।२।६।

११२ [illegible] भवति ।
[illegible] । ब्रह्मसूत्र भाष्य । २।३।४।

११३ अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके । ब्रह्मसूत्र । २।३।४३।

हुए भी इनमें भेद की प्रतिष्ठा की गई है[११४]। इस भेद से सेवक स्वामी भाव में भी विरोध नहीं है। ईश्वर निरतिशय है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ईश्वर निरतिशय उपाधि से हीन उपाधि वाले जीवों का शासक है[११५]।

देह सम्बन्ध का ज्ञान भ्रान्ति के कारण होता है। उपाधिवश उत्पन्न देहादि का ज्ञान अज्ञान का ही रूप है। आचार्य शङ्कर के मत में इस देह सम्बन्ध से जीव के बन्धन और मोक्ष सम्भव हैं। पारमार्थिक आत्मा में ये नहीं होते हैं[११६]। जैसे अपवित्र स्थान का सूर्य परिहृत और पवित्र का ग्राह्य है, अथवा गोमूत्र पवित्र और अन्य अपवित्र कहा जाता है उसी प्रकार एक ही आत्मा में अनुज्ञा परिहार की व्यवस्था होती है। इस अनुज्ञा परिहार का उद्देश्य है एक आत्मा में कर्म और अकर्म का प्रदर्शन करना। जीव के कर्मों का साक्ष्य आत्मा में सहन होना चाहिए। जीव के समान ईश्वर को भी एकात्म रूप होने के कारण दुःखी और सुखी होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता[११७]। ब्रह्मसूत्र में जीव को ब्रह्म का आभासमात्र कहा गया है[११८]। आचार्य शङ्कर के अनुसार जीव जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है। जीव परमात्मा का आभासमात्र है। यहां जीव की व्यावहारिक सत्ता को लक्ष्य किया गया है। जिस प्रकार जल में सूर्य प्रतिबिम्ब न तो साक्षात् सूर्य ही होता है और न सूर्य से पृथक् प्रतिबिम्ब की कोई स्थिति होती है उसी प्रकार व्यावहारिक जीव न तो शुद्ध परमात्मा ही है और न उससे भिन्न कोई अन्य तत्त्व। इसी प्रकार सूर्य प्रतिबिम्ब के दोलायित होने पर सूर्य नहीं हिलता और इसी दृष्टान्त से एक जीव के कर्म या फल से दूसरे जीव में उसकी प्रतिक्रिया नहीं होती है। यह आभास अविद्या द्वारा उत्पन्न हुआ है। परमार्थतः आभास का कोई

---

११४ चैतन्यं चाऽविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिंगयोरौष्ण्यम्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४३।

११५ निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधि सम्पन्नाञ्जीवान् प्रशास्तीति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।३।४५।

११६ (विधि) 'ऐसा करे' यह अनुज्ञा है।
(निषेध) 'ऐसा न करे' यह परिहार है।

११७ कर्मव्यतिकर फलव्यतिकरो वा न भविष्यति। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।३।४६।

११८ आभास एव च। ब्रह्मसूत्र।२।३।५०।

स्वरूप नहीं है[११९]। चरक संहिता शारीर स्थान में कहा गया है कि आत्मा देही व शरीरी है। उसका सम्बन्ध अपने शरीर की स्पर्शेन्द्रियों से रहता है अतः वह दूसरे की वेदनाओं का अनुभव नहीं करता[१२०]। यहाँ आचार्य शङ्कर का आभासवाद प्रतिष्ठित होता है। यह आभास विवर्त भावना का सूत्रपात करता है। विवर्त भावना का संक्षिप्त परिचय हम शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप और सृष्टि माया अथवा अविद्या प्रकरण में दे चुके हैं।

जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व औपाधिक है। उसका संसार से सम्बन्ध व्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त आचार्य शङ्कर जीव और ब्रह्म में भेद नहीं मानते। इनमें भेद मानना अज्ञान का स्वरूप है। उपाधिनाश होने पर जीव ब्रह्म ही होता है। आचार्य शङ्कर जीव में परमार्थतः विकार नहीं मानते। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर ब्रह्मसूत्र में आये हुए काशकृत्स्न के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। आत्मा ही ब्रह्म है अतः ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य आत्मा का अभाव है। आचार्य शङ्कर जीव और ब्रह्म की एकात्मता में 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि उपनिषद् वाक्यों को प्रमाण मानते हैं। जीव और ब्रह्म का अभेद स्वाभाविक है। भेद तो अविद्या से उत्पन्न होता है। इसके नाश से जीव अविनाशी परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करता है[१२१]। ईश्वर में और जीव में ध्यान और ध्येय का सम्बन्ध है। जिस प्रकार अनेक आकाश में रहकर सूर्य एक ही रूप रहता है उसी प्रकार ध्यात रूप में जीव भेद होते हुए भी ध्येय रूप में जीव और ब्रह्म का अभेद है[१२२]। उसी प्रकार प्रकाश और उसके आश्रय का भेद भी है और अभेद भी है। सूर्य और उसके प्रकाश में

---

११९. नानात्मत्व नैव [illegible] प्रतिपत्तव्यम्।

ब्रह्मसूत्र भाष्य। १।१।४।

नैरन्तर्य [illegible] ब्रह्मसूत्र भाष्य। २। ५०।

१२०. देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे स्वे स्पर्शनेन्द्रिये।

सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्मातो वेत्ति वेदनाः॥ चरक संहिता। शारीरस्थान।

१२१. अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।२६।

[illegible] प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२६।

१२२. उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्। ब्रह्मसूत्र ३।२।२७।

उभयव्यपदेशात् [illegible] अहिकुण्डलवत् तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोग प्रांशुत्वानीति तु भेद एवमिहापीति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२७।

अत्यन्त भेद नहीं है क्योंकि दोनों में तात्त्विक एकरूपता है। इस प्रकार ही ईश्वर और जीव में अभेद और भेद है[123]। परन्तु यह भेद कल्पनामात्र है। सर्प चाहे वक्राकार हो चाहे कुण्डलाकार या दण्डाकार हो तो भी सर्प एक ही है। उसी प्रकार सूर्य और उसके प्रकाश में कथनमात्र का भेद है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अभेद प्रतिपाद्य है और भेद तो उपासना के लिए ही उपयोगी है। यहाँ जीव और ब्रह्म के अभेद से तात्पर्य है। भेद अज्ञानावस्था तक ही स्थित है परन्तु अभेद सूर्य और प्रकाश के ऐक्य का ज्ञान होने अथवा सर्प की एकरूपता होने के समान सत्य का अन्तिम निर्णय है[124]। इस प्रकार शङ्कर सिद्धान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभेद की प्रतिष्ठा है।

तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा आचार्य शङ्कर जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करते हैं। तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ 'वह ब्रह्म तू है' अर्थ होता है। यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु और उसके पिता की पारस्परिक ज्ञान वार्ता में प्रयुक्त हुआ है[125]। 'विचार चन्द्रोदय' के अनुसार तत् पद का वाच्य अर्थ ईश्वर और लक्ष्य अर्थ शुद्ध ब्रह्म है। त्वं पद का वाच्य अर्थ जीव और लक्ष्य अर्थ कूटस्थ साक्षी आत्मा है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि'[126] अयमात्मा ब्रह्म वाक्यों के लक्ष्य अर्थ और वाच्यार्थ ग्रहण होते हैं। विचार चन्द्रोदय के अनुसार लक्षणाएं तीन प्रकार की कही गई हैं—जहत् अजहत् और भागत्याग। तत्त्वमसि वाक्य में भाग त्याग लक्षणा है। इस लक्षणा से विरोधी भाग का त्याग होता है और अविरोधी का ग्रहण होता है। इस लक्षणा से माया वाच्यार्थ का त्याग होता है और अविरोधी शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का ग्रहण होता है।[127] इस प्रकार आचार्य शङ्कर ने जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है।

---

१२३ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्। ब्रह्मसूत्र। ३।२।२८।

१२४ अभेदमेव हि प्रतिपाद्य वेन निर्दिशति भेदन्तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तर विवक्षया। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२६।

१२५ छान्दोग्य उपनिषद्।६।१।१।१।२।३।४।५।६।

१२६ बृहदारण्यक उपनिषद्। १।४।१। ।५।१।१।

१२७ विचार चन्द्रोदय। कला।११।१।४।१।

चतुर्थ प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप

इस प्रकरण में हम आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा के स्वरूप पर विचार करेंगे। ब्रह्म जिज्ञासा ब्रह्म ज्ञान का साधन है। शङ्कर के अनुसार ज्ञानोपलब्धि के साधनों पर विचार करते हुए ब्रह्म जिज्ञासा के स्वरूप का विवेचन करना आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्रों का आरम्भ 'ब्रह्म जिज्ञासा' से ही हुआ है[1]। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म की जिज्ञासा 'ब्रह्म जिज्ञासा' है[2]। ब्रह्मसूत्र भाष्य में जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहा गया है[3]। ब्रह्म प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध होने के कारण ब्रह्म की जिज्ञासा करना व्यर्थ है, ऐसा कहना उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का मत है कि अनेक द्वैतवादी एवं नास्तिक मतों का विचार करके ब्रह्म जिज्ञासा द्वारा मोक्ष साधन की प्रतिष्ठा करना आवश्यक है। वेदान्त वाक्यों के अतिरिक्त अन्य मत मतान्तरों में मोक्ष का विधान नहीं है। अतः ब्रह्म जिज्ञासा करना उचित है[4]।

आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। इस आत्मा का ज्ञान सबको होता है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान होता। अतः ब्रह्मस्वरूप आत्मा के प्रसिद्ध होने के कारण ब्रह्म जिज्ञासा करना उचित है[5]। प्रसिद्ध आत्मा की ही जिज्ञासा हो सकती है क्योंकि अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान

---

१ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्मसूत्र १।१।१।

२ ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

३ ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

४ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

५ सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१।

नहीं हो सकता और ज्ञान का आश्रय न होने से जिज्ञासा का प्रश्न भी न उठ सकेगा। अतः ब्रह्म की जिज्ञासा करणीय है।

पूर्व मीमांसा दर्शन में धर्म जिज्ञासा का प्रतिपादन किया गया है[६]। आगामी पृष्ठों पर हम आचार्य शङ्कर के अनुसार धर्म और ब्रह्म जिज्ञासाओं की तुलना करते हुए ब्रह्मसूत्र सम्मत ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिष्ठा करेंगे। हम धर्म शब्द से पूर्व मीमांसा-दर्शन सम्मत चोदना लक्षणयुक्त अर्थात् कर्मकाण्ड विषय को ही ग्रहण करेंगे[७]। हम यह कह सकते हैं कि धर्म शब्द से यज्ञ आदि कर्मों का ही ग्रहण होता है।

वेदान्त सूत्रों अथवा उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा के ब्रह्म और धर्म दोनों ही के पृथक् लक्ष्य हैं। जिस प्रकार पूर्व और उत्तर का क्रम स्पष्ट है वैसे ही धर्म और ब्रह्म दोनों जिज्ञासाओं में पूर्व और उत्तर का सम्बन्ध प्रतीत होता है। परन्तु आचार्य शङ्कर ने कहीं भी दोनों जिज्ञासाओं का अन्योन्याश्रयित्व स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत दोनों जिज्ञासाओं का क्षेत्र और लक्ष्य भिन्न भिन्न है यह उनका अभिमत है। उनके अनुसार धर्म जगत की स्थिति का कारण है। धर्म प्राणियों की उन्नति और मोक्ष का हेतु है। वर्णाश्रम धर्म और कल्याण कामनाओं में निमित्त धर्म का अनुष्ठान होता है[८]। यह धर्म प्रवृत्ति अर्थात् लोकाभिमुख रूप कहा गया है। आचार्य शङ्कर का मत है कि सृष्टि रचना और उसके पालनकर्ता प्रजापतियों को यह प्रवृत्ति धर्म ग्रहण कराया गया[९]। तदुपरान्त ज्ञान वैराग्ययुक्त निवृत्ति धर्म का ग्रहण ऋष्यादिकों ने किया। धर्म और ब्रह्म की इन जिज्ञासाओं के इस क्रम से पूर्व और उत्तर का क्रम तो सिद्ध होता है परन्तु दोनों धर्मों में समन्वय लक्षित नहीं होता अपितु इसके प्रतिकूल वेदान्त भाष्य में धर्म और ब्रह्म जिज्ञासाओं में दृढ़ता से भेद स्थापित किया गया है[१०]।

---

६ अथातो धर्म जिज्ञासा। पूर्व मीमांसा दर्शनसूत्र ।१।१।

७ चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। पूर्व मीमांसा दर्शनसूत्र ।१।२।

८ जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिः आश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः। गीता भाष्य उपोद्घात।

९ सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास। गीता भाष्य उपोद्घात।

१० गीता भाष्य उपोद्घात।

धर्म ज्ञान में अनुष्ठान की अपेक्षा है और उसका फल अभ्युदय है। धर्म जिज्ञासा का विषय है। धर्म और यह धर्म पुरुष व्यापार के अधीन है। धर्म में विधि अथवा वैदिक कर्मकाण्ड बोध की प्रवृत्ति नहीं होती। विधि तो क्रिया साध्य है अतः इन्द्रियों के संयोग से पदार्थ ज्ञानमात्र होता है ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। धर्म ज्ञान के फल स्वर्गादि सुख होते हैं। परन्तु ये सुख अनित्य हैं। आचार्य शङ्कर के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि धर्म जिज्ञासा अथवा धर्म ज्ञान का लक्ष्य अभ्युदय या लौकिक सुख अथवा अस्थिर स्वर्गमात्र है[११]। इसके विरुद्ध ब्रह्म ज्ञान का फल मोक्ष है। उसमें अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा का विषय पुरुष व्यापार के आधीन नहीं है। ब्रह्म प्रमाण से ज्ञेय नहीं है, वरन् स्वयंसिद्ध है। प्रस्तुत ब्रह्म जिज्ञासा का कारण असाधारण है। इसकी विशेषता यह है कि ब्रह्म ज्ञान के पूर्व धर्म जिज्ञासा की अपेक्षा नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा के पूर्व हो सकती है और उसके उपरान्त भी। परन्तु ब्रह्म ज्ञान में भी नित्यानित्य विवेक, विराग शम दम और मुमुक्षुत्व साधनों की आवश्यकता आचार्य शङ्कर मानते हैं[१२]। इन साधनों पर हम आगे के प्रकरणों में सविस्तार विचार करेंगे। धर्म जिज्ञासा के उपरान्त ही ब्रह्म जिज्ञासा का कोई नियम नहीं है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदान्त अथवा उपनिषदों में प्रतिष्ठित ज्ञानमात्र पर्याप्त है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार कर्म द्वारा उपार्जित लोक क्षीण हो जाने पर पुनः पुनः जन्म मरण का भय रहता है[१३]। अतः ब्रह्मज्ञान से ही आचार्य शङ्कर परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष की उपलब्धि मानते हैं[१४]।

आचार्य शङ्कर के अनुसार जानने की इच्छा जिज्ञासा है[१५]। ब्रह्म की जिज्ञासा पुरुषार्थ अथवा ब्रह्मज्ञान का साधन है। विचार चन्द्रोदय के अनुसार समस्त पुरुषों की इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ है[१६]। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति पुरुषों की इच्छा के विषय हैं। इनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है।

---

११ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र ।१।१।१।
१२ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।
१३ पुण्यचितो लोकः क्षीयते। छान्दोग्य उपनिषद् ।८।१।६।
१४ ब्रह्म विज्ञानं हि परं पुरुषार्थः। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।
१५ ब्रह्म ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।
१६ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष मुख्य है और शेष गौण हैं।
विचार चन्द्रोदय उपादान।

अध्यास होने के कारण वस्तु की वास्तविकता प्रत्यक्ष नहीं होती। ब्रह्म ज्ञान के हेतु आत्मा अनात्मा के भेद का ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान में आचार्य शङ्कर प्रत्यक्ष एवं शास्त्रादि प्रमाण नहीं मानते। इसका कारण यह है कि प्रमाण के ग्रहण करने में इन्द्रिया और शास्त्र का आधार लिया जाता है। परन्तु यह आधार स्वतः मिथ्या ज्ञानमूलक हैं। इस प्रकार प्रमाणादि व्यावहारिक हैं। यह आत्म तत्त्व का ज्ञान केवल वेदान्त से प्राप्त होता है। इस ज्ञान का क्षुधा इत्यादि इन्द्रियजन्य विषयों से सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्मज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यावहारिक भेद नहीं है। इस ज्ञान से असंसारी अर्थात् परमार्थ स्वरूप आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस आत्मा की कर्माधिकार में अपेक्षा नहीं है[१७]। अध्यास ही अनर्थ का हेतु कहा गया है। अध्यास या मिथ्या बुद्धि नाश होने पर ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का ज्ञान होता है। जिज्ञासा का लक्ष्य इस प्रकार आत्मा अनात्मा में भेद ज्ञान है।

आचार्य शङ्कर का धर्म जिज्ञासा से तात्पर्य कर्मकाण्ड से है। उनके मत से कर्म और ब्रह्म विद्या में विलक्षणत्व है। कर्म काया, वचन और मन से होते हैं और मन, वाणी और शरीर के आश्रित होते हैं। कर्मों में इन्द्रिय संयोग की अपेक्षा है। ये धर्म अधर्म अविद्यात्मक हैं। शरीर के सुख और दुःख के तारतम्य से ये उत्पन्न होते हैं। धर्म अधर्म उत्पन्न सुख दुःख ही अनित्य संसार रूप में विद्यमान है[१८]।

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म ज्ञान धर्म ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है। उसे कूटस्थ और नित्य कहा गया है। उसमें किसी भी विकार का लेशमात्र भी नहीं है। आचार्य शङ्कर उसे नित्य तृप्त, निरवयव एवं स्वयं प्रकाश्य मानते हैं। आत्मा में धर्म अधर्म का सम्बन्ध तीनों काल में भी नहीं हो सकता[१९]। यह ब्रह्म ज्ञान कर्म फल से भिन्न

१७ शास्त्रीयं तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।

१८ कायवाङ्मनोभिश्च कर्माणि क्रियन्ते। धर्माधर्मफले सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

१९ पारमार्थिकं तु कूटस्थ नित्यम् व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

है। ब्रह्मसूत्रों का जिज्ञास्य कर्म फल विलक्षण यह ब्रह्म ही है[२०]। अनुष्ठान द्वारा उपार्जित फल अनित्य हैं। परन्तु आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिष्ठित मोक्ष नित्य है। नित्य के साथ अनित्य का संयोग नहीं हो सकता है। केवल ब्रह्म नित्य है और अविद्यात्मक संसार अनित्य है। अतः ब्रह्म और जगत का तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसी हेतु उनका कथन है कि मोक्ष को धर्म से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता। धर्म के साथ प्रिय अप्रिय विषयों का सम्पर्क रहता है जो नित्य नहीं कहे जा सकते। मोक्ष में प्रिय अप्रिय सुख दुःखादि का अतिरोध है जो धर्म के साथ सगत नहीं होते। धर्म का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियादि के साथ है। शरीरादि की अनित्यता के साथ ही धर्म भी अनित्य है। परन्तु शरीर से रहित स्थिति मोक्ष मानी गई है[२१]। अस्तु धर्म और ब्रह्म की जिज्ञासा सर्वथा पृथक है। धर्म अभ्युदय का व्यवस्थापक और ब्रह्म निःश्रेयस ज्ञान का स्वरूप है। कठोपनिषद में पय में धर्म और श्रेय से आत्मा का अर्थ ग्रहण करना संगत प्रतीत होता है।

आचार्य शङ्कर शास्त्र प्रमाण को ज्ञान का व्यावहारिक साधन मानते हैं। नैसर्गिक अविद्या के कारण व्यावहारिक ज्ञान ही अविद्यात्मक है। परन्तु वे यह नहीं कहते कि व्यावहारिक ज्ञान से समुद्भूत शास्त्रादि मिथ्यात्मक होने के कारण सर्वथा हेय है। वरन शास्त्र को वे ज्ञान का साधनमात्र मानते हैं। साध्य की उपलब्धि पर्यन्त व्यावहारिक शास्त्रादि ज्ञान की अपेक्षा है एवं तदुपरान्त साधनों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। शास्त्र यद्यपि व्यावहारिक है, परन्तु उसका प्रयोजन अविद्याकल्पित भेद की निवृत्ति करता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार शास्त्र ब्रह्म प्रमाण है क्योंकि उसका ज्ञान चाहे भले ही वह व्यावहारिक हो, अविद्या की निरावृत्ति करता है[२२]। शास्त्र का उद्देश्य वेदना वेदयित्री और वेद्य आदि भेदों को दूर करना है। ये भेद ही अविद्या में कल्पित हैं। ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण उसके ज्ञान के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार शास्त्र का उद्देश्य ज्ञान का विषयत्व रूप से प्रतिपादन करना नहीं है। शास्त्र का उद्देश्य ज्ञान की उस परम्परा को स्थिर रखना है जिससे आत्मस्वरूप का बोध कराया जाना

---

२० तस्येय जिज्ञासा प्रस्तुता। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

२१ अतएवाशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

२२ अविद्याकल्पितभेद निवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

है। शास्त्र से ब्रह्म की प्रतिष्ठा नहीं होती[२३]। यहाँ 'इदन्ता' शब्द का अभिप्राय लौकिक प्रमाणों से अलौकिक परमार्थ स्वरूप का ज्ञान करना है। किन्तु लौकिक प्रमाण ब्रह्म ज्ञान होने तक केवल साधनमात्र है। इसी प्रकार शास्त्रादि प्रमाण भी लौकिक ज्ञान से युक्त होकर भी अलौकिक ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं। ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है वरन् स्वतः ज्ञान स्वरूप है। शास्त्र प्रमाण की सीमा ब्रह्म ज्ञान होने तक है। ज्ञान परमात्म अनुभूति है। अहं ब्रह्मास्मि इस ज्ञान के होने तक शास्त्र की उपादेयता है। यह ज्ञान देयता और उपादेयता से रहित है। इसका कोई विषय नहीं है, अतः इसे प्रमाता की अपेक्षा नहीं है[२४]।

२३ न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। प्रत्यगात्मत्वेना विषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पित वेद्यवेदितृ वेदनादिभेदमपनयति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

२४ तस्माद् ब्रह्मात्मावगत्यवसाना एव सर्वे विधय सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

पञ्चम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार विद्या का स्वरूप

आत्मज्ञान की उपलब्धि में विद्या सर्वश्रेष्ठ साधन है। विद्या ही अविद्या का नाश करती है। अस्तु, इस प्रकरण में विद्या की परिभाषा, स्वरूप और उसके महत्त्व का विवेचन किया गया है।

विद्या ज्ञान का मुख्य साधन है। आचार्य शङ्कर के अनुसार वस्तु के स्वरूप निर्धारण को विद्या कहते हैं। उन्होंने सत्य और अनृत, आत्म और अनात्म का मिथुनीकरण अविद्यात्मक माना है[1]। इस मिथुनीकृत व्यावहारिक भाव में पारमार्थिक आत्मभाव का अनुसंधान विद्या द्वारा होता है। मुण्डक उपनिषद् में दो विद्यायें कही गयी हैं—परा और अपरा[2]। अपरा विद्या व्यावहारिक ज्ञान और कर्मकाण्ड के अनुरूप है। आचार्य शङ्कर के अनुसार छः वेदाङ्ग अपरा विद्यायें हैं[3]। वेद भी अपरा क्षेत्र में आते हैं। अपरा विद्या ब्रह्म ज्ञान में उपयोगी नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस विद्या का विषय संसार है। इस विद्या में कर्ता, कर्म एवं बाह्य साधनों की उपादेयता है। ब्रह्म ज्ञान के लिए कर्मफल की अपेक्षा नहीं है परन्तु अपरा में कर्म के साथ उसका फल भी सम्बद्ध है। कर्म और उसके फल में अन्योन्याश्रिता है। अतः अपरा विद्या द्वारा प्रदीप्त कर्म साधना और उसके अनुकूल फल-व्यवस्था ज्ञान का साधन नहीं है[4]। अपरा विद्या को आचार्य शङ्कर ने दुःख रूपा माना है।[5]

---

1. तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।
2. मुण्डक उपनिषद् ।१।१।४।
3. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गान्यपरा विद्या ।
मुण्डक उपनिषद् भाष्य ।१।१।५।
4. सर्वापरविद्या संसारा दुःखरूपा वा ।
मुण्डक उपनिषद् । सम्बन्ध भाष्य ।१।२।
5. मुण्डक उपनिषद् । मुण्डक भाष्य ।१।२।

अपरा का सम्बन्ध कर्म और संसार से है। कर्म की साधना दोषपूर्ण है। क्योंकि कर्म अनित्य है और उसका फल भी अनित्य है। उनकी मान्यता है कि कर्म चार प्रकार के हैं—प्राप्य उत्पाद्य आप्य और विकार्य अथवा संस्कार्य। ये कर्म फल परिणाम वाले हैं और अनित्य हैं[६]। ये कर्म अविद्यात्मक कदलि स्तम्भ के समान ... हैं। कर्म और कर्मजन्य फल जल बुद्बुद और फेन के सदृश क्षण स्थायी हैं[७]। आचार्य शङ्कर का कथन है कि कर्मठ पुरुष ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता[८]। इस विद्या का अधिकारी मोक्ष का अधिकारी नहीं होता। उसे केवल स्वर्ग का अधिकार है। यहाँ यह बात अपरा विद्या के प्रसंग में कही गई है। उनके अनुसार इस विद्या का उल्लेख हिरण्यगर्भ में पर्यवसित होता है[९]। अपरा विद्या द्वैतात्मक है। यज्ञ अग्निहोत्रादि भी स्वर्ग स्वरूप है। सगुण विद्या अपरा विद्या का ही रूप है। अपरा और सगुण विद्या में साम्य है। दोनों ही विद्यायें लोक का विषय है। संसार त्रिगुणात्मक है और अपरा विद्या भी संसार रूप है। सगुण और अपरा दोनों ही विद्यायें कर्म का लाभ करता हैं। गुणों की स्थिति में भेद उत्पन्न होता है। यहाँ गुणों का तात्पर्य प्रकृति के तीन गुणों से है। गुणों के सम्बन्ध में हम प्रकृति प्रकरण में विचार कर चुके हैं। सगुण विद्या में उपास्य और उपासक का भेद है। इसी प्रकार अपरा विद्या भी द्वैतात्मक है। गुणों के सहयोग से कर्म की उत्पत्ति होती है। सगुण विद्या से यहाँ कर्मकाण्ड सम्बन्धी साधन का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। प्रकृति के गुणों से कर्म उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सगुण विद्या में कर्म की अपेक्षा है। निर्गुण विद्या ब्रह्म विद्या है। निर्गुण विद्या में कर्म साधन की आवश्यकता नहीं।

गीता में कहा गया है कि जो मुझको जिस भाव से भजता है मैं उसको

---

६ ... उत्पाद्यं ... संस्कार्यं विकार्यं वा ... कार्यं ... । मुण्डक उपनिषद् भाष्य।

७ कदली गर्भस्तम्भ ... मरीच्युदक गन्धर्वनगराकारस्वप्न जलबुद्बुदफेन समान प्रतिक्षण ... । मुण्डक उपनिषद् भाष्य।

८ न हि कर्मिणो ब्रह्म निष्ठता सम्भवति। मुण्डक उपनिषद् भाष्य।

९ यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम्। मुण्डक उपनिषद्।

१ गीता ।४।११।

उसी रूप में प्राप्त होता है[११]। जिस कामना से अग्निहोत्रादि किये जाते हैं, तदनुसार फल होता है। आचार्य ने कहा भी है कि गुणों के प्रवाप और उद्वाप से भेद उत्पन्न होता है। उस भेद के अनुकूल ही फल में भी भेद होता है। इसी प्रकार के फल की व्यवस्था कर्म में भी है[११]। अपरा विद्या उपनिषद का वर्ण्य विषय है। गुण सिद्धान्तों का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद में हुआ है।

उपनिषदों में परा विद्या का विवेचन हुआ है। मुण्डक उपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर ने इसे अक्षर विषयक कहा है।[१२] परा विद्या अक्षर ब्रह्म बोधक है। यह निर्गुण स्वरूप की प्रतिष्ठा करती है। न तो शरीर के समान इसका कारण होता है और न राजा के कोष के समान इसका व्यय ही होता है अतः इसको अक्षर कहा गया है[१३]। यह परा विद्या ही ब्रह्म विद्या नाम से अभिहित की जाती है। यह अक्षर उत्पत्ति करने वाला और जीवों का कारण है[१४]। अपरा का विषय कर्म फल है। यह सापेक्ष्य सत्य है परन्तु परा का परमार्थ स्वरूप कहा गया है। यह अद्वितीय और निरपेक्ष्य है[१५]। अपरा द्वारा उपदिष्ट अग्निहोत्रादि अविद्या और कर्म के समुच्चय हैं परन्तु परा ब्रह्म ज्ञान की प्रतिष्ठा करती है। अपरा लोकासक्ति का स्वरूप है और परा लोक से विरक्ति का। परा विद्या के क्षेत्र में कर्म का विरोध है। परा विद्या वस्तुतः कर्म का निःशेषतः बहिष्कार नहीं करती। किन्तु इसके अनुसार कर्म विशेष रूप से अभ्युदय और सगुण उपासना में उपयोगी है। आचार्य शङ्कर के अनुसार कर्म विद्या का साधन मात्र है। परन्तु वह कर्म जो केवल अभ्युदय का साधक है वह बन्धन का कारण है।

अतः यज्ञादि विधान ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। विद्या अपनी उत्पत्ति के लिए कर्म की अपेक्षा रखती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अश्व में

११ सगुणासु तु विद्यासु गुणावापोद्वापकृतो भेदः फलभेदो नियमः कर्मफलवत्।
नैव निर्गुणाया विद्याया गुणाभावात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४।५२।

१२ उपनिषद् शाङ्कर विषय। मुण्डक उपनिषद् भाष्य। १।१।५।

१३ नहि अनवयवस्य स्वावयवापचयलक्षणा सम्भवति व्यय शरीरस्येव। नापि कोशापचयलक्षणो व्यय। मुण्डक उपनिषद् भाष्य ।१।१।६।

१४ ज्ञानेनोपविविधितया भूतयोनिरक्षरं ब्रह्म। मुण्डक उपनिषद् भाष्य ।१।१।८।

१५ यदपरविद्याविषयं कर्म फललक्षणं सत्यं तदापेक्षिकम्। परविद्याविषयं परमार्थसल्लक्षणत्वात्। मुण्डक उपनिषद् भाष्य ।२।१।१।

रथ खींचने की योग्यता है किन्तु तृण खींचने की नहीं[१६]। इसी प्रकार कर्म केवल ज्ञान को प्राप्त कराने का साधनमात्र है स्वतः साध्य नहीं है।

निर्गुण विद्या और परा विद्या में समन्वय है। सगुण विद्या में कर्म से ऐश्वर्य की प्राप्ति मानी गई है। सगुण विद्या का उद्देश्य ऐश्वर्य होते हुए भी उससे पाप की निवृत्ति होती है। किन्तु निर्गुण विद्या के अनुसार आत्मा में काम आदि की स्वीकृति नहीं है। परा विद्या अक्षरात्मिका है। अक्षर ब्रह्म ही परा विद्या का उद्देश्य है। निर्गुण विद्या का लक्ष्य ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार परा विद्या से कर्म का प्रवाह होता है। निर्गुण विद्या के अनुसार आत्मा में त्रिकाल में भी कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं होते। इसके विपरीत कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित आत्मा में 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार निर्गुण विद्या ही मोक्ष का साधन है। सगुण विद्या में तो यज्ञ आदि विधानों की स्वीकृति है किन्तु निर्गुण विद्या में किसी विधान की आवश्यकता नहीं है। आत्मज्ञान मात्र से आचार्य शङ्कर कर्म का नाश मानते हैं[१७]।

अपरा विद्या में लोकासक्ति है परन्तु परा में नहीं है। यह परा विद्या ही ब्रह्म विद्या नाम से प्रसिद्ध है। निर्गुण अथवा परा विद्या में आश्रम धर्म की अनिवार्यता नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म विद्या में संन्यासगत साधना का ही अधिकार है[१८]। उनके अनुसार ब्रह्म विद्या अग्रजन्मा ब्रह्मा के द्वारा कही गई थी। अतः इसे ब्रह्म विद्या नाम से अभिहित किया जाता है। यह समस्त विद्याओं की अभिव्यक्ति का हेतु है[१९]।

विद्या ज्ञान का साधन है। विद्या की साधनता अति व्यापक है। आचार्य शङ्कर के अनुसार कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड तथा योगादि साधन भी विद्या के अङ्ग हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विद्या इन साधनों के

१६ यथा च योग्यतावशानाऽश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते उत्पत्तौ त्वपेक्ष्यन्ते।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।४।२६।

१७ निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात् कर्मप्रवाह सिद्धि निष्पत्ति कालेष्वकर्तृत्वाभात् स्वरूप ब्रह्मास्मिरमिण्व एव च मोक्ष उपपद्यते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।४।१।१३।

१८ अधिकारस्यापि संन्यास निष्ठैव ब्रह्म विद्या। मुण्डक उपनिषद्। सम्बन्ध भाष्य।

१९ सा ब्रह्मणाग्रजन्मनोक्तेति ब्रह्म विद्या सर्व विद्याप्रतिष्ठाम् सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतु वा सर्व विद्याश्रयामित्यर्थ। मुण्डक उपनिषद्। सम्बन्ध भाष्य।

अधीन रहकर फलवती होती है। विद्या इन साधनों से स्वतन्त्र है। विद्या मुक्ति का साधन अवश्य है, परन्तु मुक्ति कार्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्या स्वतः मुक्तिस्वरूप नहीं है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार मुक्ति तो स्वतः सिद्ध है। कर्मों में विभेद और अनेकरूपता है, परन्तु विद्या में अथवा विद्या के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। विद्या कर्म और उपासना के अनाश्रित रहकर भी फलवती होती है। इस प्रकार विद्या-साधनता में वैषम्य भले ही हो परन्तु उसका लक्ष्य मुक्ति है[20]।

उपनिषदों में अनेक विद्याओं का कथन हुआ है परन्तु सभी विद्याओं का लक्ष्य आत्मज्ञान प्राप्त करना है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि नदी में डाला हुआ घृत या जल पलका में ही जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक विद्या का एक ही फल है[21]। विद्या की साधनता में कर्म और उपासनादि सहकारी उपकरण हैं। यह उपकरणता विद्या प्राप्ति में सहायकमात्र है। आचार्य शङ्कर के अनुसार वेदान्तों में विद् और उपास् धातु का प्रयोग-साम्य उपलब्ध होता है। इन दोनों में उपक्रमण और उपसंहार की अन्योन्याश्रितता है। कहीं विद् से उपक्रमण और कहीं उपास् से उपसंहार उपलब्ध होता है[22]। इस प्रकार विद्या और उपासना का समन्वय परिलक्षित होता है। परन्तु यह समन्वय विद्या का ही पर्यवसायी है। विद्या की उपलब्धि होने पर अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती।



२० ब्रह्मसूत्र भाष्य ४।१।१३।

२१ छान्दोग्य उपनिषद् १।१५।१।

२२ विदुपास्योश्चैवं वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्तिनोप संहरति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ४।१।१।

षष्ठम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार कर्म का स्वरूप

कर्म सिद्धान्त का वैदिक दर्शन में विशिष्ट स्थान है। पूर्व मीमांसा दर्शन में कर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। गीता में कर्म योग और कर्म संन्यास का वर्णन है, किन्तु आचार्य शङ्कर का साध्य कर्म नहीं है। उनका लक्ष्य है अद्वैत ज्ञान। फिर भी वे कर्म की निन्दा या उपेक्षा नहीं करते। वे कर्म को सत्त्वशुद्धि और लोकसंग्रह के लिए उपयोगी मानते हैं। ज्ञान प्राप्ति के निमित्त भी कर्म की उपयोगिता है। इस प्रकार आचार्य कर्म को लक्ष्य नहीं मानते। हाँ, ज्ञान लाभ पर्यन्त कोई भी साधन उसकी उपलब्धि में सहायक हो सकता है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार समस्त क्रियमाण व्यापार कर्म है[1]। कर्म के लिए देहादि चेष्टायें अनिवार्य हैं[2]। कर्म नैसर्गिक है और इसी को संसार अथवा विश्व नाम से अभिहित किया जाता है। कर्म की उत्पत्ति में गुण और स्वभाव ये दो सहकारी कारण हैं। कर्म सिद्धान्त समस्त लौकिक व व्यावहारिक सत्या की प्रतिष्ठा करता है और जगत को क्रम अथवा विभाजन प्रदान करता है। गुण प्रकृति के अन्तर्भूत हैं और कर्म गुणों से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार गुण प्रकृति में स्वभावतः वर्तमान हैं अथवा गुणों का समुच्चय ही प्रकृति है उसी प्रकार कर्मों में गुणों की स्वाभाविक स्थिति है। इसी प्रकार कर्म भी स्वाभाविक हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार जन्मान्तरों में किये गए कर्म संस्कार रूप में रहते हैं। वे ही संस्कार वर्तमान जन्म में कार्य रूप में व्यक्त होते हैं। संस्कारों की यह अभिव्यक्ति ही स्वभाव है अथवा संस्कार रूप स्वभाव ही गुणों का कारण है[3]।

---

१ कर्मप्रविकर्म क्रियते इति व्यापारमात्र। गीता भाष्य ४।१८।

२ कर्म नाम देहादि चेष्टा लोक प्रसिद्ध। गीता भाष्य ४।१६।

३ जन्मान्तरकृतसंस्कार प्राणिनो वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेन अभिव्यक्त स्वभाव सम्भवा यथा गुणा। स्वभावप्रभवा गुणा। गीता भाष्य १८।४१।

वण चार हैं—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र । ब्राह्मण के शम दम, तप इत्यादि सात्त्विक कम हैं । क्षत्रिय के शौय तेज आदि रजोगुणी कम हैं । इनमे सत्त्व गुण गौण है । तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान कृषि आदि वैश्य कम हैं । शूद्र के कर्मों मे तमोगुण की प्रधानता और रज की गौणता है[४] । परन्तु यह विभाग ईश्वरकृत है । वण और कम विभाग मायिक और व्यावहारिक है[५] । ये विभाजन ईश्वरकृत होने पर भी पारमार्थिक नही हैं ।

आश्रम धम की व्यवस्था सामाजिक है । उसमें कम का अधिक महत्त्व है । अमुमुक्षु के लिए नित्य कर्मों की व्यवस्था दी गई है । आश्रम-कम विद्या की प्राप्ति म उपयोगी हैं । आश्रम कर्मों म अग्निहोत्रादि का विशिष्ट स्थान है[६] । आश्रम धम में कम की अपेक्षा है किन्तु कम से विद्या उत्कृष्ट है । विद्या के लिए कम आश्रमित्व की अनिवायता नही है[७] । आचाय शङ्कर वदिक कम काण्ड को अत्यन्त निरुपादेय नही मानते । उनके अनुसार अनुष्ठित यज्ञादि मुमुक्षु के ज्ञान-साधक हैं[८] । ज्ञान के दो प्रकार के साधन हैं—अन्तरग और बहिरग । जिनम विविदिषा अथवा जिज्ञासा के साथ सयुक्त यज्ञादि उसके बहिरग साधन हैं । विद्या के साथ शम दम आदि का सयोग होकर वे विद्या के अन्तरग साधन हैं[९] । परन्तु विद्या पक्ष म उसके फल के लिए यज्ञादि की अत्यन्त आवश्यकता नही । विद्या के लिए शमादि साधनो की आवश्यकता है । आश्रम धम की अनिष्ठा से ज्ञान का कोई सम्बन्ध नही । ये व्यावहारिक धम हैं और विधि मात्र हैं । तब प्रश्न यह है कि सन्यासाश्रम में कम की व्यवस्था किस प्रकार से हो सकेगी ? आचाय शङ्कर के अनुसार आश्रम में विहित कम न करने से आश्रम धम बाधित होता है । परन्तु सन्यास आश्रम मे वसा नही होता । शम, दम आदि ब्रह्म निष्ठा के पोषक हैं । यह ब्रह्म निष्ठा ही सन्यास आश्रम का कम है जबकि यज्ञादि दूसरे आश्रमो के कम हैं । इस प्रकार आश्रम की अवस्थिति विद्या के लिए अनिवाय नही है । कम की आवश्यकता वस्तुत दो प्रकार से है—लोक सग्रह के लिए और चित्त शुद्धि के लिए । लोक सग्रह

४ गीता भाष्य ।४।१३।

५ मायासत्त्वद्वारेण । गीता भाष्य ।४।१३।

६ यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च सर्वाणि विद्यासहकारीणि । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४ ३५।

७ अनाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४।३६।

८ यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४।२७।

९ विद्या साधनानि शमादीनि 　　　　विविदिषासयोगात्तु बाह्यानितराणि यज्ञादीनीति ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४।२७।

के लिए यदि कर्म न किया जाय तो सामाजिक व्यवस्था भंग होगी और अव्यवस्था होगी। लोक संग्रह के लिए किए गए कर्म से समस्त लौकिक अभ्युत्थानात्मक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। गीता में कहा गया है कि जैसा व्यवहार श्रेष्ठ जन करते हैं वैसा ही दूसरे लोग भी करते हैं। वहीं पर अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ज्ञानियों को कर्मासक्त मनुष्यों में बुद्धि भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए[10]। आचार्य शङ्कर का मत है कि ज्ञानियों के कर्म लोक संग्रह के लिए हैं[11]। कर्म का दूसरा हेतु चित्त शुद्धि कहा गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अज्ञान में अथवा आसक्ति द्वारा किए गए दान या तप या यज्ञ से भी अन्तःकरण शुद्ध होता है। तदुपरान्त ही परमार्थ विषयक ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका प्रस्तुत होती है[12]।

मनुष्य के लिए कर्म न करना असम्भव है। ब्रह्म चैतन्य का यह प्रतिरूप और लक्षण है। मनुष्य बिना कर्म किए नहीं रह सकता। आचार्य शङ्कर के कथनानुसार ज्ञान होने के पूर्व कर्म का अशेषतः त्याग नहीं हो सकता। शरीर इन्द्रियादि चाहे अविद्या कल्पित हों या सत्य परन्तु कर्म इनका धर्म है। तब तक कर्म का आत्मा में अध्यारोप है ही। अतः अज्ञानी कर्मों का निःशेषतः त्याग नहीं कर सकता[13]। अब यहाँ प्रश्न अकर्म का होता है। कर्म त्याग को अकर्म कहा जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अविद्या कल्पित कर्म न करके चुपचाप बैठ जाने का नाम ही अकर्म है[14]।

गीता में कहा गया है कि कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य इन कर्मों के करने को परवश है। अकर्म पालन के करने के हेतु जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को रोक कर बैठे रहते हैं वे मिथ्याचारी हैं[15]। आचार्य

१० यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। गीता।३।२१।
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम। गीता।३।२६।
११ लोक संग्रह एव यत्नपूर्वं यथाप्राप्त। गीता भाष्य।२।१।
१२ गीता भाष्य। २।१।
१३ अज्ञानेन रागादिप्रयुक्तो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा विशुद्ध सत्वस्य ज्ञान उत्पन्न। गीता भाष्य। २।१।
१४ यदि वस्तुभूता गुणा यदि वा अविद्याकल्पिता तद्धर्म कर्म तदात्मन्यविद्ययाध्यारोपितम् अविद्वान कश्चित क्षणमपि अशेषतस्त्यक्तुं शक्नोति। गीता भाष्य।१८।४८।
१५ अवशः एव कर्म सर्व प्राणी प्रकृतिजः प्रकृतितो जातः सत्वरजस्तमोभिः गुणैः।
गीता भाष्य।३।५।
कर्मेन्द्रियाणि हस्तादीनि संयम्य संहृत्य य आस्ते तिष्ठति मनसा स्मरनचिन्तयन इन्द्रियार्थान विषयान विमूढात्मा विमूढान्तःकरणो मिथ्याचारो मृषाचार पापाचार। गीता भाष्य।३।६।

शङ्कर का भी मत है कि कर्म का प्रयोजन भोग है। अतः भोग के बिना कर्म क्षय नहीं होता। अस्तु ज्ञान के लिए कर्म भोग की परिसमाप्ति आवश्यक है[१६]।

कर्म भोग का क्षरण योग के उपरान्त होना सगत ही है। कर्म में एक शक्ति की स्थिति है। इस शक्ति से ही कर्म फल प्राप्त होता है। इस शक्ति का नाश भी नहीं हो सकता, परन्तु विद्या द्वारा यह प्रतिबद्ध होती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार शास्त्रीय ज्ञान द्वारा इस शक्ति का प्रतिबन्ध या अप्रतिबन्ध नहीं हो सकता[१७]। विद्या द्वारा कर्म का संरक्षण होता है। अतः कर्म मुख्यतः अविद्यावान का विषय है। यहाँ तक कि आचार्य शङ्कर ने कहा भी है कि अज्ञानियों के लिए ही कर्म योग है। ज्ञानियों में क्रिया का अभाव है। अतः कर्म की निष्ठा उनका लक्ष्य नहीं है[१८]। इस प्रकार कर्म की लोक और व्यवहार में आवश्यकता होते हुए भी परमार्थ में उसका महत्व नहीं है। हाँ, साधना-क्षेत्र में चित्त शुद्धि और ज्ञान-सग्रह के निमित्त कर्म की महत्ता है। परन्तु विद्या की उत्पत्ति में भी कर्म अविद्वान का ही आश्रय है। विद्या स्वतन्त्र है और उसकी उत्पत्ति में कर्म की आवश्यकता नहीं भी हो सकती है। अतः कर्म ही मोक्ष का स्वतन्त्र साधन नहीं हो सकता[१९]।

कर्म का लक्ष्य है—उसका फल या व्यवहार। कर्म में फल की अपेक्षा है परन्तु फल आचार्य शङ्कर के अनुसार माया कार्य है। वस्तुतः कर्म भी त्रिगुणात्मक ही है और उपाधि का संयोग कर्म में है। अतः फल में भी कर्म की अनुरूपता है। फल कर्म कारक है और कर्ता द्वारा निष्पन्न होता है। यह जीवात्मा के आश्रित-सा प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः जीवात्मा इससे निर्लिप्त है। यह अविद्या जनित और महामोह का कारण है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यह फल बाजीगर की माया के समान है और निःस्सार है। इसका अस्तित्व अस्थायी है[२०]। गीता में अनिष्ट, इष्ट और मिश्र ये तीन प्रकार के

१६ नहि भोगादृते कर्मक्षीयते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।४।१।१३।
१७ नहि शब्दप्रमाणक प्रमाणयितुं शक्तिमत्वानीमहे विद्या एव सा मा तु विद्यान्तरा कारणा नौग प्रतिबध्यत। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।१।१२।
१८ अज्ञानाम एव हि कर्मयोगः। गी। भाष्य।३।५।
१९ कर्मनिष्ठायां ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन। गीता भाष्य।३। ।
२० बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्न सत् अविद्याकृतम् इन्द्रजालमायोपम महामोहकर प्रत्यगात्मापर्म इव फल्गुत्वात् नयन अदर्शन गच्छति। गीता भाष्य।१८।१२।

कम कहे गए हैं। पशु पक्षी आदि योनि रूप अनिष्ट, देव योनि म इष्ट और मिश्रित रूप मे मनुष्य योनियाँ व्यक्त होती हैं। आचाय शङ्कर के अनुसार अज्ञानियो को ये फल मरणोपरान्त मिलते हैं। परमाथ साधको को ये फल स्पश नही करते[२१]।

इन कर्मों के तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। ये कम ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक म वतमान है। इनके फल अधम और धम रूपों मे हैं। सुख दुःख रूप म इनका प्रत्यक्ष होता है। आचाय शङ्कर के अनुसार इनका उपयोग मन वाणी और शरीर से होता है[२२]। फल की दृष्टि से कम तीन प्रकार के माने गये हैं—सचित, आगामी और प्रारब्ध[२३]। संचित कम जन्मान्तरो मे किए गए कर्मों के समूह को कहते हैं। ये संचित कम वतमान जन्म म भोगे जाते हैं। आगामी कम वतमान जन्म म क्रियमाण होते है और भावी जन्म के सस्कारो का सचय करते हैं। प्रारब्ध कम वतमान जन्म के प्रारम्भक कम हैं। ये पिछले जन्म के किए गये कर्मों के सस्कार रूपा मे वतमान जीवन का भविष्य प्रेरित करते है[२४]। कर्मों का क्षेत्र सीमित नही है। जीवन की आवश्यकता के अनुकूल वे अपना रूप धारण करते हैं—जसे नित्य कम नमित्त कम विधि और निषिद्ध कम काम्य कम और निष्काम कम इसी प्रकार विहित कम शारीर कम भी है। इनमे से कुछ कम वदिक विधान का अनुसरण करते हैं। जसे यज्ञ करो और यह विधि कम हैं। हिंसा न करो यह निषिद्ध है। विहित कम विधि के अन्तभूत हैं। वदिक सहिताओ म उपदिष्ट यज्ञ और अग्निहोत्र विहित कम हैं। कुछ कम जीवन यात्रा के लिए आवश्यक हैं—जसे नित्य कम। नमित्त कर्मों म किसी विशेष कामना की प्रेरणा होती है। काम्य कम कामना के पूरक हैं। शरीर द्वारा होने वाले शारीर कम है जबकि चिन्तन आदि मानसिक कम हैं। वाणी द्वारा प्रसूत क्रिया वाचिक कम है। गीता म निष्काम कम की योजना प्रस्तुत की गई है। अन्य कर्मों और निष्काम कम में अन्तर केवल यही है कि अन्य कर्मों मे फल की अपेक्षा है, परन्तु निष्काम कम मे फल की कामना नही रहती। गीता मे कम के एक

२१ अनिष्ट नरकतिर्यगादिलक्षणम् इष्ट देवादि लक्षण अज्ञानां कर्मिणां अपरमार्थ सन्यासिना प्रेत्य शरीरपातात् ऊर्ध्वम्। न तु परमार्थ सन्यासिना। गीता भाष्य।१८।१२।

२२ विचार चन्द्रोदय। कला।१६।

२३ शारीर वाचिक मानस च कम श्रुतिस्मृति सिद्ध धमाख्य। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।१।४।

२४ विचार चन्द्रोदय। कला।१६।

तात्त्विक स्वरूप स्वीकार कर लिया है। वहाँ कर्म शब्द का विशेष अर्थ है वेद विहित कर्म। विकर्म का अर्थ है वेद विरुद्ध कर्म और अकर्म का अर्थ है कर्म का त्याग। कर्म की तात्त्विक विवेचना करते हुए गीता में कहा गया है कि कर्म की गति गहन है[25]।

गीता में प्रयुक्त कर्म शब्द विहित कर्मों का प्रतिपादक है। परन्तु कर्म औपाधिक और अविद्यात्मक हैं। निर्गुण और निष्क्रिय आत्मा में क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म की आलोचना से आचार्य शङ्कर का तात्पर्य कर्म काण्ड की ज्ञान प्राप्ति में असमर्थता प्रदर्शित करना है। कर्म में फल की अनिवार्यता है। कर्म फल सर्वदा प्रतिफलित होता रहता है। इस प्रकार जन्मान्तर शृङ्खला का कहीं अवसान ही नहीं होता। कर्म का फल स्वर्ग है। स्वर्ग सुखों में अस्थायित्व है। पुण्य ही स्वर्ग के सुखों के रूप में व्यक्त होता है। उन पुण्यों के क्षीण हो जाने से प्राणी स्वर्ग से च्युत हो जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्मज्ञान ही सुख का व्यवस्थापक है। गीता में कहा गया है कि वैदिक कर्मकाण्ड के क्षीण हो जाने पर मर्त्यु लोक की प्राप्ति प्राणी को पुनः होती है। स्वर्ग की प्राप्ति से मोक्ष नहीं है। इससे आवागमन का उच्छेदन नहीं होता[26]। मुण्डक उपनिषद् में भी कहा गया है कि कर्मठों का कर्मफल विषयक राग रहता है[27] जिससे वे ज्ञान से वंचित रहते हैं। कर्मी दुःखी होकर स्वर्ग से पृथक् हो जाते हैं। कर्म अविद्यात्मक और अनित्य है। उससे मोक्ष की स्थिति नहीं हो सकती। आचार्य शङ्कर के अनुसार मोक्ष नित्य है। किसी नित्य वस्तु का आरम्भ होने से ही कर्म का अन्त होता है। अतः कर्म

---

२५ कर्म की गहनता का अर्थ है कर्म की अनेकरूपता है। कर्म यों तो बन्धनकारक है परन्तु कर्म की कुशलता बन्धन को मुक्त करने वाली है। कर्म का मार्ग ही यहाँ योग का रूप ले लेता है। कहा भी है —

१ योगः कर्मसु कौशलम्। गीता।२।५०।

२ ज्ञात्वा कर्मयोगानि। गीता।४।१७।

आचार्य शंकर ने कर्म की इस गहनता को कोई महत्त्व नहीं दिया। गीता भाष्य में गहन शब्द का अर्थ उन्होंने कठिन किया है। योग की व्याख्या जो निष्काम कर्म योग का प्रतिपादन करती है आचार्य शंकर के अनुसार ज्ञानियों के लिए है।

२६ क्षीणे पुण्ये मर्त्यु लोकं विशन्ति।
गतागतं कामकामा लभन्ते। गी।९।२१।

२७ यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते। मुण्डक उपनिषद्।१।२।९।

अनित्य है। परन्तु मोक्ष कर्मारम्भ नहीं है[२८]। इस प्रकार कर्म मोक्ष प्राप्ति के लिए असमर्थ है। कर्म केवल असमर्थ ही नहीं वरन कर्म के नाश होने पर ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। ज्ञान कर्म का ध्वंसक तत्व है[२९]।

क्रिया को फल की अपेक्षा है परन्तु मोक्ष क्रिया का फल नहीं है। ज्ञान का मोक्ष ही लक्ष्य है। मोक्ष क्रिया साध्य नहीं है। कर्म की जो भी प्रतिष्ठा शङ्कर ने स्वीकार की है वह व्यावहारिक है। क्रिया के लिए शरीरादि की आवश्यकता है परन्तु ज्ञान के लिए बाह्य साधना की अपेक्षा नहीं है। आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व न होने के कारण क्रिया का आत्म सत्य से कोई प्रयोजन आचार्य शङ्कर नहीं मानते। उनके अनुसार मोक्ष में ज्ञान के अतिरिक्त क्रिया का लवमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। क्रिया पुरुष व्यापार है। वह संकल्प के आधीन है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में ज्ञान को मानसिक क्रिया कहा गया है। परन्तु यह मानसिक क्रिया अन्य शारीरिक क्रियाओं से भिन्न है। उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान मानसिक क्रिया होते हुए भी इन्द्रियादि के द्वारा साध्य नहीं है। रत्न प्रभा टीका में कहा गया है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र है कृति साध्य नहीं है।[1] अतः ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा रखकर उत्पन्न नहीं होता[3]। तब प्रश्न यह होता है कि उपनिषदों में श्रवण मनन निदिध्यासन की प्रतिपालना क्यों उपदिष्ट हुई है? क्रिया रूप साधन होने के कारण आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त के अनुसार इसका खण्डन होना चाहिए। परन्तु आचार्य शङ्कर मानते हैं कि ये श्रवणादि विषयों से मनुष्य को विमुख करते हैं। अतः ज्ञान प्राप्ति में इनका महत्व है। ज्ञानोत्पत्ति में शमादि षट्सम्पत्ति साधन को आचार्य शङ्कर अत्यन्त उपयोगी मानते हैं। अतः ज्ञान क्रिया बन्धन से स्वतन्त्र होने से कर्म से श्रेष्ठ है[३१]।

ज्ञान से राग की शान्ति होती है। कर्म से राग की शान्ति नहीं होती। फल प्राप्ति के अनन्तर अन्य कर्मों की प्रेरणा होती है। तब प्रश्न है कि जो ज्ञान साधन को मार्ग में स्थित करता है उसका फल तो मोक्ष के अनन्तर अन्य कर्मों की प्रेरणा का कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का संस्कार

२८ नहि नित्यं किञ्चिदारभ्यते लोके यदारभ्यं तदनित्यमिति। अतो न कर्मारब्धो मोक्ष।
तैत्तिरीय उपनिषद्। सम्बन्ध भाष्य।

२९ सर्वं कर्म ... अप्रतिबद्ध ... ज्ञाने मोक्षसाधने अन्तर्भवति। गीता भाष्य। ४।३३।

३ ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।
मानसमपि ज्ञानं न विधियोग्या क्रिया वस्तुतन्त्रत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

३१ अतोऽयमात्र प्रति क्रियानुप्रवेशोऽत्र शास्त्र। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

भी अवशिष्ट रहना होगा। इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का मत है कि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को जलाकर स्वतः शान्त हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान राग का नाश करके स्वतः शान्त हो जाता है[३२]।

अनारब्ध सुकृत और दुष्कृत कर्मों का नाश विद्या से ही होता है। इन कर्मों के नाश के लिए इनके आश्रय के नाश पर्यन्त प्रतीक्षा करनी पड़ती है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जिस प्रकार कुम्भकार चक्र चला कर उसे छोड़ देता है, परन्तु चक्र और भी वेग से निरन्तर घूमता रहता है उसी प्रकार कर्मों के संस्कारवश ज्ञानी का शरीर भी ज्ञान हो जाने पर भी क्रियाएं करता रहता है। परन्तु ज्ञान से मिथ्या ज्ञान और कर्म का निपातन हो जाता है[३३]। अतः पुण्य-पापों का ज्ञान से क्षय होता है। ज्ञाननिष्ठा में आचार्य शङ्कर को कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी मान्य नहीं है। मोक्ष के लिए ज्ञान अकेला ही समर्थ है[३४]।

।

---

३२ दग्ध्वेन्धनं वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

३३ न तावदनाश्रित्याऽऽरब्धकार्ये कर्माशये ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलाल-चक्रवत् प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासम्भवात् भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्तात्म-बोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति। बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञान-वत् संस्कारवशात् कञ्चित् कालमनुवर्तते। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ४।१।१५।
सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षयः। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।१४।

३४ ज्ञानकर्मणो समुच्चयो। गीता। सम्बन्ध भाष्य ।३।
केवलादेव ज्ञानान्मोक्ष। गीता। सम्बन्ध भाष्य ।३।

सप्तम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार उपासना का स्वरूप

अनेक उपासनाओं का वर्णन उपनिषदों में हुआ है। ये उपासनाएँ भी ज्ञानोपलब्धि में सहायक हैं। कर्म के समान उपासना भी प्राप्तव्य की प्राप्ति-काल तक साधनरूपा है। ये उपासनाएँ यद्यपि अनेक विधि हैं, किन्तु इन सबका लक्ष्य एक ही ब्रह्म की अनेक रूपों में अर्चना करना है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर, उसके समीप पहुंचकर तैलधारा के तुल्य समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घ काल तक उसमें स्थित रहना उपासना कहलाता है।[1] उनकी इस परिभाषा से उपासना की कई विशेषताएं व्यक्त होती हैं। उपासना में शास्त्र और बुद्धि की अपेक्षा है। 'उपासना' (उप+आसन) शब्द का अर्थ उपास्य के निकट स्थित होना है। तैलधारा तुल्य समान वृत्तियों का प्रवाह साधक के ध्यान की अपेक्षा रखता है। अतः उपासना में शास्त्र, बुद्धि, भक्ति और ध्यान का महत्त्व उक्त परिभाषा के अनुसार निश्चित होता है।

उपासना का लक्ष्य ब्रह्म है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय सत्य है। उसमें उपास्य और उपासक भेद भी प्रसक्त नहीं हो सकते। ब्रह्म या मोक्ष कार्य नहीं है परन्तु उपासना क्रिया-सापेक्ष्य है। जीव और ब्रह्म में अभेद हैं। अतः उपासना की आवश्यकता नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म अतीन्द्रिय सत्य अवश्य है परन्तु उसकी साधना व्यवहार का ही अङ्ग है। श्रुति को वह ज्ञान प्राप्ति में प्रमाण मानते हैं। परन्तु यह प्रमाण प्रमेय व्यापार पूर्णतः लौकिक है। श्रुति ज्ञान की अपेक्षा परमार्थ सत्य की उपलब्धि पर्यन्त ही रहती है। व्यवहार की अवस्था में प्रमाण और प्रमेय व्यापार एवं उपास्य उपासक भेद मान्य हैं। जिस प्रकार कर्म की साधना अज्ञानियों की है उसी

---

1 उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यत् आसनं तत् उपासनम् आचक्षते। गीता भाष्य ।१२।३।

प्रकार उपासना भी अविद्यात्मक है[२]। इस भेद के आधार पर आचार्य शङ्कर उपासना प्रयोजन में विविधता लक्षित करते हैं। अभ्युदय और कर्म समृद्धि उपासना के प्रयोजन हैं। इसके भेद का कारण उपाधि वैषम्य और गुणों से प्रसूत विविधता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यद्यपि गुणों से विशिष्ट एक ही ईश्वर उपास्य है तो भी जो उपासक जिस गुण की उपासना करता है तदनुसार उसे फल की उपलब्धि होती है[३]। इस अनेकरूपता का कारण चित्तरूपी उपाधिभेद कहा गया है। ऐश्वर्य अथवा शक्ति विशेष के भेद से एक ही कूटस्थ नित्य एवं एकरूप आत्मा में विविधता है[४]।

तब प्रश्न यह है कि ब्रह्म तो एकदेशीय नहीं है। अतः उस असीम की उपासना असम्भव है। आचार्य शङ्कर के अनुसार समस्त पृथ्वी का अधिपति अयोध्या का भी अधिपति होता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म हृदय में भी व्याप्त है। जैसे हरि के ध्यान के लिए शालग्राम में ध्यान होता है उसी प्रकार ईश्वर में अणुत्वादि गुण सगत हैं। इस एकदेशीय उपासना में बुद्धि विज्ञान से ईश्वर ग्राह्य है। उपासना से ईश्वर प्रसन्न होता है[५]। शङ्कर सिद्धान्त में साधना के दो पक्ष सगुण और निर्गुण सर्वत्र उपलब्ध हैं। उपासना की दृष्टि में भी इस प्रकार सुविधा है। आचार्य शङ्कर का लक्ष्य है निर्गुण ब्रह्म और यह ब्रह्म ही सत्य अथवा मोक्ष की पराकाष्ठा है। इसकी उपलब्धि अन्त साध्य नहीं है परन्तु साधना की यह ज्ञानमयी उच्च स्थिति सब सुगम नहीं है। अतः शङ्कर के अनुसार ब्रह्म यद्यपि निर्गुण है तो भी उपासना के लिए उसमें नाम रूप की अभिव्यक्ति की जाती है। उपनिषदों में प्रतीकोपासना का व्याख्यान हुआ है। वहाँ ब्रह्म में अङ्गावयवों का वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद में उसे 'सुनहरी मूँछों वाला कहा गया है। इसी प्रकार आँख में जो पुरुष है वह

२ तत्राऽविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपता। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१२।

३ तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः ... यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१२।

४ चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्यतारतम्यैश्वर्यशक्तिविशेषैः। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१२।

५ एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते। यथा शालग्रामे हरिः। तत्राऽस्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। भगवानपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।२।७।

आत्मा है ऐसा कथन है[६]। अतः सगुण स्वरूप ही उपास्य है। उपासना में केवल मूर्तरूपता की प्रधानता ही नहीं वरन् भावरूपता भी ग्राह्य है जैसे ब्रह्म की गुण रूप में उपासना। गुण गुण है परन्तु ब्रह्म निर्गुण है। आचार्य शङ्कर के अनुसार गुण गुण होते हुए भी गुणी ब्रह्म के स्वरूप में उपास्य है।[७] उपासना गुण साध्य है। अतः उसमें प्रत्यय कोटि की व्यावहारिकता के लिए स्थान है। इस प्रकार उपास्य के सगुण रूप में स्थल स्थान, भावरूपता और मूर्तता सम्भव है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है तो भी हृदय आदि स्थान विशेष से उसका विशेष सम्बन्ध ध्यान की दृष्टि से है[८]।

प्रतीक उपासना एक साधन हो सकती है किन्तु साध्य नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि मन ब्रह्म है यह अध्यात्म है आकाश ब्रह्म है इस प्रकार की उपासना करनी चाहिए[९]। आचार्य शङ्कर यहाँ मन और आकाशादि में आत्मा को स्वीकार नहीं करते[१०]। यदि प्रतीकों को ब्रह्म का विकार मानकर उसकी उपासना की जाए तो भी उसमें दोष है, क्योंकि तब प्रतीक के नामादि समूह विकार रूप होंगे। परन्तु ब्रह्म अविनाशी है। अतः प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि से उपासना युक्त नहीं है[११]। आचार्य शङ्कर का मत है कि यहाँ विष्णु प्रतिमा के समान ब्रह्मदृष्टि का अध्यारोपण है[१२]। तब प्रश्न यह है कि उस उपासना का फल कौन देगा क्योंकि प्रतिमा के समान प्रतीक फल नहीं दे सकता। उनकी मान्यता है कि प्रतीक उपासना का फल देने वाला भी ब्रह्म है।

---

६ निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।२।१४।

हिरण्मयश्मश्रु। छान्दोग्य उपनिषद्।१।६।६।
य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति। छान्दोग्य उपनिषद्।४।१५।१।

७ यद्यपि गुणस्यापि गुणस्य गुणित्वं ध्येयत्वम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।२।१५।

८ ब्रह्मपरस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसम्बन्धः।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।२।१५।

९ मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति। छान्दोग्य उपनिषद्।३।१८।१।

१० न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।४।१।४।

११ न प्रतीकेषु हि सः। ब्रह्मसूत्र भाष्य।४।१।४।

१२ ब्रह्मैव उपास्यं यत्र प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपेण प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।४।१।५।

ब्रह्मसूत्रों में कहा गया है कि उपासना बैठकर करनी चाहिए[13]। आचार्य शङ्कर एक ही प्रत्यय के प्रवाह को उपासना मानते हैं[14]। यह प्रत्यय प्रवाह बैठने के अतिरिक्त किसी स्थिति में सुकर नहीं है। अन्य स्थिति में चित्त विक्षेप होने का भय है। इसीलिए योग सूत्रों में आसन का महत्त्व कहा गया है। उपासना में ध्यान अपेक्षित है। ध्यान के लिए भी स्थित होना अनिवार्य है[15]। 'ध्यायति' शब्द से आचार्य शङ्कर अङ्गों की चेष्टाओं की शिथिलता, दृष्टि की स्थिरता, चित्त की एक विषय में आसक्ति का अर्थ लेते हैं[16]। उपासना में स्थिरता की अपेक्षा है। अतः सूत्रों में 'अचलत्व' शब्द से बैठकर उपासना करने का संकेत है[17]। उपासना में एकाग्रता का महत्त्व है[18]। आचार्य शङ्कर के अनुसार दिशा, देश और काल का विचार वैदिक आरम्भों में रखा जाता है परन्तु उपासना के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस देश काल या दिशा में उपासना को एकाग्रता प्राप्त हो उसी में उपासना करनी चाहिए। या तो अभीष्ट एकाग्रता सर्वत्र समान ही है[19]।

उपासना के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कर का जो व्याख्यान हुआ है, वह उपनिषदों में वर्णित अनेक उपासनाओं के प्रसंगों से युक्त है। वे आत्मा की उपासना को पर्यवसायिनी उपासना मानते हैं। जो भी उपासना होती है वह आत्मा को ही प्राप्त होती है। उनका मत है कि आत्मरूप से ही परमेश्वर का ग्रहण करना चाहिए। जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि 'हे भगवति देवते तू ही मैं और मैं ही तू हूँ'। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' वाक्य उपासना के लिए आत्मा का ग्रहण कराता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य से आचार्य शङ्कर जीव को पारमार्थिक सत्य लक्ष्य करते हैं। इसका उद्देश्य है कि संसारी जीव संसारीपन का त्याग करके ईश्वर रूप हो जाता है। तब प्रश्न यह है कि जीव को ईश्वर मानने से संसार के धर्म पाप-पुण्य उसमें भी आरोपित होंगे और इस प्रकार अव्यवस्था और सिद्धान्त हानि होगी। आचार्य शङ्कर के

१३ आसीनः सम्भवात्। ब्रह्मसूत्र ।४।१।७।

१४ योग सूत्र ।३।४६।

१५ ध्यानाच्च। ब्रह्मसूत्र ।४।१।८।

१६ प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिरेकविषयाक्षिप्तचित्तो भूपचर्यमाणो।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।८।

१७ अचलत्वं चापेक्ष्य। ब्रह्मसूत्र ।४।१।९।

१८ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। ब्रह्मसूत्र ।४।१।११।

१९ मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।११।

अनुसार जीव की इस प्रकार की विपरीत गुणता मिथ्या है। इस प्रकार 'मैं ईश्वर हूँ' इस भावना से उपासना ही आचार्य शङ्कर युक्तियुक्त मानते हैं[20]।

उपासना अभ्युदय की साधनभूता है। इन उपासनाओं का फल कैवल्य मोक्ष का समीपवर्ती कहा गया है। किन्तु अद्वैत ज्ञान और उपासनाओं में अन्तर है। आचार्य शङ्कर का मत है कि मनोमय और प्राणमय शरीर इत्यादि वाक्यों के अनुसार ये उपासनाएं किंचित् विकार वाली हैं। अविद्या की विकारिता से युक्त हुई ये उपासनाएं ब्रह्म से सम्बन्ध रखती हैं। इनका कर्मों से सम्बन्ध है और कर्मफल की समृद्धि इनका फल है। इन्हें कैवल्य मोक्ष का समीपवर्ती कहा गया है परन्तु कर्मफल की समृद्धि से तो मोक्ष साधित नहीं होता। आचार्य शङ्कर का मत है कि उपासना किसी शास्त्रोक्त अवलम्ब को ग्रहण करती है। उनके अनुसार अपने लक्ष्य के प्रति आसक्त और अन्यों के प्रति विरक्त होकर चित्तवृत्ति को उपासना एक धारा में प्रवाहित कर देता है। परन्तु अद्वैतज्ञान अक्रिय आत्मा में आरोपित कारक भेदों और फल भेदों का निराकरण करता है। उनके विचारानुसार यह अद्वैतज्ञान रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्पत्व को निवृत्त करता है और रज्जुत्व का ज्ञान कराता है[21]। उपासनाओं से भी चित्तशुद्ध होता है। शास्त्र का आलम्बन होने से ये उपासनाएं चित्तशुद्धि की सुगम साधन हैं। ये वस्तु तत्त्व की प्रकाशिका हैं और अद्वैत ज्ञान की उपकारिणी कही गई हैं[22]। इस प्रकार कर्म साधना के समकक्ष होते हुए भी उपासनाएं कर्म से श्रेष्ठ हैं।

---

२० समानत्वेन तस्मात् संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति। एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्याऽपहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। तस्मात् अहमित्येवेश्वरे मनो दधीत। ब्रह्मसूत्र भाष्य ४।१।३।

२१ अभ्युदयसाधनान्युपासनान्युच्यन्ते। कैवल्यसन्निकृष्टफलानि चाद्वैतान्यपीषद्विकृतब्रह्मविषयाणि मनोमयः प्राणशरीर इत्यादीनि कर्मसमृद्धिफलानि च कर्माङ्गसम्बन्धीनि। स्वाभाविकस्यात्मन्यक्रियेऽध्यारोपितस्य कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदविज्ञानस्य निवर्तकमद्वैतविज्ञानम्। रज्ज्वादाविव सर्पादिविपर्यासज्ञानस्य रज्ज्वादिस्वरूपनिश्चयः प्रकाशनिमित्तः। उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किंचिदालम्बनमुपादाय तस्मिन्समानचित्तवृत्तिसन्तानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितमिति विशेषः।

छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य।

२२ सत्त्वशुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभासकत्वादद्वैतज्ञानोपकारकाण्यालम्बनविषयत्वात् सुखसाध्यानि।

छान्दोग्य उपनिषद् सम्बन्ध भाष्य।

उपासना में उपास्योपासक भेद वर्तमान है। यह भेद अनात्मज्ञों के कारण है। परन्तु उपासना का लक्ष्य अभेद प्रतिपादन ही है। आचार्य शङ्कर ने इस उपासना भेद को संराध्य-संराधक भाव नाम से अभिहित किया है। संराधन शब्द से भक्ति, ध्यान, प्रणिधान और अनुष्ठान अर्थ ग्रहण होते हैं[23]। आचार्य शङ्कर ने इन उपासना भावों के चार उदाहरण दिए हैं। जैसे मुण्डक में कहा गया है कि 'ध्यान करता हुआ निष्कल आत्मा को देखता है'। यह ध्याता ध्यातव्य भाव कहलाता है। इसी प्रकार 'पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है'। यही उपगन्तृ-उपगन्तव्य भाव हुआ। कहीं कहा गया है कि 'वह सब भूतों के अभ्यन्तर में रह कर नियमन करता है'। यह भाव को नियन्तृ नियन्तव्य रूप कहलाता है[24]। इसी प्रकार ज्ञातृ ज्ञातव्य भाव है। परन्तु यह भेदभाव कथनमात्र है। जैसे सर्प का कुण्डलाकार दण्डाकार ग्रहण में सर्प के स्वरूप में विभिन्नता नहीं आती वैसे ही इन भावों में उपास्य उपासक भेद होते हुए भी ज्ञान रूप की प्रतिष्ठा में कोई व्यवधान नहीं है[25]। यही आचार्य शङ्कर के भेदाभेद सिद्धान्त का रहस्य है।

संराधन और भक्ति शब्द समानार्थी हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार भजन भक्ति है[26]। इस भजन शब्द के साथ में सेवा शब्द का भाव शङ्कर ने ग्रहण किया है[27]। परन्तु इस सेवा शब्द की व्याख्या आचार्य शङ्कर ने निश्चित नहीं की। इसी प्रकार से "उपासते' शब्द का भी अर्थ सेवा रहा स्वीकृत हुआ है[28]। अतः प्रतीत होता है कि भक्ति और उपासना दोनों में साम्य है। परन्तु इस साम्य का अर्थ यह नहीं कि ये दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। भक्ति उपासना का अन्तवर्ती भाव है। उपासना शब्द एक औपनिषद पद है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में अनेक उपासनाओं का वर्णन है। भक्ति शब्द का प्रयोग उपनिषदों में नहीं हुआ है। गीता में भक्ति शब्द का प्राचुर्य है और वहाँ उसका विशिष्ट अर्थ है। भक्ति क्षेत्र में भक्तियोग ज्ञान की विशेषता

---

२३ संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।२।२४।
स तु पूर्वस्मादनवाप्तपूर्वत्वात् वक्तव्यः। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।३।४०।
२४ ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। मुण्डक उपनिषद् ।३।१।८।
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक उपनिषद् ।३।२।८।
२५ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्। ब्रह्मसूत्र ।३।२।२७।
२६ भजनं भक्तिः। गीता भाष्य ।८।१०।
२७ भजन्ते सेवन्ते। गीता भाष्य ।९।२३।
२८ उपासते सेवन्ते। गीता भाष्य ।९।१४।

है। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में भक्ति शब्द का बहुत ही कम प्रयोग किया है। उपनिषद् भाष्यों में भी यत्रतत्र ही इस शब्द का प्रयोग मिलेगा। गीता भाष्य में भी भक्ति की व्युत्पत्ति और उसके स्वरूप का आकलन नहीं मिलता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भक्ति सिद्धान्त के आचार्य शङ्कर विरोधी थे। उनका उद्देश्य था निर्गुण ब्रह्म की ज्ञान साधना। उनका यह दृढ़ मत है कि ज्ञान साधना के लिए वस्तुतः किसी बाह्योपकरण की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वतः समर्थ है। वह ज्ञान परम गति का स्वरूप ही है। व्यवहार में कर्म व्यवस्था का लोप नहीं किया जा सकता। ज्ञान की प्राप्ति में अन्य साधनों को उन्होंने ज्ञान की उत्पत्ति में उपयोगी मान लिया है। उन्होंने वैदिक मर्यादा और अद्वैत सिद्धान्त दोनों का समन्वय किया है।

अब हम उपासना के क्षेत्र में भक्ति का विवेचन करते हैं। ऐसा करना यहां इसलिए आवश्यक है कि निर्गुण सन्त भक्ति प्रधान कवि हैं। वैदिक उपासना का उनके काव्य में अभाव है। शाङ्कर मत का स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए उपासना का विवेचन करना आवश्यक है। निर्गुण ब्रह्म की परा भक्ति आचार्य शङ्कर का लक्ष्य है। परा भक्ति परब्रह्म का ज्ञान कराती है। यह भक्ति स्वतः ज्ञान स्वरूपा है और अद्वैत सत्य की रक्षा करती है। गीता की भक्ति का अनन्य भाव भी उसी परा भक्ति का स्वरूप है[२९]। आचार्य शङ्कर ने अनन्य शब्द का अर्थ आत्मा स्वीकार किया है क्योंकि एक के अतिरिक्त अन्य आत्मा नहीं है। गीता में आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी इन तीन प्रकार के भक्तों का कथन है। इनके अतिरिक्त चौथा भक्त ज्ञानी भी है। यह ज्ञानी भक्त ही आचार्य शङ्कर का लक्ष्य है। इस ज्ञान स्वरूप भक्ति के लिए उन्होंने ज्ञान निष्ठा शब्द का प्रयोग किया है। यह ज्ञान निष्ठा ही परा भक्ति है। उनके अनुसार 'मैं कर्ता हूं', 'मेरा यह कर्म है' इत्यादि कारक भेद बुद्धि जनित समस्त कर्मों के संन्यास सहित क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता का ज्ञान और स्वरूपानुभव में [illegible] रहना परा ज्ञान निष्ठा कहलाती है[३०]। आचार्य शङ्कर का कथन है कि अन्तरात्मविषयक प्रतीति की निरन्तरता रखने का नाम ज्ञान निष्ठा है[३१]। कर्मों से पूजन का आयोजन करना भक्ति का अङ्ग है।

२९ अनन्याश्चिन्तयन्तो ।गीता।९।२२।
अपृथग्भूताः परं देवं नारायणम् आत्मत्वेन गताः सन्तः। गीता भाष्य ९।२२।

३० क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्व ज्ञानस्य कर्तृत्वादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनसर्वकर्मसंन्यासेन स्वात्मानुभवनिश्चयरूपेण यत् अवस्थानं सा पराज्ञाननिष्ठा। गीता भाष्य ।१८।५५।

३१ प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसंतानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा। गीता भाष्य ।१८।५५।

इसस भक्तियोग की सिद्धि कही गई है। आचार्य शङ्कर का मत है कि यह सिद्धि ही ज्ञान निष्ठा की योग्यता है[३२]। कर्मों से पूजन करने का लक्ष्य निष्काम कर्मयोग की उपलब्धि है। कर्म करके फल की आसक्ति को इष्ट साध्य पर समर्पित करने का विधान गीता के कर्म योग में है[३३]। कर्मों द्वारा पूजन का लक्ष्य कर्मफल त्याग है। भक्ति शब्द का प्रयोग कामना और कर्म के साथ और निष्ठा का ज्ञान के साथ गीता भाष्य में अधिक मिलता है।

आत्मा अकर्ता और अभोक्ता है। अतः भक्ति में क्रिया की अपेक्षा में अविद्या का संसर्ग है। भक्ति ज्ञान का साधन हो सकती है परन्तु स्वतः साध्य नहीं। शङ्कर ने प्रायः भक्ति का सम्बन्ध साध्य और साधक की अनन्यता के साथ माना है। ऐसी स्थिति में वह भक्ति ज्ञान स्वरूप होती है। गीता में इसे अनन्य योग कहा गया है और यही अव्यभिचारिणी भक्ति है[३४]। इस अव्यभिचारिणी भक्ति का अन्तर्भाव परा ज्ञान निष्ठा में है। भक्ति की साधना रूपता क्रिया रूप है। क्रियात्मकता आत्मा का स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं करती। अतः आचार्य शङ्कर का मत है कि इस निष्ठा में कर्म की अनिवार्यता नहीं है। इस ज्ञान निष्ठा का फल है आत्म कैवल्य। यह फल निश्चित है[३५]। इस निष्ठा में कर्म संन्यास की अपेक्षा है। कर्म अविद्यात्मक है अतः भक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध कर्म से है वह भी अज्ञान की सूचिका है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ज्ञाननिष्ठा से संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है[३६]।

इस प्रकार परा भक्ति अभेद की प्रतिपादिका है और स्वतः ज्ञान का स्वरूप ही है। आचार्य शङ्कर का प्रतिपाद्य है अद्वैत ज्ञान। इस ज्ञान में कर्म की अपेक्षा उन्होंने स्वीकार नहीं की। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि 'पुत्र आत्मा ही है[३७]'। यह प्रेम सम्बन्ध यद्यपि व्यावहारिक है तो

---

३२ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य अभ्यर्चनभक्तियोगस्य सिद्धि प्राप्ति फलं ज्ञाननिष्ठायोग्यता। गीता भाष्य।१८।५४।

३३ तत्कुरुष्व मदर्पणम्। गीता।९।२७।

३४ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। गीता।१३।१०।
एवं निश्चिता अव्यभिचारिणी बुद्धि अनन्ययोग तेन भजनं भक्ति। साचवाऽऽन्। गीता भाष्य।१३।१०।

३५ न ज्ञाननिष्ठा कर्मसहिता उपपद्यते। गीता भाष्य।१८।६६।

३६ ज्ञाननिष्ठायाम् आत्यान्तिक संसारोपरम्। गीता।१८।६६।
अरे न वा पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। बृहदारण्यक उपनिषद्।२।४।५।

३७ आत्मा वै पुत्र नामासि। गीता भाष्य।१८।६६।

भी इससे यह व्यक्त होता है कि व्यावहारिक गौणता और अभाव की जो भी प्रतीति है वह आत्मस्वरूप में होती है। अतः आत्मा के लिए अनात्मा का भेद अवगत करना ही विद्या का स्वरूप है। यह परा स्थिति इस अनात्मा से रहित अनन्त आत्मा का स्वरूप है[३८]।



३८ पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। गीता।८।२२।

अष्टम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार आचार्य अथवा सद्गुरु का महत्त्व

भारतीय साधना में आचार्य और सद्गुरु का स्थान सर्वोच्च है। साधन की प्राप्ति गुरु से ही होती है। मन्त्र, उपासना, भक्ति और क्रिया आदि कोई भी साधन क्यों न हो बिना गुरु-कृपा प्राप्त नहीं हो सकता। सभी साधनाएँ परम्परागत हैं और गुरु एवं शिष्य परम्पराओं में ही साधन ज्ञान सुरक्षित रहता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस लघु प्रकरण में तत्सम्बन्धी महत्त्व पर विचार किया गया है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य के समीप जाने की परम्परा उपनिषद् काल से ही प्राप्त होती है। छान्दोग्य उपनिषद में सत्यकाम जाबाल, रैक्व और जानश्रुति, उद्दालक, श्वेतकेतु, विरोचन, इन्द्र, सनत्कुमार और नारद के संवाद विद्या की प्राप्ति में आचार्य का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं। मुण्डक उपनिषद में शौनक और अंगिरा भी इसके प्रमाण हैं। तैत्तिरीय उपनिषद प्रथम वल्ली के दसवें अनुवाक में गुरु ने शिष्य को उपदेश दिया है। प्रश्न उपनिषद में कहा है कि सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणि, कौसल्य और कबन्धी शिष्य रूप में पिप्पलाद के पास गए। कठ उपनिषद में यम और नचिकेता का संवाद भी ज्ञान के लिए आचार्य की आवश्यकता का प्रमाण है।

ज्ञान प्राप्त करके गुरु शिष्य में कोई भेद नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद के सम्बन्ध भाष्य में वैराग्यपूर्वक गुरु-कृपा से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कही गई है[1]। गीता में कहा गया है कि तत्त्वदर्शी आचार्य को प्रसन्न करके, सेवा करके उनसे ज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से

---

[1] विषय वैराग्य पूर्वक गुरु प्रसादलभ्या ब्रह्मविद्या[illegible] भवति।

मुण्डक उपनिषद्। सम्बन्ध भाष्य ।३।२।९।

किस प्रकार बन्धन हुआ कैसे मुक्ति होगी विद्या क्या है, अविद्या क्या है इस प्रकार के प्रश्न गुरु के निकट पहुंचकर शिष्य करता है[2]।

अद्वैत सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इस गुरु शिष्य परम्परा का पालन होता आया है। एक प्रश्न यह है कि जब ज्ञान स्वरूप आत्मा एक ही है तब गुरु शिष्य भेद नहीं होना चाहिए और एकरस ज्ञान स्वरूप आत्मा में अनेक विधि अज्ञान का सञ्चरण भी नहीं होना चाहिए। ऐसी दशा में यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि अनात्मादि भेद अविद्या कल्पित हैं। इसी प्रकार गुरु शिष्य भेद भी अविद्या-कल्पित ही है। परन्तु इस अविद्या का विनाश भी अविद्यात्मक साधना से होता है। विद्या की प्राप्ति के लिए इसी हेतु क्रम के महत्त्व की अवहेलना आचार्य शङ्कर ने नहीं की। इसी प्रकार गुरु शिष्य भेद व्यावहारिक होकर भी परमार्थ के साधक हैं। गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके शिष्य एवं गुरु में कोई भेद नहीं रहता।

आचार्य शङ्कर के अनुसार आचार्य के द्वारा बार बार उपदेश करने पर ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। तर्क प्रवचन बहुश्रवण, तप और यज्ञ से ब्रह्मज्ञान नहीं होता[3]। छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य में कहा गया है कि गुरुजनों के पास विनयपूर्वक जाना चाहिए क्योंकि उनसे विद्या प्राप्ति होती है और वह विद्या त्रिलोकी के राज्य से भी बढ़कर है[4]।



२ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

गीता ।४।३४।

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का च अविद्या इति परिप्रश्नेन। गीता भाष्य ।४।३४।

३ अतः च एवमाचार्योपदेशपरम्परया ह्यधिगन्तव्यं न तर्केण प्रवचनमेधा बहुश्रुतपो यज्ञादिभ्यश्च। कठ उपनिषद् भाष्य ।१।३।

४ विनयेन गुरवोऽभिगन्तव्या त्रैलोक्यराज्यादपि गुरुतरा विद्या।

छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य ।८।७।२।

आचार्य शङ्कर के अनुसार ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान आचार्य शङ्कर का प्रतिपाद्य और लक्ष्य है। यह ज्ञान धारा जीव और ब्रह्म का अभेद निश्चित करती है। इसमें ज्ञान और अविद्या के स्वरूपों की वास्तविकता का परिचय मिलता है। मनुष्य के धर्म अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थों में परम पुरुषार्थ यही ज्ञान है। इसके द्वारा ही आत्म अनात्म विवेक उपलब्ध होता है और प्राणी मायाजन्य विकारों से मुक्त हो आत्मज्ञान का अधिकारी होकर कृतकृत्य हो जाता है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार शास्त्र और आचार्य के उपदेश से आत्मा अनात्मा विद्या अविद्या आदि पदार्थों का बोध ही ज्ञान कहलाता है।[1] ज्ञान की यह परिभाषा उसके तात्त्विक स्वरूप का निर्णय नहीं करती। यह ज्ञान साधन का निरूपण करती है। ज्ञान की साध्यता के सम्बन्ध में उनका मत है कि इस ज्ञान को जान लेने पर जगत में पुरुषार्थ का कोई साधन जानना शेष नहीं रहता।[2] प्रश्न है कि आचार्य शङ्कर ने तो शास्त्रादि प्रमाणों को व्यावहारिक माना है। तब असत्य वेदान्त शास्त्र से सत्य ब्रह्म का ज्ञान असम्भव है। परन्तु आचार्य शङ्कर के अनुसार परमार्थ ज्ञान के लिए व्यवहार की महत्ता है। श्रुति-स्मृति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की आवश्यकता उस काल तक के लिए है जब तक ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान के अनन्तर ये व्यर्थ हैं। स्वप्नावस्था में सर्पदंश उदकस्नान आदि असत्य हैं। परन्तु इनका ज्ञान रूप फल सत्य है। जाग्रत अवस्था में भी सर्पदंश आदि सत्य हैं। इसी प्रकार ज्ञान सर्वत्र एकरस सत्य है—स्वप्न और जागृति में एवं व्यवहार और परमार्थ में भी।[3] जिस प्रकार रेखाओं में अङ्कित असत्य अक्षरों से सत्य अक्षरों का ज्ञान होना

---

1 ज्ञानं शास्त्रतः आचार्यतश्च आत्मादीनाम् अवबोधः। गीता भाष्य।३।४१।

2 यत् ज्ञानम् ज्ञात्वा न इह भूयः पुनः पुरुषार्थसाधनम् अवशिष्यते। गीता भाष्य।७।२।

3 यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादि कार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम् प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।१४।

है उसी प्रकार असत्य व्यवहार से सत्य परमार्थ ज्ञान होता है[४]। जिस प्रकार जाग्रतावस्था के पूर्व स्वप्न व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं, वैसे ही ज्ञान के पूर्व सब व्यवहार भी सत्य हैं। सुप्तावस्था में मनुष्य और पदार्थों को देखकर उन्हें सत्य ही समझता है। इसी प्रकार ज्ञान के पूर्व व्यावहारिक ज्ञान भी सत्य है। उपर्युक्त परिभाषा में ज्ञान की प्राप्ति में आचार्य और शास्त्र प्रमाण हैं और उनसे प्राप्त होने वाले ज्ञान का लक्ष्य आत्मा अथवा ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है और ज्ञान साधन व्यावहारिक है[५]। इस ज्ञान के द्वारा द्वैत सत्ता का निरसन करके आत्मा में अनात्मा, जड़ में चैतन्य, भेद में अभेद बोध की उपलब्धि होती है।

ज्ञान स्वतः मोक्ष स्वरूप है। इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं है। नित्य होने से इसकी उत्पत्ति नहीं कही जा सकती[६]। मुक्त होने से इसमें बन्धन का प्रसंग नहीं हो सकता। निर्विकार होने से इसमें विकार नहीं घटता है। अखण्ड होने से यह अबाध है। यदि इसको प्राप्य माना जाए तो स्वात्मस्वरूप में स्थित होने के कारण उसको प्राप्य नहीं कहा जा सकता। मोक्ष को संस्कार्य भी नहीं माना जा सकता। दोष होने पर संस्कार की अपेक्षा होती है। परन्तु मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप भूत है[८]। इस प्रकार मोक्ष में उत्पत्ति, विकार, प्राप्ति और संस्कार या क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार मोक्ष में ज्ञान के अतिरिक्त क्रिया की गन्ध का भी सम्बन्ध नहीं है[९]। क्रिया में पुरुष व्यापार की अपेक्षा है किन्तु ज्ञान में पुरुष संकल्प तर्क का स्थान नहीं है[१०]। आचार्य शङ्कर ने स्वीकार किया है कि प्रमाणों से भी ज्ञान प्राप्त होता है। वे प्रमाण को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ग्राहक मानते हैं[११]। ज्ञान

४ तथाकारादि सत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४

५ सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः । ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४
प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४

६ यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

७ तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

८ नापि संस्कार्यो मोक्षः । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

९ तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

१० क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च ।
ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

११ ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम् । ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

मानसिक है। अस्तु ध्यान और ज्ञान में अंतर है। जिस प्रकार अग्नि का अग्नि के विधि है और निया वस्तु प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार ज्ञान में विधि या निषेध की अपेक्षा नहीं वरन स्वयं सिद्ध सत्य है। इस ज्ञानदशा में ग्रहण या त्याग कुछ नहीं होता क्योंकि कर्तव्य और कर्म से उसका सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान ब्रह्म और मोक्ष वस्तुतः एक ही सत्य के विभिन्न नाम हैं। अतः ज्ञान ही ब्रह्म है या मोक्ष ही ब्रह्म है या ब्रह्म ही ज्ञान या मोक्ष है ये शब्द या वाक्य एक दूसरे के पर्याय हैं। ज्ञान साधन ब्रह्म साध्य और मोक्ष उसका फल ये वस्तुतः एक ही सत्य के रूप हैं। वेद्य वेदिता और वेदना भेद ब्रह्म ज्ञान में नहीं है[12]। अद्वैत ज्ञान का लक्ष्य है द्वैत ज्ञान का निराकरण[13]।

द्वैत ज्ञान इन रूपों में उपलब्ध होता है —

१ जड़ और चेतन में भेद है। इसमें अनात्मा में आत्मा का अध्यास होता है। अज्ञान के कारण शरीर को आत्मा समझने की प्रेरणा मिलती है।

२ जीव और ब्रह्म में भेद है। इससे सांसारिक व्यवहारों की अनेकरूपता में ज्ञान की प्रतीति होती है। प्रत्यक्ष जीव ज्ञाता का ग्रहण होता है और अपरोक्ष ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। विषयोन्मुख इन्द्रियाँ ब्रह्म को विषय नहीं करतीं।

३ आत्मा में ही कर्तृत्व भोक्तृत्व है।

४ जगत ब्रह्म से विलक्षण है।

अद्वैत ज्ञान इन भेदों का निराकरण करता है। इसमें चेतन और आत्मा पारमार्थिक है। जड़ता अविद्या कार्य है। आत्मा ब्रह्म रूप में चेतन और पारमार्थिक है। जड़ता प्रपंच कार्य है। जड़ता ही मोक्ष का प्रतिबन्ध है। अन्यथा व्यावहारिक सत्य है। जड़ और चेतन के आधार पर ज्ञान के मिथ्या और सम्यक भेद किये गए हैं[14]। आचार्य शङ्कर का मत है कि कार्य प्रपंच में विशिष्ट विचित्र आत्मा ज्ञेय नहीं है। अविद्यात्मक प्रपंच का विद्या द्वारा बाध हो जाने पर एकरस अद्वितीय आत्मा ही परम सत्य है[15]। इस द्वैत ज्ञान में आत्मा अनात्मा का अध्यास कहा जायगा। यह अध्यास मिथ्या ज्ञान का अंग

---

१२ ध्यान ज्ञान हानोपादानार्थ वा न भवतीति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

१३ प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

१४ एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः। अध्यास भाष्य ।१।१।१।

१५ अविद्यात्मकप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयत्येकमात्मानमद्वितीयमेकरसमिति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।३।१।

है। इस सिद्धान्त के अनुसार मिथ्या ज्ञान भी ज्ञान ही बन जाएगा। वस्तुतः अज्ञान किसी अभाव को सूचित नहीं करता, वरन ज्ञान में शरीर मन प्राप्ति अप्राप्ति का समग या अध्यास होने से सम्यक् ज्ञान में प्रच्छन्नता रहती है। प्रच्छन्नता के निराकरण से स्वयं सिद्ध ज्ञान की उपलब्धि होती है क्योंकि आत्मा नित्य प्राप्त है।

आत्मा का शरीर में अध्यास होने से 'मैं' 'मेरा' व्यवहार होता है। अज्ञान वस्तुतः सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। अध्यास स्मृतिरूप कहा गया है। पूर्व में देखे या सुने हुए रूप या पदार्थ का आभास स्मृति है[१६]। योग दर्शन के अनुसार अनुभूत विषयों की बुद्धि उत्पन्न होना स्मृति कहा गया है[१७]। यहाँ आचार्य शङ्कर की और योग सूत्रों की परिभाषाओं में साम्य प्रतीत होता है। यह स्मृति आचार्य शङ्कर के लिए अध्यास रूप है। योग के अनुसार स्मृति एक वृत्ति है और आचार्य शङ्कर के अनुसार उपाधि। उपाधि निवृत्ति होने पर चित्त का समाधान होता है और वृत्ति के निरोध होने से योग। योग का लक्ष्य है समाधि और आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा ही समाधि है। इस प्रकार दोनों की साधना में साम्य है। दोनों ही मोक्ष के लिए ज्ञान की परमोत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। दोनों ही ज्ञान के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं मानते[१८]।

आचार्य शङ्कर के अनुसार जीवात्मा सत्यस्वरूप आत्मा के साथ एक होकर ब्रह्मरूप हो जाती है। कार्य कारण अभेद होने से ब्रह्म प्रपंच से अभिन्न माना जाएगा[१९]। इस प्रकार अज्ञान भी ब्रह्मरूप अथवा ज्ञान रूप है[२०]। कारण से कार्य का अभेद होने से ज्ञान अज्ञान दो हो नहीं सकते। यहाँ अज्ञान व्यावहारिक कहा जाएगा और व्यवहार के उच्छेद होने पर स्वयं प्रकाश नित्य ज्ञान अवशिष्ट रहेगा। व्यवहार दशा में अविद्या का फल प्रेय और विद्या का श्रेय

१६ स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।१।

१७ अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति । योग सूत्र ।१।

१८ योगसूत्रों में विदेह मुक्ति कही गई है।
योगसूत्र ।३।४८। समाधि आत्मा । गीता भाष्य ।२।५३।

१९ तस्मात् च प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवगम्यते ... प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभव ... कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण ... । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।६।

२० विद्याविषयं श्रेयः प्रेयः तु अविद्याकार्यम्। श्रेय मोक्ष स्वरूप और प्रेय भोग रूप है।
गीता भाष्य ।१३।२।

कहा गया है[21]। तब प्रश्न यह है कि अविद्यात्मक व्यवहार के आत्मा के साथ नित्य होने से मोक्ष विधान कैसे सिद्ध होगा। आचार्य शङ्कर का मत है कि मूलतः आत्मा में आकाश की मलीनता के समान अज्ञान की स्थिति है। इस अविद्यात्मक दशा में वह सांसारिकत्व प्राप्त हुआ-सा हो जाता है किन्तु वस्तुतः उसे सांसारिकत्व प्राप्त नहीं है[22]। जैसे मनुष्य बुद्धि द्वारा स्तम्भ का ज्ञान हो जाने पर भी स्तम्भ के धर्म मनुष्य में और मनुष्य के धर्म स्तम्भ में नहीं आ जाते उसी प्रकार शरीर और चेतन आत्मा की साधर्म्यता नहीं है[23]। आचार्य शङ्कर यह नहीं कहते कि अविद्या संसार और अज्ञान जैसा कोई भाव नहीं है। परन्तु ज्ञान दशा में इनका अभाव होता है। मृगतृष्णा के जल से ऊसर भूमि पङ्कयुक्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप ब्रह्म सदैव एक रस है और उसमें अविद्याकृत द्वैत विकार लिप्त नहीं रह सकता[24]। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि अविद्या के कारण ही ज्ञान अज्ञान का भेद है अन्यथा परमार्थ में इस भेद के लिए भी स्थान नहीं है। ऐसी दशा में ज्ञान और अज्ञान दोनों ही कल्पित होंगे। तदुपरान्त परमार्थ में मन वाणी की अविषयता की मान्यता में उस परम सत्य ब्रह्म का निर्वचन नहीं होगा। आचार्य शङ्कर ज्ञान की उस अवस्था के सम्बन्ध में कहते हैं कि अविकृत और विज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञातापन का उपचारमात्र है। जैसे अग्नि में उष्णता स्वाभाविक है। परन्तु फिर भी उसमें ज्वलन क्रिया का उपचार होता है[25]। इसी प्रकार व्यवहार में मोक्ष की अपेक्षा से बन्ध और मुक्ति की मान्यता है। परन्तु मोक्ष स्वरूप परमार्थ में बन्ध का अभाव है। बन्ध के अभाव में मोक्ष स्वरूप स्वात्मभूत रह जायेगा। उस स्थिति का निर्वचन व्यावहारिक या अविद्यात्मक ही होगा[26]। अतः पूर्वापर बन्ध मोक्ष या ज्ञान अज्ञान में

---

२१ गीता भाष्य।१३।२।

२२ अविद्याकृतोपाधिभेदेन संसारित्वम् इव भवति। गीता भाष्य।१३।२।

२३ यथा स्थाणौ पुरुषनिश्चयो न च तेनासौ पुरुषधर्मा स्थाणुर्भवति स्थाणुधर्मो वा पुरुषस्य तथा न चैतन्यधर्मो देहस्य देहधर्मो वा चेतनस्य। गीता भाष्य।१३।२।

२४ मृगतृष्णाम्भसा ऊषरदेशो न पङ्कीक्रियते ... संसारिणो अविद्याकल्पितदोषेण प्रयुक्तः। गीता भाष्य।१३।२।

२५ विज्ञानस्वरूपस्य एव अविक्रियस्य विज्ञातृत्वोपचारात्। यथा उष्णतावति अग्नौ तप्तिक्रियोपचारः तद्वत्। गीता भाष्य।१३।२।

२६ किं च बन्धमोक्षवादिनो पौर्वापर्यनिरूपणात् बन्धावस्था पूर्वा अकल्पा अनादिमती अन्तवती च ता च प्रमाणविरुद्धा तथा मोक्षावस्था आदिमती अनन्ता च प्रमाणविरुद्धा। गीता भाष्य।१३।२।

वस्तुत कोई क्रम निश्चित नही किया जा सकता। इस ज्ञान म न स्थिति है और न गति ही। यदि स्थिति होगी तो मोक्ष या बध की स्थिति नित्य हो जाएगी। इस प्रकार की नित्यता मोक्ष और बध को नित्य ही बना देगी या अनित्यता म परिणत हो जाएगी। ऐसी दशा म व्यवहार और मोक्ष दोनो ही असभव हो जाएगे। अत गति और स्थिति की क्रमशीलता का ज्ञान म निश्चित नही किया जा सकता[a]। व्यवहार म अवस्था और क्रम की स्वीकृति है परमार्थ म नही।

ज्ञान के लिए शरीर और कर्म की आवश्यकता नही है। शरीर और कर्म दोनो ही अविद्याजन्य हैं। ज्ञान उत्पन्न हुए हो देहात्मभाव का प्रेरणा देते ह। शरीर वस्तुत कर्म स्वरूप है और कर्म घटना शरीर से होती है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध नही है। शरीर ही आत्मा है ऐसे मिथ्याभिमान कहा गया है। शरीर और आत्मा म कार्य कारण भाव या सम्बन्ध नहा है। इस कार्य-कारण सिद्धान्त को अनादि भी नही कह सकते क्योंकि आत्मा का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहा है। यदि कहा जाय कि आत्मा म स्वामी और सेवक भाव होने से शरीर का कर्तृत्व आत्मा को प्राप्त होता है तो यह कथन भी विरुद्ध है। आचार्य शङ्कर इस भाव को मिथ्याभिमान के कारण उत्पन्न हुआ मानते है। शरीर म 'मैं' 'मेरा' अनुभूति मिथ्याजन्य बुद्धि है। यह शारीरात्म बुद्धि आत्मा अनात्मा के विवेक न होने से उत्पन्न होती है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष अथवा यह रजत है या शुक्ति। यहाँ इस प्रकार का सदेह आत्मा के सम्बन्ध म नही हो सकता। यह द्वैत ज्ञान ठीक तभी तक है जब तक वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही हो जाता[२८]।

तब प्रश्न यह होगा कि यदि शरीर और कर्म का सम्बन्ध आत्मा से नही है तो मोक्ष फल असिद्ध होगा। आचार्य शङ्कर के अनुसार मोक्ष म शरीर की आवश्यकता नही है और न शरीरत्व मोक्ष मे बाधक है क्योंकि जीवित शरीर के साथ भी अशरीरत्व प्राप्त होता है। अत मरणोपरान्त ही अशरीरत्व होना सिद्ध नही है। ज्ञान दशा की अनुभूति मे अशरीरत्व माना गया है। जैसे

२७ क्रमभावित्वे च निर्निमित्तत्वे ... न स्वेन अभावात् न अपरमार्थत्वप्रसग।

गीता भाष्य। १३।२।

२८ न तावत् शरीरात्मभिमानलक्षण मिथ्याज्ञान मुक्त्वा अन्येन शरीरत्व शक्य कल्पयितुम् ... क्रियासमवाया भावा ... मन कर्तृत्वानुपपत्ते ... न वात्मनो धनदातृत्वादिन्द्रियादिभि स्वस्वामि सम्बन्ध निमित्त किंचिद्दृश्य कल्पयितुं। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्ष सम्बन्धहेतु। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

कोई पुरुष कुण्डल रहित होने पर कुण्डल पहन लेने के सुख का अभिमान नहीं करता है। इसी प्रकार देहाभिमान त्याग देने पर देह का व्यवधान नहीं होता[२९]। जैसे किसी गृहस्थ में अपने धन का अभिमान होता है और धन के चोरी जाने पर वह दुःखी होता है। परन्तु यदि वह गृह त्यागी और संन्यासी हो तो उस धनापहरण में उसे दुःख नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार भी शरीरत्वाभिमान छोड़ देने में शरीर की अनुभूति नहीं होती[३०]। यही नहीं शरीर से ही समस्त साधन होते हो यह भी नियम नहीं है। ज्ञान की साधना में अशरीरत्व की अपेक्षा है। आचार्य शङ्कर के अनुसार स्वप्न में शरीर की क्रिया नहीं होती परन्तु फिर भी वहाँ चलन, धावन, क्रन्दन, हास्य व्यापार प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही अशरीरत्व में ज्ञान की अनुभूति होती है। दीपक के प्रकाश से अन्धकार में रखी हुई वस्तु की उपलब्धि होनी अवश्य है परन्तु दीपक और उपलब्धि में साधर्म्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ज्ञान में शरीर की उपयोगिता हो सकती है परन्तु आत्मा और देह धर्म में सधर्मता नहीं है। अस्तु शरीर की नितान्त अपेक्षा ज्ञान की उपलब्धि में नहीं है। आचार्य शङ्कर ने इसके लिए स्वप्न की चेष्टा रहित स्थिति में भी उपलब्धि का दृष्टान्त दिया है[३१]। ज्ञान साधना में ज्ञान की साध्यता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा उपलब्धि स्वरूप ही है। यह उपलब्धि नित्य है[३२]।

शरीर रहित ज्ञान दशा में मुक्त साधक दो प्रकार के हैं जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त[३३]। देहादिक प्रपंच की प्रतीति होते हुए भी ब्रह्म स्वरूप में स्थिति जीवन्मुक्त दशा कहलाती है। जीवन्मुक्त के लिए अविद्या की आवरण शक्ति

---

२९ न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तद्वत् कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्यैव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति।

ब्रह्मसूत्र भाष्य । १।१।४।

३० अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । छान्दोग्य उपनिषद् ।८।१२।१।
मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् ।

ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

३१ एवं सति देहे उपलब्धिर्भवति, असति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति । उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद् देहोपयोगोपपत्तेः न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन् देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात् । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।३।५४।

३२ उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मा । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।३।५४।
नित्यत्वं चोपलब्धेः ऐकरूप्यात् । ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।३।५४।

३३ विचार चन्द्रोदय । कला ।१४।

का तो ज्ञान से नाश हो जाता है परन्तु प्रारब्ध के कारण दग्ध बीज के समान विक्षेप शक्ति रहती है। अतः उसको प्रपंच की प्रतीति होती है। यह प्रतीति उसी प्रकार है जिस प्रकार सर्प रज्जु का ज्ञान हो जाने पर भी भय के संस्कार रूप में कम्प और रोमांच होते रहते हैं। जैसे कुम्भकार दण्ड से चक्र को चला कर छोड़ देता है परन्तु चक्र वेग से चलता रहता है इसी प्रकार जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्मों के संस्कार प्रवर्तित होते हैं। इसे ही बाधितानुवृत्ति भी कहते हैं[३४]। विदेहमुक्ति में प्रपंच की प्रतीति नहीं होती। इसमें प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है। इसमें स्थूल सूक्ष्म शरीर शुद्ध चेतन में लीन हो जाते हैं। ये शरीर अज्ञान के परिणाम से प्राप्त होते हैं। अज्ञान का नाश होने से यह विदेहमुक्त ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है[३५]।

आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रिया विकार है और जो उसके संसर्ग में रहता है उसको भी विकृत करता है। यदि आत्मा में क्रिया की स्वीकृति होगी तो वह अनित्य हो जाएगा[३६]। अब कर्म फल भोक्ता का प्रश्न आता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार चिकित्सा से शरीर के स्वस्थ होने पर आत्मा में मैं आरोग्य हूँ ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इस आरोग्यता का अनुभव करने वाला और उसमें अभिमान रखने वाला आत्मा मैं मेरा इस बुद्धि रूप में भोक्ता होता है। वही कर्मफल करके फल भोगी होता है। परन्तु विकारबुद्धि से रहित होकर वह ज्ञानस्वरूप आत्मा होता है[३७]। मोक्ष ब्रह्म का स्वरूपभूत है। नित्यता उसकी विशेषता है। अतः क्रिया और फल से उसका संसर्ग नहीं है[३८]। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्मसूत्रों में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है वह मोक्ष ही है। वह मोक्ष को कर्म फल से विलक्षण मानते हैं। ब्रह्म कर्मफल से भिन्न है, अतः वही मोक्ष है[३९]।

आचार्य शङ्कर का मत है कि मिथ्या ज्ञान आत्मा और ब्रह्म में एकत्व

३४ विचार चन्द्रोदय।१४।

३५ विचार चन्द्रोदय।१४।

३६ यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

३७ तेनैव देहवर्ती अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते तत्फलं च स एवाश्नाति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

३८ नित्य शुद्ध ब्रह्म स्वरूपत्वात् मोक्षस्य। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४।

३९ तस्मान्नाशरीरत्वं मोक्षाख्यम् अनन्यद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।४

ज्ञान से होता है[40]। यह मिथ्या ज्ञान शरीर कर्म और उसके फल द्वारा निष्पन्न होता है। इससे जीव और ब्रह्म का भेद प्रसक्त होता है। जीव और ब्रह्म में अभेद दर्शन ही अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है। अभेद ज्ञान का अवगति शब्द से सूचित किया जाता है। इस एकत्व ज्ञान के द्वारा ही जीव जगत और ब्रह्म को एक रूप में देखा गया है। ज्ञान-साधना की चरम अनुभूति यह एकत्व ही है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इस एकत्व ज्ञान के उपरान्त जानने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता[41]।

जीव ब्रह्म की एकता के लिए आचार्य शङ्कर छान्दोग्य उपनिषद् का तत्त्वमसि वाक्य प्रमाण मानते हैं। इस ऐक्य की अनुभूति के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् का 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य भी प्रमाण है। तत्पद ब्रह्म का वाचक है। 'तत्पद' में ब्रह्म के लक्षणत्व से स्वरूप का बोध होता है[42]। यह पद अनुभवात्मक है[43]। त्वम् पद प्रत्यगात्मा और चैतन्य को व्यक्त करता है[44]। शरीर धर्मों का भी यह पद वाचक है। ज्ञान स्वतः चैतन्य स्वरूप है। देहादि से इस चैतन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह चैतन्य अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप है क्योंकि सुषुप्ति में शरीरता की निश्चेष्टता में भी चैतन्य का अनुभव होता है। अतः ज्ञान में जड़ता नहीं है। ज्ञान में जड़ बुद्धि से सम्बद्ध प्रक्रिया या मनोात्मकत्व नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यह दुःख करण रहित चैतन्य का अनुभव उपलब्धि की पराकाष्ठा है[45]। तत्' और त्वम् पदों का अभेद प्रतिपादन आचार्य शङ्कर का लक्ष्य है। भेद द्वैत अध्यास रूप और अविद्यात्मक है। तत् पद से ब्रह्म और त्वम् से जीव का कथन है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इन दोनों का उद्देश्य है जीव से संसारित्व का निरसन करना और जीव को ब्रह्म में प्रतिष्ठित करना[46]। इस ज्ञान स्वरूप ऐक्य के अधिगम से संसार और उसके धर्मों का निराकरण होता है।

४० मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।१।४।

४१ अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।१।१४।

४२ तत्पदेन च प्रकृतं सद् ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।२

४३ सद् ब्रह्मास्मि इत्यनुभवः। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।२।

४४ ...पि प्रत्यगात्मा श्रोतृ देहादिभ्य प्रत्यगात्मतया ... ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।२।

४५ ... कर्तृत्वानुभवः। न ... ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।२।

४६ ... ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।१।३।

जीव में व्यावहारिकता नहीं रहती और वह स्वतः परमार्थस्वरूप ही होता है। ऐक्य ज्ञान से बन्धन और कर्मों का विध्वंस हो जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान वेदान्त का भूषण है[४७]। अद्वैत दृष्टि इस प्रकार भेद विधूनन करके अभेद की प्रतिष्ठा करता है। भेद का अभाव परमार्थ में है अन्यथा भेद की अपेक्षा से अभेद ज्ञात होता है। इस प्रकार अभेद के लिए भेद का महत्त्व है।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर ज्ञानस्वरूप चैतन्य आत्मा को जड़ पंच तत्वों से पृथक् मानते हैं। जड़ में चैतन्य बुद्धि अज्ञान है। चार्वाक आदि जड़वादी आत्मा को पृथ्वी जल तेज और वायु के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते हैं। वे आकाश की सूक्ष्म धर्मता को स्वीकार नहीं करते। इन चार भूतों के संयोग से आचार्य शङ्कर चैतन्य की निष्पत्ति नहीं मानते। उनके अनुसार चैतन्य भूतात्मक है ऐसा मानने पर विषय और विषयित्व का विरोध होगा। ऐसी दशा में या तो विषय की ही स्थिति होगी या विषयित्व की। परन्तु विषय का विषयी होना आवश्यक है। जैसे अग्नि स्वयं को नहीं जलाती, कुशल नट स्वयं अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार क्रिया का अपने में ही विरोध नहीं हो सकता। ऐसे ही भूत स्वयं चैतन्य की निष्पत्ति नहीं कर सकते[४८]। यदि चैतन्य भूत भौतिकों का धर्म होगा तो भूत और भौतिक स्वयं उस चैतन्य से विषय नहीं किए जा सकते। अतः चैतन्य जड़ता से पृथक् है। स्मृति चैतन्य की उपलब्धि हो सकती है क्योंकि वही साक्षी रूप में ब्रह्म है। भौतिक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं किन्तु यह चैतन्यस्वरूप ज्ञान इस क्षणिकता में स्थिर रहता है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय भाव की प्रसक्ति होती है। परन्तु फिर भी ज्ञाता और ज्ञेय भेद अविद्यात्मक है क्योंकि ज्ञेय स्वतः ज्ञानस्वरूप ही है[४९]। अतः ज्ञान नित्य है।

पारमार्थिक ज्ञान का स्वरूप मन वाणी का विषय नहीं है। द्वैत का निरसन हो जाने पर अद्वैत की स्थिति क्या होती है? आचार्य शङ्कर इसको इन्द्रियगम्य न होने के कारण अनिर्वचनीय कहते हैं। उनके अनुसार

४७ अतश्चैव सर्ववेदान्तप्रमेयमात्मैकत्वं ब्रह्मात्मभावो न सिद्धो समस्तद्वैतप्रपञ्चविनाशेन [illegible] इति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य

४८ न ह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति न हि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।३।५४।

४९ नित्यचैतन्ये एकरूपत्वात् स्मृत्याद्युपपत्तेश्च। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।३।५४।

बृहदारण्यक उपनिषद् का नेति नेति परब्रह्म का निषेध नहीं करता। ब्रह्म सद्रूप है ज्ञान रूप नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान रूप है सद्रूप नहीं है यह भी नहीं कह सकते। ब्रह्म की उभयरूपता स्वीकार करने से भी विरोध होगा[५०]। सत्ता और ज्ञान का अभिन्नता मान लेने से भी सद्रूपता ज्ञानरूपता या उभयरूपता निर्विषयक होगा। आचार्य शङ्कर प्रपंच विलय द्वारा निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा को भी समीचीन नहीं मानते। उनके अनुसार उपासना विधान में अधिकृत प्रपंच विलयार्थक नहीं है[५१]। परन्तु ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही है या ऐसा नहीं है, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में नेति नेति पद से ब्रह्म के अनिश्चय का सन्देह होता है। यहाँ ब्रह्म का प्रतिषेध होता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म में मन-वाणी की अविषयता का अभाव प्रमाणित नहीं होता[५२]। ब्रह्म स्वरूप की यह अतीन्द्रियता ब्रह्म की प्रापंचिकता का प्रतिपद्यमान व्यक्त करती है। ब्रह्म प्रत्यगात्मक रूप है। यह प्रतिषेध प्रपंच का प्रतिषेध करके ब्रह्म का परिचय रखता है[५३]। आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का प्रतिषेध इसलिए नहीं हो सकता कि वही समस्त कल्पनाओं का मूल है[५४]। अब जिज्ञासा यह है कि यदि यह ब्रह्म नहीं है, तो क्या अन्य ब्रह्म है? आचार्य शङ्कर के अनुसार विषय समूह के प्रतिषिद्ध हो जाने पर अविषयब्रह्म का ज्ञान प्रस्तुत होता है। अतः यह ब्रह्म अन्य से अप्रतिषिद्ध है। इस प्रतिषेध का पर्यवसान अभाव में नहीं, ब्रह्म में है। यदि प्रतिषेध का पर्यवसान अभाव में होगा तो सत्य का सत्य निश्चित नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म ही सत्य का सत्य है[५५]। ब्रह्म ही मोक्ष कहा गया है।

निर्गुण ब्रह्म में गति का विरोध है। निर्गुण विद्या में क्रिया का विरोध होने से मोक्ष में गति नहीं है। अतः मुक्त हुए पुरुषों का पुनर्जन्म नहीं

५० न च सद्रूपतामेव ब्रह्म न बोधरूपतामिति शक्यं वक्तुम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२१।

५१ यस्मादुभयात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चविलयनेनैवाकारप्रतिपत्तिः यथा एव न प्रपञ्चधा। इति तदपि न मनागानन्दित्व इत्यत्र। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२१।

५२ वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते। ब्रह्मसूत्र भाष्य।।२।२२।

५३ ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२२

५४ प्रतिषेद्धुं न तु ब्रह्म सर्वकल्पनामूलत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२२।

५५ मनोवाग्विषयत्वप्रतिषेधादवसीयते ब्रह्मणो ब्रह्मेति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२२।

५६ ब्रह्मावसाने हि प्रतिषेधे सत्यस्य सत्यमिति ब्रह्माभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्यते।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।२।२२

होता[५७]। सगुण विद्या में भी आचार्य शाङ्कर सम्यक ज्ञान का आश्रय स्वीकार करते हैं। सगुण विद्या द्वारा भी सम्यक ज्ञान में पर्यवसायी होकर साधक का पुनर्जन्म नहीं होता[५८]। मोक्ष में वस्तुतः फल नहीं है। बन्ध की निवृत्ति ही मोक्षरूप फल है[५९]। आचार्य शाङ्कर के अनुसार इस पृथ्वी से तृतीय दिव में ब्रह्मलोक है। उसमें दो 'अर' और 'ण्य' नामक दो समुद्राकार सरोवर हैं। वहीं अमृत स्नानवाही अश्वत्थ वृक्ष है वहीं हिरण्यगर्भ की अपराजिता पुरी है। वही ब्रह्मपुरी है। वहाँ ब्रह्म निर्मित सुवर्णमय वेश्म है। इस प्रकार के अर्थवाद ब्रह्मलोक के सम्बन्ध में प्रसक्त होते हैं। कर्मठ इस लोक को भोग कर वापस लौटते हैं परन्तु ज्ञानी नहीं लौटते[६०]। इस प्रकार का वर्णन शंका का कारण नहीं है। स्वर्ग मोक्ष के सम्बन्ध में कथित वर्णन को अर्थवाद के रूप में उन्होंने ग्रहण किया है। मुक्त का ब्रह्म के साथ अविभाग रहना है[६१]। आचार्य शाङ्कर का प्रतिपाद्य है अभेद। अतः मुक्त का ब्रह्मरूपता अभेदस्वरूप है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसको ही स्वाराज्य प्राप्ति कहा गया है[६२]।

गति का सम्बन्ध केवल कार्य ब्रह्म से है। परब्रह्म में गति नहीं हो सकती क्योंकि वह गमन करनेवालों का प्रत्यगात्मा है[६३]। अतः मार्ग की ज्ञानरूपता ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप में अक्षुण्ण रहती है। सगुण स्वरूप अविद्यात्मक होने के कारण गति जैसे विचार उसमें मान्य हैं।



५७ तस्मादयमेव श्रि सगुणशरणानामप्यन्नावृत्तिसिद्धान्त। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।४।२२।
५८ अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात्। ब्रह्मसूत्र ।४।४। २२।
५९ फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रा। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।४। ।
६० ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।४। ।
६१ परेणात्मनात्मा मुक्तोऽवतिष्ठते। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।४।४।
६२ आप्नोति स्वाराज्यम्। तैत्तिरीय उपनिषद् ।१।६।२।
६३ अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात् न तु परस्मिन् ब्रह्मणि गन्तृगन्तव्यत्व गर्भावकल्पते स गन्तॄणां प्रत्यगात्मत्वाद् गन्तॄणाम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।४।३।७।

दशम प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार श्रुति, युक्ति और अनुभव का महत्त्व

आत्मज्ञान की उपलब्धि में श्रुति, युक्ति और अनुभव की अपेक्षा है। श्रुति ज्ञान का स्वतः प्रमाण है। इसके अतिरिक्त आचार्य शङ्कर युक्ति अथवा तर्क के बौद्धिक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं करते। अधिकारी भेद से साधन भेद होना स्वाभाविक है। अतः उक्त माध्यमों से ज्ञान प्राप्ति होती है। अनुभव तो साधन सार ही है। अनुभव ही ज्ञान को आत्मा में आरूढ करता है। यहाँ इन्हीं साधनों के महत्त्व का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिए[1]। आचार्य शङ्कर इस जिज्ञासा के द्वारा सत्य के अनुसंधान का उद्देश्य रखते हैं। इस सत्य के प्रकाशन में श्रुति समर्थ है। श्रुति उनके अनुसार नैसर्गिक ज्ञान है। यह पुरुष कार्य नहीं है। अतः पौरुषेय नहीं है। सत्य के प्रमाण के लिए श्रुति सर्वश्रेष्ठ साधन है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि श्रुति प्रदीप के समान सत्य का प्रकाशन करती है[2]। श्रुति सत्य उद्भावित करके बड़ी अनुकम्पा करती है। शङ्कर इस अनुकम्पा को मातृस्नेह रूप में मानते हैं[3]। यह सत्योद्घाटन बड़े यत्न से होता है[4]। इस यत्न में केवल आचार्य और शास्त्र ही सहायक हैं[5]। शास्त्र केवल सहायक है उस सत्य का कारक नहीं। अतः शास्त्र को ज्ञापकमात्र कहा गया है[6]। इस ज्ञापना-व्यापार में भी श्रुति पदार्थों के मध्यभाव का विरोध नहीं करती और न पदार्थों का अन्यथा करती है। श्रुति का उद्देश्य केवल यथार्थ का प्रकाशन करना है।

---

१ सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्। छान्दोग्य उपनिषद्। ७।१६।
२ प्रदीपवत्सर्वार्थ विज्ञानेन। अद्वमन्त्र भाष्य।१।१।३।
३ श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मा यन। कठोपनिषद्। १।३।१४।
४ महान् यत्न आस्थेय। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य।१।४।८।
५ केवल शास्त्राचार्योपदेशात्मन। छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य।६।१।२।
६ शास्त्रादिशास्त्र न कारक इति। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य।१।४।१।

केन उपनिषद् के शाकर भाष्य म कहा गया है कि आगम और आचाय से एकात्मभाव का अनुभव होता है । यहाँ आगम शब्द श्रुति का पर्याय है। इस प्रकार ज्ञान साधना म श्रुति का परम महत्त्व है।

वेदान्त दर्शन तो श्रुति दर्शन ही है। उसकी सूत्र परम्परा के उपनिषदों की ही ध्वनि प्रतिध्वनि है। शकर के प्रकरणों म श्रुति और स्मृतियों का ही आश्रय लिया गया है। न केवल आचाय शङ्कर अपने मत की पुष्टि क लिए श्रुति प्रमाण को स्वीकारते हैं वरन सूत्रकार बादरायण भी 'श्रुतेश्च' ,'तत्त्वाच्च' जैसे अनेक सूत्रों से श्रुति के प्रति आग्रह अनुग्रह प्रकट करते हैं।

ज्ञान साधना म तक अथवा युक्ति का भी अधिक महत्त्व है। इस दिशा म शङ्कर नागार्जुन जैसे बौद्धों से तक योजना म कम नहीं हैं। अन्तर इतना अवश्य है कि नागार्जुन जिस प्रकार अपनी कारिकाओं म समस्त पदार्थों की उच्छेद धारणा पर दृढ़ है आचाय शङ्कर उतने ही श्रुति सम्मत ब्रह्म की प्रतिष्ठा करने म धनी है। आचाय शङ्कर का अभिमत है कि अद्वैत ज्ञान तक से भी प्राप्त हो सकता है[८]। परन्तु तक का स्वरूप श्रुति का विरोधी नहीं होना चाहिए। बिना शास्त्रीय आधार के तक अस्थिर होते हैं[९]। कल्पना के आधार पर तक म स्थिरता नहीं आती क्योंकि कल्पना निरकुश है। आचाय शङ्कर के अनुसार कल्पना पर आधारित तर्कों के लिए अधिक प्रचण्ड बुद्धियों द्वारा कल्पित युक्तियों म कभी स्थायित्व नहीं आ सकता। ससार भर के समस्त तार्किक एकत्रित होकर एकमत स्थिर नहीं कर सकते। इस प्रकार एक का तक दूसरे के लिए तर्काभासमात्र हो सकता है। पुरुष बुद्धि विलक्षण है और इस अस्थिरता से लोक व्यवहार उच्छिन्न होने की आशका है[१०]। ऐसी दशा म तक का महत्त्व श्रुति प्रतिष्ठित अथाभास का निर्णय करने म है[११]।

तक द्वारा तथ्य ग्रहण करने म आचाय शङ्कर बडे सचेष्ट हैं। वे तक

७ आगमाचार्योपदेशानुभवप्रत्ययः अस्यैकविषयत्वेन सम्यग्दर्शनम्।

केन उपनिषद् शाकर भाष्य।२।१।

८ अद्वैत किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित् तर्केणापि इत्यत आह—शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्। माण्डूक्य कारिका भाष्य। अद्वैत प्रकरण।१। रत्नवत् भाष्य।

९ यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति निरङ्कुशत्वात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।११।

१० पुरुषमतिवैरूप्यात् सकलतार्किकैः... च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग।

ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।११

११ सम्यग्ज्ञानकारणे तर्केणैव। ब्रह्मसूत्र भाष्य। ।१।११।

अप्रतिष्ठा को तर्क का भूषण मानते हैं। इस अप्रतिष्ठा का फल यह है कि इससे दुष्ट तर्क का निराकरण होता है और निर्दुष्ट का स्वीकार होता है[१२]। तर्क की आवश्यकता सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि में सहायक है। परन्तु बिना शास्त्राधार के मत में स्थिरता नहीं आ सकती। अतः सम्यक् ज्ञान के लिए ही इसकी आवश्यकता है। मोक्ष ज्ञान एकरूप है और काल्पनिक तर्कों द्वारा उसमें विविधता सिद्ध होने की आशंका है। इसलिए तर्क श्रुति के निर्णय में सहायक और सम्यक् ज्ञान का प्रापक होना चाहिए। जल्प और वितण्डादि के लिए आचार्य शङ्कर के युक्ति क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है।

ज्ञान केवल श्रुति और युक्ति से प्रतिपादित वाचिक मान्यता नहीं है। ब्रह्म की अनुभूति इस ज्ञान साधना का लक्ष्य है। साधना का अन्तिम चरण साध्य का अनुभव ही है। यह अनुभव अविद्या का निवारण करने वाला और मोक्ष का साधन है। अनुभव ब्रह्म विज्ञान का अन्तिम फल है[१३]। ज्ञान-साधना का लक्ष्य है कर्म से निवृत्ति। इस निवृत्ति से ज्ञान का अनुभव रूप फल प्राप्त होता है[१४]। ब्रह्मवेत्ता के प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने पर कैवल्य का अनुभव कहा गया है[१५]। ज्ञान का कर्म से विरोध है। कर्मफल का अनुभव तो इन्द्रियों से भी हो जाता है परन्तु ज्ञान के कर्मरूप न होने से भी उसका अनुभव होता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार भी यह विद्याफल अनुभव से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष है। क्रिया के फल के लिए कालान्तर की आवश्यकता है[१६]।

यह अनुभव भेद से रहित होता है। इसमें आत्मा एकरस रहती है और संसार का उसमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कर्म और उसके फल के विकल्प अनुभव में नहीं होते। आचार्य शङ्कर के अनुसार ज्ञानफल का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। 'तत्त्वमसि' रूप आत्मा की प्रतीति होने से आत्मा का संसारित्व

---

१२ अयमेव च तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।११।

१३ अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयोपपद्यते।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।४।

१४ अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।२।३१।

१५ ब्रह्मविदः प्रारब्धफलक्षये कैवल्यमनुभवन्ति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।३।३२।

१६ अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत् कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम।
ब्रह्मसूत्र भाष्य।३।४।१५।

लुप्त हो जाता है[१७]। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य[१८] में अनुभूति की उच्चता का दिग्दर्शन कराया गया है। साधक उस आत्मानन्द का अनुभव करता है। उच्छेदात्मक संसारस्य रूप का प्रत्यक्ष परमात्मभावी आत्मस्वरूप में है। उस महती प्रीति पवत के पृष्ठ भाग में समारूढ़ होता है। मैं उत्कृष्ट परम तत्त्व हूँ मैं ही ज्ञानरूप परब्रह्म हूँ मैं ही श्रुति और स्मृतियों में प्रसिद्ध विशुद्ध, सूर्य में स्थित अमृत हूँ। इस प्रकार स्वरूप में अवस्थित आत्मा अनुभूति की परम दशा का लाभ करता है[१९]। इस अनुभूति का सर्वोत्कृष्ट रूप है आत्मा में ब्रह्मत्व का ज्ञान करना। आचार्य शङ्कर के अनुसार जिसको मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अनुभव हो गया वह पहले के समान संसारी नहीं रह जाता[२०]।

यह अनुभव ही विज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अन्तःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करने का नाम विज्ञान है[२१]। व ज्ञान को भी विशेष रूप से अनुभव करने को विज्ञान कहते हैं[२२]। वे इसे निश्चयात्मिका बुद्धि मानते हैं[२३]। विज्ञान को यज्ञादि का हेतु कहा गया है[२४]। इस प्रकार विज्ञान आत्मा के स्वरूप का निश्चय करने वाला सिद्ध होता है। अतः अनुभव से आत्मा का निश्चय मात्र होता है। इस निश्चय के उपरान्त ज्ञान अथवा आत्मा की अवस्थिति में बुद्धि आदि द्वारा परायत्त अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ किसके द्वारा कौन किसको देखे[२५]। इस प्रकार उपनिषद् का वचन यथार्थ होता है। यह विज्ञान ही महत्तत्त्व है। इसके द्वारा ही सृष्ट्यादि कार्य होते हैं। आचार्य शङ्कर के अनुसार महत्तत्त्व ही बुद्धि के सम्पूर्ण विज्ञानों का कारण है[२६]। ज्ञानेश्वरी के अनुसार भी ज्ञान से भिन्न जो कुछ प्रपंच है, उसी को विज्ञान कहा गया है[२७]। यह बुद्धि ही

---

१७ अवगत्यवसानं फलम् 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वप्रतिपत्ति साध्यसाधनस्थिरवव्याप्तते। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४।१४।

१८ तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।१।१।

१९ तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।१।१।

२० नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्। ब्रह्मसूत्र भाष्य ।१।४।४।

२१ विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम्। गीता भाष्य ।६।८।

२२ विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः। गीता भाष्य ।३।४१।

२३ बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानम्। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।४।१।

२४ विज्ञान पूर्वको हि यज्ञादि। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।४।१।

२५ केन कम् पश्येत्। तैत्तिरीय उपनिषद् ।४।१।

२६ सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।४।२।

२७ ज्ञानेश्वरी। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य ।४।२।

प्रत्यय का निश्चय रूप में अनुभव करता है। अतः बुद्धि या विज्ञान मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी प्रकार मनोमय कोश के ऊपर विज्ञानमय कोश की प्रतिष्ठा है। इससे सिद्ध होता है कि अनुभव ही विज्ञान है और यह विज्ञान शब्द निश्चयात्मिका बुद्धि का वाचक है। अनुभव से ही आत्मा का निश्चय होता है। अतः अनुभव ही विज्ञान शब्द से अद्वैत सिद्धान्त में प्रतिष्ठित किया गया है। अनुभव में प्रत्यक्षता कही गई है और यह प्रत्यक्षता बुद्धिग्राह्य है। अतः अनुभव बुद्धि का भी स्वरूप है जो आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप की अवगति में सहायता देता है।



एकादश प्रकरण

आचार्य शङ्कर के अनुसार साधन चतुष्टय का स्वरूप और महत्त्व

इस प्रकरण में हम अद्वैत सिद्धान्त सम्मत उन साधनों पर विचार करेंगे जिनसे आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। इस ग्रन्थ के पिछले प्रकरणों में हम ब्रह्म और आत्मा के स्वरूपों पर विचार कर चुके हैं और आचार्य शङ्कर के अनुसार ज्ञान का दशम प्रकरण में यह निश्चय कर चुके हैं कि ब्रह्म अथवा आत्मा की उपलब्धि ज्ञान द्वारा होती है। इस प्रकरण में हम ज्ञान प्राप्ति के साधन साधन चतुष्टय पर विचार करेंगे एवं क्रमपूर्वक उन साधनों का अध्ययन सन्त काव्य में भी करेंगे।

बृहदारण्यक उपनिषद् में शान्त दान्त उपरत तितिक्षु और समाहित साधकों का उल्लेख हुआ है। उक्त उपनिषद् में उक्त साधकों के द्वारा आत्मा का दर्शन करना कहा गया है[1]। ब्रह्मसूत्रों में भी इन साधनों की ज्ञान प्राप्ति में आवश्यकता स्वीकार की गई है[2]। आचार्य शङ्कर के अनुसार शम इत्यादि साधन जिनका विस्तृत विवेचन हम इस प्रकरण में करेंगे विद्या के अङ्ग हैं। ये साधन विद्या के अन्तरंग साधन हैं और यज्ञादि कर्म विद्या के बहिरंग साधन हैं[3]। विवेक चूडामणि के अनुसार ये साधन चतुष्टय इस प्रकार हैं —

(१) विवेक।

(२) वैराग्य।

---

१ तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।
बृहदारण्यक उपनिषद् ।४।४।२३।

२ शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।
ब्रह्मसूत्र ।३।४।२७।

३ तत्राप्येवं विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनि विवेक्तव्यम्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य ।३।४।२७।

(३) शमादि षट्क अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ।

(४) मुमुक्षुत्व ।[४]

इन उपर्युक्त साधनों का अपरोक्षानुभूति के अनुसार संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाएगा । सन्त काव्य में इनका विवेचन करते समय इन साधनों पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा ।

अपरोक्षानुभूति के अनुसार आत्मा का स्वरूप नित्य है और दृश्य जागतिक सत्ता अनित्य । इस प्रकार का नित्यानित्य निश्चय दृढ़ होकर आत्मवस्तु का विवेक होता है । इस निश्चय को ही नित्यानित्य विवेक कहते हैं[५] । ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त विषयों में काक विष्ठा के समान वैराग्य होना ही निर्मल वैराग्य है[६] । वासनाओं का त्याग शम है और बाह्य इन्द्रियों का रोकना दम कहलाता है । विषयों से विमुख होना उपरति और सम्पूर्ण दुःखों का सहन करना तितिक्षा है । शास्त्र और आचार्य के वाक्यों में भक्ति का रखना श्रद्धा है और अपने वास्तविक लक्ष्य अथवा आत्मज्ञान में चित्त की एकाग्रता होना समाधान है[७] ।

अपरोक्षानुभूति के अनुसार 'मेरी संसार-बन्धन से कब मुक्ति होगी' ऐसी दृढ़ बुद्धि को मुमुक्षा कहते हैं[८] ।

---

४ साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिध्यति ॥ विवेक चूडामणि ।१८।
आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥ विवेक चूडामणि ।१९।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् । विवेक चूडामणि । २०।

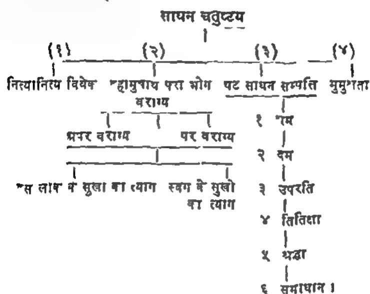
५ नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।
एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेको वस्तुनः स वै ॥ विवेक चूडामणि ।५।

६ ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम् ॥ अपरोक्षानुभूति ।४।

७ सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः ।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ॥ अपरोक्षानुभूति ।६।
विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा ।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥ अपरोक्षानुभूति ।७।
निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता ।
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम् ॥ अपरोक्षानुभूति ।८।

८ संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात् कदा विधे ।
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ॥ अपरोक्षानुभूति ।९।

साधन चतुष्टय आत्मज्ञान प्राप्ति का आधारभूत है। इन साधनों का महत्त्व इसलिए है कि ये नित्य शुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म स्वरूप में अध्यस्त विकारों का परिहार कर देते हैं। विकार परिहार हो जाने पर सर्वनिष्ठ तत्त्व आत्मा की अनुभूति ही होती है। साधन चतुष्टय का मन्तव्य हम इस प्रकार चित्रित कर सकते हैं —



इन सभी साधनों का विस्तारपूर्वक अध्ययन हम इस प्रबन्ध के अगले पृष्ठों पर सन्त काव्य का अनुशीलन करते हुए करेंगे।

चतुर्थ खण्ड

निर्गुण काव्य का साधना पक्ष और उस पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव

परिचय

प्रबन्ध के इस भाग में हम निर्गुण काव्य में [illegible] करेंगे। साधना पक्ष में हम शंकर के अनुसार साधन विचार करते हुए निर्गुण काव्य में [illegible] मूल तत्त्व साधन चतुष्टय में वर्णित अंग ही है। इसका [illegible] में कर चुके हैं।

उपर्युक्त साधनों का निर्गुण सन्त काव्य में विस्तृत अंगों का वर्णन करेंगे —

(१) ज्ञान का स्वरूप।

(२) कर्म का स्वरूप।

(३) उपासना और भक्ति का स्वरूप।

ऊपर दिए गए क्रम में वर्णित सामग्री के विवेचन के सहायक इन साधनों का निर्गुण सन्त काव्य में विचार क

(१) सद्गुरु।

(२) श्रुति युक्ति और अनुभव।

साधन चतुष्टय वर्ग के अन्तर्गत साधन विवेचन इस प्र

(१) नित्यानित्य विवेक

(२) इहामुत्रार्थ फल भोग वैराग्य

( ) षट् सम्पत्ति साधन –

१ शम।

२ दम।

उपरति।

४ तितिक्षा।

५ श्रद्धा।

६ समाधान।

(४) मुमुक्षुत्व।

निर्गुण काव्य में उपलब्ध उपर्युक्त साधन सम्पत्ति का विचा
प्रबन्ध का उपसंहार प्रस्तुत करेंगे।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

निर्गुण काव्य मे ब्रह्म का स्वरूप

'ब्रह्म का स्वरूप' नामक प्रकरण के प्रसंग में आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म को जगत्कारण कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों के प्रारम्भिक सूत्रों में भी ब्रह्म की जगत्कारणता का विवेचन हुआ है तत्पश्चात् जगत्कारण ब्रह्म के निमित्त और उपादान कारण रूपता का निर्देश किया गया है। वहाँ हम कह चुके हैं कि घटादि का बनाने वाला कुम्हार जिस प्रकार घटादि का निमित्त कारण है उसी प्रकार सृष्टि की रचना करने के कारण ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है। जिस प्रकार मिट्टी से घटादि का निर्माण होता है उसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप से ही सृष्टि की रचना होती है। अतः ब्रह्म ही जगत का उपादान कारण भी है। इसी आधार पर हमने ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दो सत्ताएँ मानी हैं। इसके साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि कार्य और कारण में सर्वथा अभेद है। अतः कार्य और कारण भेद अज्ञानजन्य और व्यावहारिक है। वस्तुतः परमार्थ-स्वरूप ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

'ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण में ही हमने अद्वैत ब्रह्म में तीन स्वरूपों की प्रतिष्ठा की है। ये स्वरूप हैं—सत् चित् और आनन्द। हम वहीं पर यह भी कह चुके हैं कि ब्रह्म के ये स्वरूप उसी प्रकार नित्य हैं जिस प्रकार सूर्य और सूर्य का प्रकाश। ब्रह्मसूत्र भाष्य से हमने इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त दिया है कि यदि सूर्य कभी प्रकाश देता और कभी न देता तो हम उसके प्रकाश को अनित्य कहते, किन्तु सूर्य स्वयं और नित्य प्रकाश्य है उसी प्रकार ब्रह्म में सत् चित् और आनन्दस्वरूप नित्य प्रतिष्ठित हैं।

उक्त सन्दर्भ में ही हमने जहाँ ब्रह्म स्वरूप में आकार की प्रतिष्ठा का प्रश्न उठाया है वहाँ कहा जा चुका है कि विद्या और अविद्या के विषय विभाग के आधार पर अथवा उपासना भेद के आधार पर ही ब्रह्म स्वरूप में साकार या

निराकार पक्ष का विवेचन होता है। वस्तुतः आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म को निराकार ही माना है।

पीछे हमने बताया है कि ब्रह्मसूत्रों अथवा उपनिषदों में अवतार का प्रसङ्ग नहीं है। गीता भाष्य में उपोद्घात में आचार्य शङ्कर ने 'अपने अंश से देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण के प्रकट होने का उल्लेख किया है। अतः यहाँ निश्चय होता है कि शङ्कर ने अवतार का विरोध नहीं किया। फिर भी अवतारों की मान्यता यहाँ प्रासङ्गिक ही कही जाएगी, क्योंकि अन्यत्र आचार्य शङ्कर के भाष्यों में इस भावना का अभाव है।

ब्रह्म की सगुणता और निर्गुणता का प्रश्न उठाते हुए पीछे हमने शाङ्कर दर्शन के अन्तर्गत बताया है कि सगुणता वस्तुतः आचार्य शङ्कर का लक्ष्य नहीं है। यद्यपि आचार्य शङ्कर ने सगुणता का विरोध नहीं किया और कहीं भी इस प्रकार की युक्ति प्रस्तुत नहीं की कि ब्रह्म सगुण होता ही नहीं। प्रत्युत आचार्य शङ्कर ने यह कहा है कि सगुण ब्रह्म में ही समस्त व्यावहारिक और उपासना सम्बन्धी विषय निष्पन्न होते हैं। पुनश्च आचार्य शङ्कर ने यह भी कहा है कि जो जिस गुण की उपासना करता है उपासक को तदनुसार ही फल मिलते हैं। आचार्य शङ्कर ने मन्द बुद्धि पुरुषों के लिए ब्रह्म की सगुणता स्वीकार की है। निर्गुण ब्रह्म से ही सृष्टि आदि की सम्भावना शाङ्कर दर्शन में निश्चित की गई है। विवर्त भावना की ओर भी इसी प्रसङ्ग में संकेत किया जा चुका है और निर्गुण एवं निराकार स्वरूप की अकथनीयता का परिचय दिया जा चुका है।

पीछे के पृष्ठों में प्रायः भाष्यों के आधार पर शाङ्कर सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है किन्तु भाष्यों में प्रस्तुत की गई व्याख्याएं बहुत विस्तृत हैं इसलिए स्वयं आचार्य शङ्कर ने स्व अभिमत को अधिक सुस्पष्ट करने के लिए अनेक छोटे छोटे ग्रन्थों की रचना की थी। इस दृष्टि से विवेक चूडामणि की उपयोगिता विशेष है। इसमें सिद्धान्त सूत्र रूप में कहा गया है किन्तु उसकी एक स्पष्ट और सुनिश्चित दिशा है जिसके आधार पर शङ्कर मत का अध्ययन सुकर बनाया जा सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर यहाँ पुनः विवेक चूडामणि के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप का उल्लेख करते हुए अपने मूल विषय का विवेचन प्रारम्भ करेंगे।

विवेक चूडामणि में कहा गया है कि परब्रह्म सत् अद्वितीय शुद्ध विज्ञानघन निर्मल शान्त आदि अन्त रहित अक्रिय और सदैव आनन्द रस स्वरूप

है[1]। ब्रह्म समस्त मायिक भेदों से रहित है। नित्य सुख स्वरूप, कलारहित और प्रमाणों का अविषय है। वह अरूप अव्यक्त अनाम, अभयस्वरूप और स्वयप्रकाश है[2]।

ब्रह्म नाना नाम और नाश से शून्य है, अनन्त और निर्विकल्प है। ब्रह्म स्वरूप अखण्ड चैतन्य मात्र है[3]। वह त्याग एवं ग्रहण के योग्य नहीं है और मन वाणी द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह अपनी स्थिति की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। वह आदि अन्त से रहित पूर्ण और महान तेजस्वरूप है[4]।

ब्रह्म को जाति कुल, नाति और गोत्र से परे कहा गया है। वह नाम रूप गुण और दोष से रहित है। ब्रह्म देश, काल और वस्तु कल्पना से भी भिन्न है[5]। वह प्रकृति से परे है और वाणी द्वारा उसके स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। ब्रह्म विकारों से रहित है, अत वह शुद्ध कहा गया है। ब्रह्म चैतन्य से ही ससार में चैतन्य की प्रतीति होती है। अत ब्रह्म चिन्घन है। ब्रह्म अनादि है[6]। ब्रह्म जगत के कल्पित रूप का भी आधार है। ब्रह्म स्वय अपने में ही आश्रित है। ब्रह्म सत और असत दोनों से भिन्न है। वह निरवयव निरुपम और निज ऐश्वर्य से युक्त है[7]। ब्रह्म में कोई विकार नहीं हैं—जन्म

१ अत पर ब्रह्म सद्द्वितीय विशुद्ध विज्ञानघन निरञ्जनम्।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रिय निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्। २३९।
निरस्तमायाकृतसर्वभेद नित्य सुख निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्यय ज्योति स्वय किञ्चिदिद चकास्ति। २४०।

विवेकचूडामणि।

३ ज्ञातृ ज्ञेय ज्ञानशून्यमनन्त निर्विकल्पकम्।
केवलाखण्डचिन्मात्र पर तत्त्व विदुर्बुधा। २४१।
४ अहेयमनुपादेय मनोवाचामगोचरम्।
अप्रमेयमनाद्यन्त ब्रह्म पूर्ण महन्मह। २४२।
५ जातिनीतिकुलगोत्रदूरग नामरूपगुणदोषवर्जितम्।
देशकालविषयातिवर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि। २५४।
६ यत्पर सकलवागगोचर गोचर विमलबोधचक्षुष।
शुद्धचिद्घनमनादि वस्तु यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि। २५६।
७ अनेक ि पत्ता कल्पनम्।
स्वाश्रय च सदसद्विलक्षणम्॥
निष्कल निरुपमानवद्धि यद्।
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि। २५८।

विवेकचूडामणि।

वृद्धि परिणति अपक्षय, व्याधि और नाश। वह जगत की सृष्टि और उसका नाश करता है[८]। ब्रह्म सत्ता में जीव ब्रह्म का अंश और जगत ब्रह्म का अंश नहीं हैं। ब्रह्म जगत रूप में दूध से दही जमने के समान परिणाम नहीं है। ब्रह्म को उस जल राशि के समान कहा गया है जिसमें लहरें नहीं होतीं। ब्रह्म नित्य मुक्त है। वह कभी बंधन में नहीं पड़ता। ब्रह्म में व्यावहारिक विभागों का भी पूर्णत अभाव है[९]। ब्रह्म एक ही है परन्तु अनेकाकार सृष्ट पदार्थों का कारण है। उसके अतिरिक्त संसार के पदार्थों का कोई कारण भी नहीं है। किन्तु ब्रह्म स्वयं ही कार्य और कारण भावों से रहित है[१०]। ब्रह्म में किसी प्रकार का विकल्प नहीं हैं। उसका कभी नाश नहीं होता। ब्रह्म क्षर और अक्षर भावों से भी रहित है। ब्रह्म को नित्य अव्यय आनन्द स्वरूप और निर्लेप कहा गया है[११]। ब्रह्म सत स्वरूप है, अत ब्रह्म अभावरूप नहीं है। वह सुवर्ण के समान शुद्ध है। जिस प्रकार एक ही सुवर्ण राशि से अनेक नाम रूप वाले आभूषणों का निर्माण होता है उसी प्रकार ब्रह्म में नाना विध सृष्ट पदार्थों की स्थिति है। किन्तु भ्रम वश मनुष्य उन आभूषणों को एक सुवर्ण रूप न कह कर अनेक नाम और रूपों द्वारा अभिहित करता है। इसी प्रकार व्यवहार में भ्रम वश ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान न रह कर अनेक पदार्थों में नाम रूपों का आभास होता है[१२]। ब्रह्म स्वरूप से पर और कुछ नहीं है। वह अव्यक्त प्रकृति से भी परे है। ब्रह्म एक रस और सबका अन्तरात्मा है। ब्रह्म अनन्त, अव्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप है[१३]।

---

८ जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशनविहीनमव्ययम् ।
विश्वसृष्ट्यवनघातकारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२५९।

९ अस्तभेदमनपास्तलक्षणं निस्तरङ्गजलराशिनिश्चलम् ।
नित्यमुक्तमविभक्तमूर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२६०।

१० एकमेव सदनेककारणं कारणान्तरनिरासकारणम् ।
कार्यकारणविलक्षणं स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२६१।

विवेकचूडामणि।

११ निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं यत्क्षराक्षरविलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२६२।

१२ यद्विभाति सदनेकधा भ्रमान्नामरूपगुणविक्रियात्मना ।
हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२५३।

१३ यच्चकास्त्यनपरं परात्परं प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।२६४।

विवेकचूडामणि।

अब हम संत काव्य में ब्रह्म के स्वरूप का अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम ब्रह्म की कारण रूपता पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में हम संत काव्य में देखते हैं कि ब्रह्म की सृष्टि कारण रूपता इस प्रकार है —

१ एक कुम्भकार के समान ब्रह्म जगत का कारण है।

२ ब्रह्म एक ऐन्द्रजालिक के समान जगत का कारण है।

ब्रह्म ही माया द्वारा एक से अनेक रूप हो गया है।

४ ब्रह्म ने जगत की सृष्टि तो की है किन्तु ब्रह्म की कारण रूपता प्रत्यक्ष नहीं है केवल जगत रूपी कार्य ही प्रत्यक्ष है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर हम संत काव्य में ब्रह्म स्वरूप का निरूपण करेंगे। संत कबीरदास मानते हैं कि जिस प्रकार कुम्हार पात्रों का निर्माण करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने ही स्वरूप से अनेक प्रकार की सृष्टि करता है। अनेकरूप सृष्टि करने पर ब्रह्म के स्वरूप में विषमता नहीं आती। सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य से पृथक नहीं होता है तो भी प्रतिबिम्ब सूर्य का रूप नहीं होता। सूर्य के अस्तित्व से ही प्रतिबिम्ब का भी अस्तित्व रहता है। इसी प्रकार अनेकविध सृष्टि ब्रह्म का कार्य है। किन्तु ब्रह्म स्वतः कार्य से पृथक है उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य प्रतिबिम्ब से पृथक है। सृष्टि-कार्य ब्रह्म अधिष्ठान पर उसी प्रकार अधिष्ठित है जिस प्रकार सूर्य के अस्तित्व से ही प्रतिबिम्ब का अस्तित्व रहता है। संत कबीर ने उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्म को जगत का निमित्त और उपादान कारण स्वीकार किया है। सृष्टि वस्तुतः एक चित्र के समान है। यह चित्र रूपी सृष्टि ब्रह्म-कारण का कार्य ही है। परन्तु यह चित्र कार्य होने के कारण नाश और परिवर्तन को प्राप्त होता है। इस चित्र का सूत्रधार ब्रह्म ही है जो एक नित्य सत्य है। इस प्रकार सन्त कबीर के ब्रह्म सम्बन्धी इन विचारों में विवर्त भावना की संभावना है। विवर्त सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य तत्त्व है और समस्त कार्य जगत का अधिष्ठान होते हुए भी कार्य के दोषों अथवा विकारों से मुक्त रहता है।[14] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म के कारण और कार्यरूपता में अभेद

---

१४ आपन करता भये कुलाला, बहु विधि सृष्टि रची दर हाला।
विधिना कुंभ किये द्वै थाना। प्रतिबिंबता माहि समाना।
जिन यहु चित्र बनाइया सो साचा सूत धार।
कहै कबीर ते जन भले जे चित्रवत लेहि विचार॥

—कबीर ग्रन्थावली। रमैनी।

है। ऊपर दिये हुए सूय और निम्न के दृष्टान्त स काय और कारण की अभिन्नता स्पष्ट है।

सत दादू दयाल के अनुसार ब्रह्म जगत कारण है। जिस प्रकार कुम्हार अनेक प्रकार के घटादि का कारण है उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूपात्मक सृष्टि का कारण है। सत दादू दयाल ने भी ब्रह्म से सृष्टि होना कहा है। सृष्टि रचना के लिए ब्रह्म को अन्य साधन अथवा उपादान की आवश्यकता नही पड़ती वरन ब्रह्म के स्वरूप का ही जगतकायरूप मे विकास हुआ है। सृष्टि स्थिति और प्रलय का अधिष्ठान भी ब्रह्म है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म सृष्टि रचना करके सृष्टि से पृथक हो जाता है तो अनुचित होगा क्योकि किसी पृथक तत्व से सृष्टि का निर्माण नही हुआ। ब्रह्म से ही जगत की रचना हुई है। ब्रह्म ही उस सृष्टि का अधिष्ठान है और वही उसका प्रलय कर्ता है। सत दादू दयाल का मत है कि ब्रह्म अपने स्वरूप स जगत की रचना करता है और स्वय ही उसका द्रष्टा होता है। सृष्टि एक बाजी अथवा खेल कौतुक या लीला मात्र है। जिस प्रकार खेल और कौतुक का प्रयोजन केवल आनन्द या मनोरजन होता है उसी प्रकार सृष्टि, ब्रह्म के आनन्द की अभिव्यक्ति मनोरजन आदि के लिए होते हैं। सृष्टि का पारमार्थिक रूप नित्य नही है। यहा भी काय और कारण की अभेदरूपता स्वीकृत की गई है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक का कौतुक इन्द्रजाल है अथवा कौतुक ऐन्द्रजालिक स पृथक नही है और कौतुक के समाप्त होने पर प्रत्यक्ष कौतुक का अन्तर्भाव ऐन्द्रजालिक म ही हो जाता है उसी प्रकार जगत्काय का अन्तर्भाव ब्रह्म कारण म हो जाता है। सन्त दादू दयाल के अनुसार सृष्टि की उपादान रूपता अथवा कायरूपता परमाभास रहा है। फिर भी काय की उपलब्धि होती है। किन्तु जिस काय की उपलब्धि होती है उसका रूप अनित्य है। अत ब्रह्म की निमित्त कारण रूपता का हम प्रत्यक्ष तो नही करते फिर भी अनेक रूप काय एक ही निमित्त कारण स उत्पन्न होते है। सन्त दादू दयाल ने इसीलिए निमित्त कारण रूप ब्रह्म को अप्रत्यक्ष कहा है[१५]।

१५ निरजन हार थै सब हार।
उतपति करनै कर आरै दूसर नाना कय।
आप है दुलार करता बूझ थै सब लाइ।
आप करि अगोत्र बठा दुनी मन को मोह।
आप थ उपाए बाजी निरपि देख सा।
बाजीगर कौ यहु भेद आवै सहज सान समाइ॥ —दादू दयाल की बानी।

संत जगजीवन साहब के शब्दों में भी ब्रह्म की अभिन्न निमित्त और उपादान कारण-रूपता स्पष्ट है। इनका कथन है कि ब्रह्म रूपी कुम्हार भांडों की रचना कर रहा है। यह ब्रह्म रूपी कुम्हार अनन्त स्वरूप है। इसकी सृष्टि अनेक विचित्रताओं से पूर्ण है। वह अग्नि प्रज्ज्वलित करके उससे जल निकालता है। वह अनेक प्रकार के रंगों से सुन्दर पदार्थों का शृंगार करता है। ब्रह्म ही पवन का रूप है वही वायु से शब्द उत्पन्न करता है। किन्तु ब्रह्म स्वतः ही पवन का रूप है और स्वयं ही उस पवन से वाद्य ध्वनि उत्पन्न करता है। वह ब्रह्म समस्त पदार्थों में व्याप्त है। किन्तु सबमें व्याप्त रहते हुए भी वह किसी पदार्थ का रूप नहीं है। ब्रह्म निमित्त कारण है और अनेक पदार्थों की सत्ता की उत्पत्ति करता है। किन्तु कारण से उत्पन्न विनाशशील कार्य का वह अंग नहीं है। समस्त सृष्टि के पदार्थों में अनित्यता प्रत्यक्ष होती है। किन्तु ब्रह्म नित्य है। अतः ब्रह्म कार्य का रूप नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त बिना ब्रह्म कारण के कार्य होने की संभावना भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म कार्य का अनित्य स्वरूप नहीं है तो भी कार्य की ब्रह्म से पृथक सत्ता भी नहीं है। इसी हेतु संत जगजीवन साहब के अनुसार पवन स्वरूप ब्रह्म ही वह यंत्र है जिसमें ध्वनि का विस्फुरण होता है और ब्रह्म स्वतः उस यंत्र का वादक है। समस्त सृष्ट कार्यों का वह कारण है किन्तु कार्य की सीमाओं में ब्रह्म का अनन्त स्वरूप बाँधा नहीं जा सकता। इनके सिद्धांत में ब्रह्म का इस पदार्थ जगत के साथ खेलना माना गया है। खेलना शब्द जगत व्यवहार की अनित्यता का सूचक है। किन्तु ब्रह्म जगत व्यवहार में न्यारा भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता ही नित्य है। व्यवहार का अधिष्ठाता होते हुए भी ब्रह्म अनित्य व्यवहार का अंग नहीं हो सकता। इस प्रकार संत जगजीवन साहब के अनुसार भी ब्रह्म में जगत की कार्य रूपता का विवर्त रूप ही उपलब्ध होता है।

संत कबीर दास के अनुसार ब्रह्म ने सत्व रज और तमोगुण से सृष्टि की रचना की है। सृष्टि की रचना ब्रह्म ने आत्मस्वरूप से की है और सृष्ट पदार्थों

१. साधो इक आपन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अन्त न पावा रूप सिरजनहार।
अग्नि उठाय निकासत पानी रचि रचि रूप सवार।
पवन मध्य लइ बाजहि आपहि आप बजावनहार।
जगजीवन साहब सब मन्दिर साधु सब ते न्यार।
जगजीवन साहब की शब्दावली। भाग २। शब्द ८।

के बीच में अपने को छिपा लिया है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है एवं अनेकविध सृष्टि का विस्तार एक वृक्ष के अनेक पल्लवों के समान हो गया है। किन्तु वस्तुतः यह विस्तार स्वरूप संसार ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। इस संसार के अनेक प्रकार के भोगों और सुखों का अधिष्ठान यद्यपि ब्रह्म है तो भी ब्रह्म की स्थिति इनमें नहीं है। ब्रह्म इन अनेकरूप सृष्ट पदार्थों से पृथक है। ब्रह्म को संसार की कार्यरूपता स्पर्श नहीं करती। उसने संसार की रचना अपने स्वरूप से ही की है और सृष्टि की रचना करके वह स्वयं भी अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है। संत कबीर ने यहाँ पर ब्रह्म में विवर्त रूप में माया की स्थिति स्वीकार की है। यद्यपि ब्रह्म समस्त कार्य जगत का कारण है तो भी कार्य के विकारों द्वारा दूषित नहीं किया जाता[१७]। ब्रह्म में हम विवर्त भावना की सम्भावना यहाँ करते हैं। यद्यपि ब्रह्म को ही सृष्टि का कारण कहा गया है किन्तु सृष्टि की अनेक रूप कार्यात्मक सत्ता ब्रह्म में कोई क्रिया स्पष्टता नहीं लाती। वस्तुतः ब्रह्म अथवा आत्मा में पारमार्थिक रूप में क्रिया का अभाव है। अतः निर्गुण संत भी आचार्य शङ्कर के अनुरूप ही ब्रह्म में सृष्टि का विवर्त मानते हैं। ब्रह्म अविकारी है। यदि उसमें क्रिया का आविर्भाव हो तो वह विकारी हो जायगा। किन्तु सृष्टि का रचयिता तो ब्रह्म ही है। अतः यहाँ ब्रह्म स्वरूप के दोनों पक्षों की रक्षा की गई है। एक तो यह कि ब्रह्म ही जगत्कारण है और दूसरे जगत्कार्य से ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं भी है।

संत दादू के अनुसार जिस प्रकार एक स्वर्ण खण्ड से अनेक प्रकार के आभूषणों का निर्माण होता है उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म से अनेक रूप पदार्थ जगत का निर्माण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण खण्ड से बनाये हुए अलंकार में आदि अन्त और मध्य में स्वर्ण रहता है उसी प्रकार जगत-सृष्टि सर्वदा ब्रह्म स्वरूप ही रहती है। किन्तु अज्ञानी मनुष्य स्वर्ण की एकरूपता को विस्मृत

---

१७ कहन सुनन की जिहि जग कीन्हा, जग भुलान सो किनहूं न चीन्हा।
सत रज तम थें कीन्ही माया, आपण मंझे आप छिपाया।
तै तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा।
साखा अनेक कथ्या नहीं जाई, किया चरित सो इनमें नाहीं।
तै तौ आहि निनार निरंजना, आदि अनादि न आन।
कहन सुनन को कीन्ह जग, आपै आप भुलान।
जिनि नट वे नटसारी साजी जो खेल सो दीसै बाजी।
—कबीर ग्रन्थावली। रमैणी रमैणी। २ ५, २२६ २२७।

करके व्यवहार के अनुकूल अनेकों को विविध नाम रूप दे देता है[१८]। अतः ब्रह्म भी अनेकविध सृष्टि का अधिष्ठान है। स्वर्ण रूपी कारण से अनेकानेक कार्य अनेक रूपों में परिवर्तित होते हैं। जो भी आभूषण के टूट जाने पर जिस प्रकार स्वर्ण मूलतः स्वर्ण रूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार नाना नाम रूपात्मक कार्यों के अभाव में भी निमित्त कारण ब्रह्म एक रूप रहता है। सन्त रैदास ने भी कहा है कि ब्रह्म बाजीगर के समान सृष्टि की रचना कर रहा है। किन्तु सृष्टि रूप में ब्रह्म द्वारा की गई कौतुक क्रीड़ा के मर्म को कोई नहीं जानता। वस्तुतः यह बाजी अथवा सृष्टि मिथ्या है किन्तु बाजीगर अर्थात् ब्रह्म सत्य है[१९]।

निर्गुण मत के सन्तों ने कार्य और कारण रूप ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार किया है[२०]। समस्त जगत् अथवा संसार बाजीगर ब्रह्म द्वारा ही प्रतिबिम्बित है। बाजीगर ब्रह्म अपने कार्य रूपी जगत् का स्वयं ही द्रष्टा है[२१]। वस्तुतः इन सन्तों का भी कार्य और कारण का अभेद अभिप्रेत है। यहाँ भी बाजीगर और बाजी के रूपक द्वारा जगत् की विवर्त रूपता मानी गई है। सन्त नानक साहब और उनके मतानुयायियों ने इस प्रकार सृष्टि और ब्रह्म के अभेद और विवर्त स्वरूप का उल्लेख किया है।

सन्त दादू दयाल के अनुसार निमित्त कारण ब्रह्म सृष्टि-कार्य करके अप्रत्यक्ष हो गया है। माया का आवरण पड़ जाने के कारण ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता प्रत्युत मायिक पदार्थ ही प्रत्यक्ष होते रहते हैं। इसी कारण ब्रह्म के अस्तित्व का भान नहीं हो पाता। आत्मस्वरूप से ही ब्रह्म ने सृष्टि की

---

१८ आदिहु एक अन्त पुनि सोई मध्य उपाइ जु कैसे।
   अहै एक पै भ्रम सद्भो कनक अनूप जैसे। —रैदास की बानी। शब्द ४४।

१९ बाजीगर सो राचि रहा बाजी का मरम न जाना।
   बाजी मूठ साच बाजीगर, जाना मन पतियाना॥ —रैदास की बानी। शब्द १०।

२० करता कारण प्रभु एकु है
   दूसर नाही कोइ।
   नानक तिस बलिहारणै
   जलि थलि महि अलि सोइ। —सुन्दर गुटका। सुखमनी साहब।

२१ बाजीगर डंक बजाई।
   सब खलक तमासे आई॥
   बाजीगर स्वांगु सकेला।
   अपने रंग रवै अकेला।
   —सोरठा आसा दी वार। रागु सोरठि कबीर जी। सुन्दर गुटका।

रचना की है। रजोगुण से सृष्टि की रचना, सतोगुण से पालन और तमोगुण से उसका विनाश करता ब्रह्म की त्रिविध कार्य सभी संत दादूदयाल भी मानते हैं कि सृष्टि मायावी की माया के समान मिथ्या है[२२]। अपने ही आत्म स्वरूप से ब्रह्म ने इस मायात्मक सृष्टि का विस्तार किया है। अपनी माया से ही मायावी ने अपने को आच्छादित कर लिया है। नाम रूप में व्यक्त अनेक नाम रूपात्मक प्रपंच जगत की सत्ता ने ब्रह्म रूपी मायावी को छिपा लिया है किन्तु जब मायावी प्रकाश में आ जाता है तब यह ज्ञान होता है कि सृष्टि मिथ्या है और सृष्टि मायावी का कौतुक मात्र है[२३]।

संत सुन्दरदास के मत में भी सृष्टि की रचना करके ब्रह्म सृष्ट-कार्यों में समाहित हो जाता है[२४]। किन्तु समस्त सृष्टि कार्यों में व्याप्त होकर भी ब्रह्म उनसे पृथक है। जिस प्रकार जल और तरंग में अभेद है उसी प्रकार ब्रह्म की निमित्त कारण रूपता और उपादान कारण रूपता में अभिन्नता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाँच इन भूतों और सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से सृष्टि हुई है। किन्तु इन सभी तत्वों का अधिष्ठान ब्रह्म है। जिस प्रकार एक बीज से एक विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार एक ब्रह्म से अनेकविध सृष्टि की रचना होती है। संत सुन्दरदास के अनुसार भी सृष्टि

---

२२ बाजी चिहर रचाइ करि रह्या अपरछन होइ।
माया पट पड़दा दिया तातैं लखै न कोइ ॥ माया कौ अंग। दादू दयाल की बानी। २।
ऐसा किया घाट घटि मांहि आप उपाइ।
हिकमत हुनर कारीगरी, दादू लखी न जाइ।
समर्थाई कौ अंग। —दादू दयाल की बानी।३५।
राजस करि उतपति करै सातक करि प्रतिपाल।
तामस करि परलै करै निर्गुण कौतिगहार। साषीभूत कौ अंग।
—दादू दयाल की बानी।३७।

२३ भाई रे बाजीगर नट षेला ऐसैं आपैं रहै अकेला।
यहु बाजीगर षेल पसारा सब मोहे कौतिग हारा।
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा। —सुन्दर ग्रन्थावली। शब्द। ३६।

२४ बाजी कौन रची मेरे प्यारे।
आपु गोपि ह्वै रहे गुसाईं जग सबही तैं न्यारे।
कोई जानि सकै नहि तुमको हुनर बहुत तुम्हारे।
अगाध अति अगम अगोचर चारौ वेद पुकारे। सुन्दर ग्रन्थावली भाग। २। ९८।

ब्रह्म का विवर्त रूप है[२५]।

सन्त सुन्दरदास की मान्यता है कि निरञ्जनदेव ब्रह्म का स्वरूप अलौकिक है। ब्रह्म का अनन्त स्वरूप मन की सीमाओं में नहीं समा सकता। सन्त सुन्दरदास ने ब्रह्म की धारणा अथवा भावना के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक नहीं कहा है[२६]।

सन्त धरनीदास के मत में भी एक ब्रह्म ही सत्य है[२७]।

सन्त चरनदास के अनुसार ब्रह्म के एक अंश से अनन्त नाम रूपात्मक सृष्टि हुई है। समस्त पंचतत्वों की रचना का कारण ब्रह्म है। चन्द्र, सूर्य, विष्णु आदि सब ब्रह्म के स्वरूप से ही उत्पन्न हुए हैं। सत रज और तम गुण की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है और प्रलय काल में उसके स्वरूप में समस्त सृष्ट पदार्थ एवं तत्व समाहित हो जाते हैं[२८]। वस्तुतः ब्रह्म रूप रहित है तो भी व्यवहार में उसके अनेक रूप हैं। इस अवस्था में उसके स्वरूप का कथन कैसे किया जा सकता है। समस्त पदार्थों में स्थित होते हुए भी वह उन सब से पृथक है। इस प्रकार सन्त चरनदास के ब्रह्म सिद्धान्त पर भी विवर्त भावना का प्रभाव स्पष्ट है[२९]।

सन्त पलटू साहब के अनुसार ब्रह्म नट के समान सृष्टि द्वारा अनेक तमाशों का प्रदर्शक है। वह सृष्टि-रचना करके स्वयं ही उसको देखता है।

---

२५ दादू एक है गोविन्द।
जो सत्य विचारिये तो सबै एकै सोइ।
घन स्वरूप [illegible] की वस्तु है सुन्दर।
[illegible] नाहि [illegible] की [illegible]। —सुन्दर ग्रन्थावली। भा०। २।
२६ साँच तू निरंजन [illegible] मन न आवै। —सुन्दरदास की बानी। कवित्त। ८।
२७ ठाकुर एकै है [illegible] होय।
[illegible] —धरनी दास की बानी। शब्द।
२८ तुम बहुत रूप नाना।
तू ही एक अनेक भया है भिन्न नाना भिन्न रूपे।
रवि शशि विष्णु [illegible] तू ही ब्रह्मा चतुर [illegible]।
तू आकाश पवन अरु पावक तू धरनी तू पानी।
[illegible] —भक्ति सागर। शब्द।
२९ [illegible] कोई कैसे स्वरूप कहै।
[illegible] अनूप रहै।
[illegible] —भक्ति सागर।

इस भावना का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य दृश्य अथवा द्रष्टा तत्व नहीं है। यह सृष्टि वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूपभूत अंश ही है[१०]।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निश्चित करते हैं कि सन्त कबीरदास और सन्त दादूदयाल ने ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता का प्रतिपादन किया है। इनके प्रतिपादन में कुम्भकार का दृष्टान्त दिया गया है। सन्त कबीरदास, सन्त रैदास, सन्त दादू दयाल, सन्त नानक साहब, सन्त सुन्दरदास, सन्त चरनदास और सन्त पलटू साहब के मतों में ब्रह्म के स्वरूप में विवर्त भावना का प्रभाव स्पष्ट है तथा कार्य और कारण की अभिन्नता सभी सन्तों का प्रतिपाद्य विषय रहा है।

अब हम निर्गुण काव्य में सगुण ब्रह्म के स्वरूप और अवतार भावना का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

हम आचार्य शङ्कर का ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कह चुके हैं कि उन्होंने गीता भाष्य के अतिरिक्त अन्य भाष्यों में ब्रह्म के अवतार लेने का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। इस बात का लक्ष्य यह है कि आचार्य शङ्कर यद्यपि ब्रह्म के सगुण रूप को अस्वीकार नहीं करते किन्तु यह उनका प्रतिपाद्य नहीं है। इस सम्बन्ध में हम आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप प्रकरण में सोदाहरण उल्लेख कर चुके हैं। अब हम इसी परिप्रेक्ष्य में सन्त काव्य का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

सन्त कबीर दास ने भक्त प्रह्लाद का चरित्र वर्णन करते हुए भक्त की रक्षा के लिए खम्भ से नृसिंह का प्रकट होना कहा है[११]।

सुन्दर गुटका कीरतनी आसो दी वार में कृष्ण और गोपियों के प्रेम का

---

१० चारि खानि औ भुवन चतुर्दस लख चौरासी बासा है।
नटवा होइ कै बाजी लाया आपुहि देखन हारा है॥
—पलटू साहब की बानी। भाग ३। शब्द ६।

११ प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीये बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल मेरी पाटी लिखि दे श्री गोपाल॥
मोहि कहा डरावै बार बार जिनि जल थल गिर को कियो प्रहार।
तब काढि खड़ग कोप्यो रिसाइ तोहि राखन हारो मोहि बताइ॥
खंभा में प्रगट्यो गिलारि हरनाकस मारयौ नख बिदारि।
महापुरुष देवाधि देव नरसिंघ प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार प्रह्लाद उबारयो अनेक बार।—कबीर ग्रन्थावली। पद ३७६।

उल्लेख किया गया है[32]।

सन्त दादू दयाल ने भी श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप की वन्दना की है। उन्होंने कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप को स्वीकार किया है[33]।

सन्त गरीबदास ने चतुर्भुज विष्णु के स्वरूप का वर्णन किया है। प्रह्लाद की रक्षा, कंस का संहार, राम के द्वारा रावण कुम्भकरण का संहार आदि उल्लेख सन्त गरीब दास की अवतार भावना में दृढ़ निष्ठा के परिचायक हैं[34]।

सन्त चरनदास ने भक्तवत्सल साधु और ऋषियों की रक्षा, भूमि का भार उतारने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान का निर्गुण से सगुण होना कहा है। नन्द के घर में कौतुक करने वाले कृष्ण की भक्ति के उदाहरण भी सन्त चरनदास के काव्य में मिलते हैं[35]।

---

३२ रामलालु दवा महि पुत्र नार राइण पराद्रत जहि।
जुग महि [illegible] दली चन्द्रावलि कान्ह कृसुनजादव भइया।
पारजातु गोपी ले आइया बिन्द्राबन महि रंगु कीया।
—सुन्दर गुटका। कीरत श्री आसा की वार

३३ मुनि वन्दि स्वामी तू [illegible] तरणामी तेरा [illegible] सुनावै राम जी।
धेनु चरावन बेनु बजावन, दरस दिखावन कामिनी।
बिरह उपावन तपनि बुझावन अंगि लगावन भामिनी।
[illegible] गोपी भावन भूधरं।
दादू [illegible] दुरित निवारण [illegible] साधारण राम जी।
—दादू दयाल की बानी। शब्द ४२४।

३४ सेत छत्र सिर मुकुट मनोहर [illegible] सुरमा [illegible]।
[illegible] गरीबदास बानी। [illegible]
हिरनाकुश [illegible] प्रह्लाद [illegible]।
[illegible] गरीबदास की बानी।
कुम्भकरण [illegible] राम [illegible] सुदमाने नारा।
[illegible] निरगुन [illegible]। रावन [illegible] रे सत [illegible] गुसाला।
[illegible] —गरीबदास की बानी।

३५ नन्द घर कौतुक करत कन्हाई।
[illegible] धरि [illegible]।
रक्षा कारण साधु ऋषिन की भूमि उतारण भार।
[illegible] होत सहाई।
मर्यादा पुरुषोत्तम [illegible] सबै बनाई॥
निर्गुण सो सरगुण वपु धारे कष्ट निवारण काजै।
योगेश्वर जेहि ध्यान लगावैं नाम लिए अघ भाजै॥ भक्ति सागर। [illegible] वर्णन।

सन्त जगजीवन साहब ने भी रावण का संहार और विभीषण की रक्षा, कंस का संहार और हिरण्यकश्यपु का वध भगवान के द्वारा होता कहा है[३६]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने अवतार भावना का विरोध नहीं किया है। किन्तु यह उनकी उपासना का एकमात्र प्रतिपाद्य नहीं है। संतों का लक्ष्य तो निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करना है। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। संतों ने अवतार भावना का आश्रय भक्ति सम्बन्धी रचना में ही लिया है। इस सम्बन्ध में श्री विचार दास जी का मत है कि परम्पराभुक्ति के साधन सात्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दानादिकों की रचना उन्होंने कहीं पर नहीं लिखी है किन्तु धर्म ध्वजी पाखण्डियों के द्वारा की हुई इनकी दुरुपयोगिता का ही खण्डन किया गया है। ये विचार संत कबीरदास की अवतार भावना के सम्बन्ध में प्रकट किए गए हैं। किन्तु इन विचारों को हम अन्य संतों के सम्बन्ध में भी लागू करेंगे। हम श्री विचार दास के विचारों से सहमत हैं[३७]।

अब हम संत काव्य में निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

गोरखनाथ के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप में मायिक व्यवहारों का अभाव है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप में सूर्य का उदय व अस्त नहीं होता है। ब्रह्म समस्त स्थावर और जंगम तत्वों का आधार है किन्तु ब्रह्म की न उनमें स्थिति है और न ब्रह्म उनसे भिन्न ही है। ब्रह्म न किसी पदार्थ के अंदर है और न बाहर। सूर्य और ब्रह्मा उसकी खोज करते रहे किन्तु ब्रह्म का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि वे उसको पा न सके। ब्रह्म के निकट मन तो क्या वायु तक नहीं पहुंच सकती। ब्रह्म वस्तुतः एक है। उसमें सृष्टि की अनेक रूप पदार्थ सत्ता की स्थिति है अथवा जो अनंत रूप पदार्थ सत्ता दृष्टिगोचर होती है उसमें एक ब्रह्म की स्थिति है। अनुभव द्वारा अन्तर्दृष्टि से देखने पर अनंत

---

३६ गर्व गुमान कीन्ह जब रावन मारि कियो घमसान।
विभीषन जब दीन भयो है ताहि कियो परधान।
दीन तें कंस महाबल भयऊ तबहिं गर्व मन आन।
केस पकरि कै तिनका मारयो सो सब जग जान।
हिरनाकश्यप दीन भयो तब दीन्हो सब बरदान।
जगजीवनदास नाम भजु अन्तर चरन कमल धरि ध्यान।
—जगजीवन साहब की शब्दावली। भाग। २ शब्द। ६२।

३७ कबीर बीजक की भूमिका।

रूप जगत्-कार्य एक ब्रह्म में ही समाया हुआ दिखाई देता है[३८]।

सन्त कबीर दास के मतानुसार 'निर्गुण राम' मानसिक चिन्तन द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि मन स्वतः विकारी है और गुणों के संयोग से मन का स्वरूप बनता है। अतः निर्विकार एवं निर्गुण ब्रह्म को विकारयुक्त मन और वाणी प्राप्त नहीं कर सकते। निर्गुण ब्रह्म नित्य है और जगत के व्यवहार अनित्य हैं अतः अनित्य व्यवहारों से नित्य ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जा सकता। आगम और निगम व्यावहारिक ज्ञान के ही स्रोत हैं। अतः अन्तर्बाह्य ब्रह्म स्वरूप उनके द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता। सन्त कबीर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म जीव एवं जगत में भेद नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही अद्वैत सत्य है क्योंकि क्रियात्मक विकारों का उसमें अभाव है।

निर्गुण ब्रह्म माया से रहित है। उसकी प्राप्ति दुःसाध्य है क्योंकि प्राप्ति किसी आकार, रूप या नाम की ही हो सकती है। निर्गुण ब्रह्म में नाम रूपों का अभाव है। अतः सन्त उसके स्वरूप को मन वाणी द्वारा उपलब्ध होने योग्य नहीं मानते।

सन्त कबीर दास के अनुसार शिव या शंकर जैसे साधक भी निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते। इन्द्र और ब्रह्मा उसको नहीं जान सकते। वह राम ज्ञान गम्य से सर्वथा पृथक अद्वैत और अनिर्वचनीय है[३९]। सन्त कबीरदास ब्रह्म को चिन्तन के क्षेत्र से भी बाहर मानते हैं। निर्गुण ब्रह्म सन्त कबीरदास की साधना का लक्ष्य है। वह सर्वव्यापी है और स्वयं सृष्टि-पदार्थों के रूप में प्रकट नहीं है। तो भी समस्त पदार्थ उसकी सत्ता को व्यक्त करते हैं। माया के व्यवहारों में वह छिपा रहता है एवं विवेक द्वारा उसकी सत्तानुभूति

३८ उदै न अस्त राति न दिन मध्ये सचराचर भाव न भिन्न।
ना निरंजन डाल न मूल न, व्यापी सुक्ष्म न अस्थूल। —गोरख बानी। सबदी ।।११२।
बाहर न भीतर नेड़ा न दूरि। खोजत रहै ब्रह्मा अरु सूरि। सबदी ।।१४।
मन पवन का गम नहीं तहाँ रहै सो गोरख लाल। —गोरखबानी सबदी। २०५।
एक में अनन्त अनन्त में एकै अनन्त अपार।
अपार एक भी परचा हुवा तब अनन्त एक में स्माना। —गोरखबानी। पद ।।४।
३९ सिनक सिव सुकर गन ऊठि
गन गम्यारि कहहू नर्हि छूटि
अपने काज कहूँ किनहू आन, गये इन्द्र से भ्रान्ति समान।
अगम गति परयो बाहिरान कहै कबीर वै राम निरान।
—कबीर ग्रन्थावली। पदावली। पद। ३५।

होती है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। उसके स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता है। वह निराकार ब्रह्म आत्मा रूप में समस्त इन्द्रियों का आश्रय है। शास्त्र और विद्या एवं वाद विवाद द्वारा ब्रह्म का निर्णय एवं कथन नहीं हो सकता।

संत कबीर का निर्गुण राम वस्तुतः शङ्कर का निरुपाधिक ब्रह्म है। इस स्वरूप में कार्य कारण भेद नहीं है। जीव जगत् और प्रकृति सब उसी में अन्तर्निहित हैं। त्रिगुणात्मक आकारों में व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर उस ब्रह्म के ही रूप हैं[40]।

सभी संत और कबीरदास निर्गुण ब्रह्म को ही सत्त्व, रज और तम इन गुणों का अधिष्ठान मानते हैं। उनके अनुसार अकथनीय ब्रह्म में ही उपाधि का कथन और आरोप होता है[41]। समष्टि और व्यष्टि सामान्य और विशेष दोनों ही उसके स्वरूप को व्यक्त नहीं करते क्योंकि यावत निदर्शन वाणी का विकारमात्र है। निर्गुण ब्रह्म भाव और अभाव से रहित है। निर्गुण

---

४० अकथन कथन ए माथो सो सब माहि समाना।
प्रगट गुप्त पुनि प्रगट सो कत रहै लुकाइ।
कबीर परमानन्द मनाये अकथ कथ्यो नहि जाइ।
—कबीर ग्रन्थावली। पदावली। पद १६।
सो कछु विचारहु पंडित लोई।
जाके रूप न रेख बरण नहीं कोई।
कहै कबीर मन मनहि समाना, तब आगम निगम झूठ करि जाना।।
—कबीर ग्रन्थावली। पद १७।
अवगति की गति लखी न जाई।
कहै कबीर ताके भेद नाहीं निज जन पहे हरि की छाडो। कबीर ग्रन्थावली। पद ४६।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत गुन हरि है सोई। —कबीर ग्रन्थावली। पद ५७।
४१ ब्रह्मा न उपजे उपज्या नहीं जाणै भाव अभाव बिहूना।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं सहज राम ल्यौ लाना।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है बाट छाडि क्यूं बहिये।
अजरा अमर कहै सब कोई अलख न कथ्या जाई।
नाति स्वरूप वरण नहि जाके घटि घटि रह्यो समाई।
प्यंड ब्रह्माण्ड कहै सब कोई वाके आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई।।१२।।
बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत नसाई।
बोलत बोलत बढ़ै विकारा बिन बोल्या क्यूं होई विचारा।।६७।।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय उपनिषद्।।६।
कबीर ग्रन्थावली।१७६ पद।

स्वरूप में व्यवहारों का अभाव है। उसके स्वरूप में उदय अस्त सूर्य और चन्द्र आदि पाँच भौतिक विकार नहीं होते। ब्रह्म की अनिर्वचनीयता के विषय में संत कबीरदास का मत है कि वाणी या विचार उस निर्गुण ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकते। उसके स्वरूप को समझने के लिए वाणी और विचार सहायक मात्र हैं। ब्रह्म के स्वरूप में कोई लक्षण नहीं है। यह निर्गुण एवं अनिर्वचनीय ब्रह्म अवतारी नहीं होता[४२]। ब्रह्म अनादि है। वह प्रकृति अथवा माया का अधिष्ठान है किन्तु उसके गुणों और विकारों से वह विकृत नहीं होता। आकार और विकार अनित्य किन्तु ब्रह्म नित्य है। संसार की पदार्थ, सत्ता के नाम रूप परिवर्तनशील हैं। परन्तु वह आधार जिसमें ये सब पदार्थ और तत्व क्रियाशील होते हैं कूटस्थ ब्रह्म है।

संत कबीरदास का निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में कथन है कि ब्रह्म हमारे कहने मात्र से ज्ञान का विषय नहीं होता। ब्रह्म जन्म नहीं लेता। अतः वह न भाव रूप है और न अभाव रूप है। मन और बुद्धि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके निर्गुण और सगुण रूप भी व्यावहारिक हैं। सगुण ब्रह्म भी निर्गुण का ही स्वरूप है क्योंकि गुणों का निमित्त और उपादान कारण एक ही ब्रह्म है। इसी प्रकार निर्गुण में सगुण की अवस्थिति है क्योंकि निर्गुण स्वरूप ही सभी कार्यों और पदार्थों का आदि कारण है। अनेक रूप तत्वों का मूल कारण एक ही अद्वितीय ब्रह्म है। इसी प्रकार सगुण में ही निर्गुण स्वरूप की अवस्थिति है। निर्गुण ब्रह्म ही चैतन्य रूप में जड़ पदार्थों और निमित्त एवं उपादानों में गतिशील रहता है। ब्रह्म अजर और अमर कहा जाता है। ब्रह्म अलख है। साधारण प्राणी, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा उसका लक्ष्य नहीं कर सकते। उसका कोई रूप नहीं है। कोई वर्ण नहीं है। यह निर्गुण ब्रह्म ही प्रत्येक प्राणी के हृदय में समाया हुआ है। क्योंकि हृदय में ही साधन द्वारा उसका ज्ञान होता है। ब्रह्म पिण्ड और ब्रह्माण्ड दो स्थानों में भिन्न भिन्न नहीं हो सकता। अर्थात जीव और ब्रह्म दोनों पृथक नहीं हो सकते। ब्रह्म के स्वरूप में पिण्ड और ब्रह्माण्ड का द्वैत वर्तमान नहीं है। वाणी द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। दशरथ के पुत्र राम की कथा वारों साकों में प्रचलित है परन्तु निर्गुण राम का रहस्य अवतार भावना में अप्रसिद्ध स्वरूपा

४२ ना जसरथ घर औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै लै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालनि के संग फिरिया गोवरधन लै न कर धरिया।
बावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लै न उधरिया। कबीर ग्रन्थावली ।।

से भिन्न है। देवकी के गर्भ से कृष्ण के रूप में निर्गुण ब्रह्म का जन्म नहीं होता। यशोदा ने निर्गुण ब्रह्म को गोद में नहीं खिलाया। गोपालों के साथ ब्रह्म ने विहार नहीं किया। यह और न गोवर्धन पर्वत को ही उठाया। वामन के रूप में निर्गुण ब्रह्म ने छल न किया और न धरती तथा वेदों का ही उद्धार किया। ब्रह्म न सूक्ष्म है और स्थूल। ब्रह्म की न उत्पत्ति ही होती है और न नाश ही। वाणी द्वारा जैसा कहा जाता है वस्तुतः उसका स्वरूप वैसा नहीं है। ब्रह्म जैसा है वैसा ही है। साधन प्रसूत अनुभव द्वारा ही वह जाना जा सकता है। ब्रह्म स्वरूप के कथन और श्रवण से केवल सुख मिलता है और परमार्थ स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान में सहायता मिलती है[४३]। निर्गुण ब्रह्म अवतारी नहीं होता।

सत्व रज और तम गुणों से व्यवहार का प्रवर्तन होता है। व्यावहारिक नाम रूपात्मक पदार्थ ही चिंतन के विषय हैं निर्गुण ब्रह्म नहीं। निराकार ब्रह्म उपासना का आश्रय भी नहीं हो सकता। ब्रह्म स्वयं ज्ञान का स्वरूप है।

सन्त रैदास ब्रह्म को अखिल कह कर सम्बोधित करते हैं। अखिल ब्रह्म सृष्टि आदि रूपों में विकसित नहीं होता। अपनी पारमार्थिक अवस्था में वह वर्णरहित है। सूर्य चन्द्र रात दिन ब्रह्म स्वरूप में अस्तित्व नहीं होते। कर्म और अकर्म द्वारा वह निर्गुण ब्रह्म बाधित नहीं होता। शीत और उष्णता अथवा प्राकृतिक विकार उसका स्पर्श तक नहीं करते। सन्त रैदास ने ब्रह्म को निरंजन निराकार निर्वैरी और निर्विकार कहा है। उसके अकथनीय स्वरूप में उसको निर्गुण और सगुण कुछ भी नहीं कह सकते। अद्वैत 'गोविन्द' माया विकारों से रहित है। ब्रह्म औपाधिक बुद्धि द्वारा जाना नहीं जा सकता। वह निर्गुण ब्रह्म सत्य स्वरूप है एवं जागतिक जीव ब्रह्म, जगत ब्रह्म आदि भेदों से शून्य है। निर्गुण ब्रह्म का वर्ण अवर्ण है। वह श्वेत कृष्ण वर्णों [redacted] रहित है। उसके स्वरूप में न कर्मों का संसर्ग है और

४३ अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई।
सुनि अस्थूल रूप नहिं रेखा। दिष्टि अदिष्टि छिप्यो नहीं पेखा।
बरन अबरन कथ्या नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई।
अपरंपार उपजै नहिं बिनसै। जुगति न जानिये कथिये कैसे।
जस कथिये तस होत नहिं जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै अरु परमारथ होइ।। कबीर ग्रन्थावली। रमैणी।

न अरूप का ही। यदि ब्रह्म को कर्म से युक्त माना जायगा तो वह विकारी होगा क्योंकि कर्म इन्द्रिय आदि के द्वारा होता है और निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियादि द्वारा उत्पन्न नहीं है। वह मरण-जन्म रहित और निर्विकार है। वह निर्गुण निराकार ब्रह्म कर्म नहीं करता, परन्तु उसमें अकर्म भी नहीं कहा जा सकता है, कर्मों से मुक्त है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ब्रह्म ही जड़ और चेतन पदार्थों का अधिष्ठान है और उन के सम्बन्ध से ही समस्त प्राणी चैतन्य का अनुभव करते हैं। ब्रह्म की चेतन शक्ति ही कर्म करती है। अतः वह अकर्मी भी नहीं है। ब्रह्म योग भोग और क्रिया से रहित है। किन्तु यह ब्रह्म ही सत् स्वरूप और सत्य है। ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप को वाणी और इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता है और न ग्रहण ही किया जा सकता है। अतः न हम ब्रह्म को निर्गुण ही कह सकते हैं और न सगुण ही। वह माया अथवा अविद्या जन्य विकारों से शुद्ध और नित्य है। उसका जन्म और नाश नहीं होता। अतः वह शाश्वत नित्य है। ब्रह्म निश्चल है, आकार रहित है, अद्वितीय और निर्भय है। सन्त दरिया ने ब्रह्म को अगम, दृष्टि का अविषय, तर्क द्वारा ग्रहीत न हो सकने वाला, निर्गुण और आनन्द स्वरूप कहा है[४४]।

सुन्दर गुम्फा, सुखमनी साहब में निर्गुण ब्रह्म के लिए नेति नेति शब्दों का व्यवहार किया गया है। निर्गुण ब्रह्म को वाणी और मन के व्यापार

४४ अदिन दिसै नहि को कहि दिन, कोइ न करै अनुमान।
अवरन बरन रूप नहि जा के कह लौ करौ बखान।
चन्द सूर नहि रात दिवस नहि धरनि अकाश न भान।
करम अकरम नहि सुभ असुभ नहि का कहि देउं दान।
सीत बायु उस्न नहि सरवत काम कुटिल नहि होन।
जोग न भोग क्रिया नहि जा के कहा नाम सत सान।
निरंजन निराकार निर्लेपी निरबीकार निसान।
काम कुमति दा कहि गावै हर हर आवै हान।
गगन धूर धूर नहि वा के, पवन पूर नहि पान।
गुन निर्गुन कहियत नहि जा के कहो तुम बात सयान॥ वैराग्य की बानी। ४।
निर्मल एक रस उपजै न बिनसै उदय अस्त दोउ नाहीं।
क्रिया बिगत घटै नहि कबहूं बसत बसै सब माहीं।
निरवन निराकार अज अनुपम निरभय गति गोविन्दा।
अगम अगोचर अक्षर अतरक निर्गुन अन्त आनन्दा॥३॥
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित निर्विकार अविनाशी।
कह दरिया सहज सुन मन निज मुख निधि कासी। ज्ञान की बानी। पृ० ५३।

प्रकट नहीं कर सकते[४४]।

संत दादू दयाल के अनुसार ब्रह्म माया के विकारों से निर्मित नहीं होता अतः यह निर्मल तत्व है। ब्रह्म निर्गुण है और उसमें औपाधिक दोष नहीं है। अतः यह निरंजन है। ब्रह्म सर्वदा न्यारा का न्यारा रहता है। प्रकृति एवं अविद्यात्मक सांसर्गों से वह दूषित नहीं होता। वह अनादि है अतः उसका जन्म नहीं होता। ब्रह्म आकारों से रहित है। जीव के समान उसको पुनः पुनः कर्म फल भोग के लिए जन्म व शरीर नहीं धारण करना पड़ता। राग द्वेषादि विकारों से मुक्त है अर्थात नित्य है। ब्रह्म में न शीतलता है न उष्णता है। अतः वह सर्वदा एक रस है। सांसारिक माया मोह से भी वह रहित है। ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप में प्रपंच अथवा पंचभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का अभाव है। पृथ्वी सूर्य चन्द्र रात दिन निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के अंग नहीं हैं। ब्रह्म में कृत्रिमता और कर्तृत्व कुछ भी नहीं है। वह भौतिक विकारी तत्वों से शून्य है[४६]।

संत सुन्दर दास के अनुसार ब्रह्म निश्चल, अनन्त और अनुपम है। वह शरीर रहित है और उसके नित्य अस्तित्व का उच्छेदन नहीं किया जा

४५. ब्रह्म महि जनु जन महि पारब्रह्म ॥ एकहि आपि नही कछु भ्रम।

सुन्दर गुटका। सुखमनी साहब।

रूपु न रेख न रंगु किछु।
त्रिहु गुन ते प्रभ भिंन ॥
तिसहि बुझाए नानका।
जिसु होवै सुप्रसंन ॥१॥ सुन्दर गुटका। सुखमनी साहब।
चक्र चिहन अरु बरन जाति अरु पाति नहिन जिह ॥
रूप रंग अरु रेख भेख कोऊ कहि न सकत किह।
त्रिभवण महीप सुर नर असुर नेत नेत बन त्रिण कहत। सुन्दर गुटका। सुखमनी साहब।

४६. निर्मल तत निर्मल तत निर्मल तत ऐसा
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा।
उत्पत्ति आकार नाहीं जीव नाहीं काया।
काल नाहीं कर्म नाहीं रहता राम राया।
सीत नाहीं घाम नाहीं धूप नाहीं छाया।
बाव नाहीं बरण नाहीं मोह नाहीं माया।
धरती आकाश अगम चन्द्र सूर नाहीं।
रजनी निसि दिवस नाहीं पवना नहिं जाहीं।
कृत्रिम घट कला नाहीं सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम दूजा नहिं कोई ॥ दादू दयाल की बानी। शब्द ६५।

सकता। भौतिक पदार्थों से उसको मोह नहीं है। [illegible] है न [illegible] और न सुन्दर है न असुन्दर। निर्गुण ब्रह्म [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नानात्मिका इन्द्र बोध पर भी [illegible] है। [illegible] एक या दो की संख्याओं में सीमित नहीं किया जा सकता। [illegible] न [illegible] है न स्थूल। वह किसी स्थान विशेष से सम्बन्धित नहीं है [illegible] [illegible] स्वरूप में और और ब्रह्म [illegible] नहीं है। ब्रह्म अस्तित्व और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सत्य है। सन्त सुन्दरदास के मत में ब्रह्म [illegible] और [illegible] है। ब्रह्म का आदि अन्त कुछ भी नहीं है और [illegible] [illegible] [illegible] है।

सन्त सुन्दरदास ने यद्यपि अवतार का विरोध नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निरुपाधिक स्वरूप [illegible] है कि निर्गुण ब्रह्म का अवतार नहीं होता[४७]।

सन्त मलूक दास का भी मत है कि ब्रह्म [illegible] अवतार नहीं होता[४८]। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन [illegible] [illegible] ही कर सकता है[४९]। वह

---

४७ निराकार है निज स्वरूप।
अचल अमर छाह नहि धूप।
[illegible] पुरुष [illegible] [illegible]।
कहु कै कहिये [illegible]।
आदि अन्त कछु नाहि [illegible]।
मध्य कहिये सु अकथ [illegible]। [illegible]। भाग १। पद ९९, १००।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] अमर निधान।
न [illegible] न [illegible] न [illegible] [illegible]।
न वार न पार न [illegible] [illegible]। न [illegible] न पार न मीत [illegible] सर्व।
सुन्दर ग्रन्थावली। पृ० [illegible]।
एक कि दोई न एक न [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] कहौ न [illegible] है।
शून्य न थूल न शून्य न थूल न [illegible] की [illegible] न जहो [illegible] [illegible] है।
मूल को [illegible] न मूल न [illegible] [illegible] कि कहौ न [illegible] [illegible] [illegible] है।
जीव कि ब्रह्म न जीव न ब्रह्म न तौ है किनहौ [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है।
सु[illegible] ग्रन्थावली।
४८ दस औतार कहाँ ते आये किनने गढ़े। मलूकदास की बानी। शब्द ६।
४९ कहत मलूक निर्गुन के गुन [illegible] बड़ भागी गावें।
[illegible]। बानी। शब्द ४। [illegible]।

अगम अगोचर हैं एवं जगत की परगाथ सत्ता से भिन्न रहता है[५०]। ब्रह्म अद्वैत स्वरूप है और उसके समान दूसरा सत्य तत्त्व नहीं है[५१]।

बिहार वाले सन्त दरिया साहब के मतानुसार जैसे पेड़ को पकड़ने से डाल पत्ती भी पकड़ में आ जाती है, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान से ही तत्त्व ज्ञान पूर्ण होगा। एक ब्रह्म से अनन्त रूप विश्व विकसित हुआ है। वह अद्वैत ब्रह्म निर्गुण और निर्लेप है। ब्रह्म निर्लेप इसलिए है कि वह अज्ञान जन्य उपाधि सत्ता से रहित है। इस संसार रूपी वृक्ष के आदि अन्त मध्य डाल और मूल उसी के स्वरूप के अन्तर्गत है[५२]। ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप निर्गुण और गुणों दोनों से रहित है। किन्तु उपादान कारण होने के कारण ब्रह्म गुणों से सम्बद्ध है[५३]। निमित्त कारण ब्रह्म का कार्य रूप सृष्टि में रूपान्तर होता है।

सन्त धरनीदास की स्वीकारोक्ति है कि वे 'निगुनियाँ' हैं। वे निर्गुण ब्रह्म के साधक हैं। अतः उन्होंने गुणों का आरोप ब्रह्म के स्वरूप में स्वीकार नहीं किया है[५४]।

---

५० अगम अगोचर सबहिन में रहता नियार।
जाको जम जीव सब सतन बार-बार गाइए। मलूकदास की बानी। कवित्त ६।

५१ तेरोई एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो नदी है।
मलूकदास की बानी। कवित्त १७।

५२ पेड़ को पकड़ तब डार पाता मिले
डार गहि पकड़ नहि पेड़ पारा।
आदि औ अन्त सब मध्य है मूल में
मूल में फूल को पेखि डारा।
नाम निर्गुन निर्लेप निर्मल करे
एक में अनन्त सब जगत सारा। बिहार वाले दरिया साहब की बानी।

५३ सुमिरहु निर्गुन अगर नाम सब विधि पूरन सकल काम।
निर्गुन नाइ से करहु प्रीति, लेहु कायागढ़ काम जीति।
बिहार वाले दरिया साहब की बानी। वसन्त ६।

ना निरगुन ना सरगुन कहिये कै दोऊ तेमाना।
बिहार वाले दरिया साहब की बानी। पु कर शब्द १३।

५४ अगुन सगुन ना दुइ करि थापहि
अद्वैत ब्रह्म सकल घट व्यापक तिरगुन में लपटाना।
बिहार वाले दरिया साहब की बानी। शब्द ४१।
सगुन बिना निरगुन रहित है गुन बिन कहा समाना।
बिहार वाले दरिया साहब की बानी।

क्योंकि जगत व्यवहार रूप सरोवर का ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप में अभाव है। इनके मत में ब्रह्म बिना डाल का फूल है क्योंकि जगत के समस्त पदार्थ ब्रह्म में ही अधिष्ठित है। ब्रह्म व्यावहारिक सत्ता में आश्रित नहीं है[५९]।

सन्त बुल्लासाहब के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही उनका साध्य है। निर्गुण ब्रह्म की पूजा करने से उनके हृदय को शान्ति मिलती है। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप में सूर्य, चन्द्र इत्यादि भौतिक तत्वों का अभाव है। उसकी उपलब्धि के साधन नियम, धर्म और आरती नहीं है। ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप से ब्रह्मा, शिव और सनकादि सम्बद्ध नहीं हैं। निर्गुण ब्रह्म जाति एवं वर्ण से रहित है तथा एक अकथनीय सत्य है[६०]।

सन्त चरनदास के अनुसार निर्गुण राम आश्चर्य का आश्रय है। निर्गुण राम माता पिता से रहित है क्योंकि वह अनादि है और उसकी उत्पत्ति नहीं होती। कुटुम्ब और गोत्र से निर्गुण राम का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह वर्ण रहित हैं और वे किसी स्त्री का पति नहीं हैं। रूप और चिन्ह से निर्गुण

५९ उड उड़ रे विहंगम चढ़ अकाश।
जहं नहिं चाँद सूर निस बासर सदा अमरपुर अगम बास।
देखे उरध अगाध निरन्तर हरष सोक नहिं जम के त्रास।
यारीसाहब की रत्नावली। शब्द ।११।
कहै यारी उह अधिक प्यास नहिं फल पायो जगमग परकासा।
जहं रूप न रेख न रंग है रे बिन रूप सरूप में आप फूला।
फूल बिना जहं बास है रे निराम के बास भंवर भूला।
उहां दह बिना कमल है रे कवन की जाति अनरस तोला।
यारी अलख अलोल जहां जहां फूल देखा बिन डाल मूला।
यारीसाहब की रत्नावली। झूलना ।८।

६० निर्गुण दाना हर दम जाना अष्ट नाम मस्ताना।
निरगुन रूप बोलिहिं जन बुल्ला पया गगन ठिकाना। बुल्लासाहब का शब्द सागर।
पूजा निरकार मधु आती जेवर पुजत सितल भारी छाती।
चार न चन्द सूर दिन राती। नेम धरम न दीपक बाती।
नकरे न ब्रह्म सीव सनकादी। निरकार इक अधिक सुहादी।
नकरे माह बरन नहिं जानी। बुल्लासाहब का शब्द सागर।
निरगुन नाम निरंतर पेखी जहां गुरू नहिं चेला
बिधा बेद भेद नहिं जाना जाना एक अकेला।
आवे न जाय मरे नहिं जीव सो सतगुरु सत चेला।
जो कुछ करों कहन नहिं आवे जाके बंदा सो पेला।
बुल्लासाहब का शब्द सागर। शब्द ५।

राम सर्वथा रहित हैं। मुख, नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा, शरीर और धर्म निर्गुण राम के स्वरूप के अंग नहीं है। वे अनादि हैं और अनिर्वचनीय सत्य के स्वरूप हैं[६१]।

सहजोबाई के मत में ब्रह्म रूप, रंग, वर्ण और शरीर से रहित है। वह आदि, मध्य और अन्त से रहित है और उसमें लघु एवं दीर्घ आदि आकार भी नहीं है। प्रलय द्वारा ब्रह्म का नाश नहीं होता और उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती। वह प्रपंच से मुक्त और अनादि है[६२]।

दयाबाई के अनुसार ब्रह्म सत्व, रज और तम गुणों के आश्रित नहीं है। वेद उस निर्गुण ब्रह्म को ही 'नेति नेति' कह कर उसकी अनिर्वचनीयता प्रकाशित करते हैं[६३]।

सन्त भीखा साहब के अनुसार भी ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म विकारों से रहित और अकथनीय है। वह ब्रह्म निरुपाधि और रूप, रंग से रहित है। उसके स्वरूप में निर्गुण और सगुण भेद नहीं है। वह नित्य है और सब पदार्थों का अन्तर्यामी है। वह अपने स्वरूप को माया के आवरण से छिपाये

---

६१ साधो अलख निर्गुण राम का।
मात पिता कुल गोत न जाके भेष न दुनिया बान का।
रूप रेख न वर्ण कछु किरिया लग मग व का नाम का।
मुख न लोचन रसनहिं नासा त्वचा न चोला चाम का।
आदि न अन्त न आवै जावै नाह छिपना नहि थाम का।
देखा सुना कहा नहिं जाय नहि धाम नहिं ग्राम का। सति सार। शब्द वरन।

६२ रूप बरन बाके नहीं सहजो रंग न देह।
आदि रूप बाके नहीं नाहि पाति नहिं रूप।३।
आदि मध्य ताके नहीं नाथ बना तू आदि।
बार पार रहित सहजिया रूप नाम की नाहि।
प्रलय में आवै नहीं उत्पत्ति होय न फेर।७।
ब्रह्म अनादि सर्वज्ञ घने नियरे दूर।८।
रूप नाम गुन सू रहित पाखण्ड सू दूर। सहजोबाई की बानी।
गुन अतीत निरगुन अलख आदि निरंजन देव।
नेति नेति करि बेद जेहि गावत है दिन रैन। दयाबाई की बानी।
निराकार निरगुन निरबन्धी
आदि निरंतर अज अविनासी। [illegible] की बानी।

६३ दयाबाई की बानी। विनय मालिका।

रहता है[६४]। भीखासाहब ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भेद नहीं माना है। अद्वैत ब्रह्म अपने प्रकट स्वरूप को माया द्वारा आच्छादित किये हुए है। किन्तु वही पारमार्थिक निर्गुण ब्रह्म निरुपाधि और अनिर्वचनीय है। वह इन्द्रियादि के ज्ञान का विषय नहीं है[६५]। ब्रह्म अशरीरी है और मन बुद्धि आदि स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता।

सन्त पलटूसाहब निर्गुण स्वरूप में धरती आकाश चन्द्र और सूर्य का अभाव कहते हैं। यह निर्गुण स्वरूप अवतारी नहीं है। यह आकार और निराकारिता से रहित है। अन्य सन्तों के समान सन्त पलटू साहब ने भी ब्रह्म को आदि अन्त और मध्य एवं रूप रंग से मुक्त कहा है। ब्रह्म जगत की अनेकमुखी सत्ता के अन्तराल में अपने को छिपाये हुए है। अतः जागतिक पदार्थों का तो ज्ञान होता रहता है किन्तु ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। आकारों के मूल में ब्रह्म निराकार होकर स्थित है। इसी हेतु आकारों का ज्ञान तो सहज हो जाता है परन्तु निराकार ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता[६६]।

सन्त जगजीवनसाहब ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता में चन्द्र सूर्य आदि तथा सभी भौतिक व्यवहारों का अभाव मानते हैं। वह माया के विकारों से शुद्ध और अविद्यादि से मुक्त है। उसका निर्गुण स्वरूप इन्द्रिय ज्ञान से परे है।

६४ जन निरगुन तन सरगुन साईं।
केवल तुम परतापे हो।
रमिता राम तुम अन्तरजामी।
सोह अनपा जापे हो।
अद्वैत ब्रह्म निरंतर वासी।
प्रगट रूप निज ढापे हो। भीखासाहब की बानी। शब्द ११।

६५ बुद्धि पुष्टि बरनी नहि आवत जनम मरन जुग बहुत सिरानी।
अगम अगोचर अमन निरंतर आवे सीम न पावे थानी।
निर्गुन निर्विकार सुखसागर अपरंपार अखण्डित बानी।
ईसुर व धतहि स्सुरता साहब अविगत अकथ कहानी।
निरकार निरुपाधि निरामय भीखा रंग न रूप निसानी। भीखासाहब की बानी। मेदबानी।

६६ जहं धरनी नाहिं अकासा।
चांद सूरज नहिं नाहीं परगासा।
निराकार न उन्ह अकारा।
सत्य शब्द नाहीं बिस्तारा।
आदि अन्त अरु मध्य नहि रंग रूप नहिं रेख।
गुप्त बात गुप्तै रही पलटू ताका देख। पलटूसाहब की बानी। भाग ३। शब्द ७६।

अत उसका स्वरूप वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है[६७]।

पिछले पृष्ठो पर हम सन्त काव्य में ब्रह्म के निगुण स्वरूप पर विचार कर चुके हैं। अब हम यहाँ पर आचार्य शङ्कर और सन्तो के ब्रह्म सम्बन्धी विचारो की तुलना करेंगे। सबसे पहले हमने ब्रह्म और सृष्टि रचना का प्रसग लिया है। उस प्रसग में हम कह चुके हैं कि आचार्य शङ्कर के अनुरूप सन्त भी ब्रह्म से सृष्टि होना मानते हैं और निमित्त एवं उत्पादन कारण रूपों की अभिन्नता मानते हैं। अत आचार्य शङ्कर और सन्तो के मतो में अभेद है। जिस प्रकार कुम्हार निमित्त और मिट्टी चक्र आदि उपादान कारण हैं, उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि का निमित्त और पच भूतात्मक तत्व रूप में उपादान कारण भी हैं। इस सम्बन्ध में हमने सन्त कबीरदास, सन्त दादूदयाल और सन्त जगजीवन साहब का उल्लेख मुख्य रूप से किया है। पुन हमने सन्त काव्य में ब्रह्म की सृष्टि के सूचक रूप में घटित किया है और विवर्त की सम्भावना का उल्लेख किया है। सृष्टि माया का काय है और माया ब्रह्म का विवर्त रूप इस सम्बन्ध में हमने सन्त कबीरदास सन्त दादूदयाल, सन्त रैदास सन्त नानक साहब सन्त सुन्दरदास सन्त मलूकदास सन्त धरनीदास, सन्त चरनदास, सन्त पलटू साहब के मत उद्धृत किए हैं। इन सन्तो ने सृष्टि को माया का काय माना है और सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त रूप।

फिर इस प्रकरण में हमने ब्रह्म के अवतार पक्ष का विवेचन किया है और निश्चित किया है कि ब्रह्म सगुण रूप में लोक और मर्यादा की रक्षा के लिए एव भक्त की रक्षा और उद्धार के लिए अवतार लेता है। किन्तु सन्तो में अवतार भावना गौण है और भक्ति का अग हो कर सन्तो द्वारा स्वीकृत हुई है। इस प्रकार आचार्य शङ्कर ने भी गीता के भाष्य के उपोद्घात में देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण का अवतार होना कहा है। किन्तु आचार्य शङ्कर का लक्ष्य अवतारवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं। अत हमने ब्रह्म के निगुण—निराकार और निर्विकार स्वरूप का वर्णन किया है। अत यहाँ सन्तो और शङ्कर के विचारो का साम्य प्रकट होता है।

हमने सन्तो की ब्रह्म भावना में देखा है कि इन्होंने सगुण और निगुण

---

६७ रैन दिन तहँ नाहिं आहै सखि गन मान।
चमक झलमल रूप निरगुन निगुन निर्वान।
रहि बुद्धी नाहिं आ‍‍‍ै कौन आवै पार॥

जगजीवनसाहब की बानी। भाग २। शब्द १।

रूपों का अभेद माना है। वहीं ब्रह्म को सगुण और निर्गुण स्वरूपों से पृथक माना है। सन्तों के ये सिद्धान्त भी शाङ्कर सिद्धान्त के विरोधी नहीं हैं। ब्रह्म का स्वरूप के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि आचार्य शङ्कर ने वस्तुतः ब्रह्म के दो रूप केवल विद्या और अविद्या के विषय विभाग के अनुसार माने हैं। सत्व रज और तम गुणों का अधिष्ठान भी निर्गुण ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगत का रूप भी है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। जहाँ सन्तों ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से भिन्न कहा है वहाँ सन्तों का लक्ष्य ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित करना ही है।

अब हम कुछ अन्य बातों पर विचार करेंगे। सन्तों के सम्बन्ध में हम यह शंका कर सकते हैं कि सन्त काव्य में ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का कथन नहीं हुआ है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में दिए हुए पिछले उद्धरणों में ब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों के लक्षण मिलते हैं। ब्रह्म नित्य है अतः वह सत है। सन्तों ने ब्रह्म की नित्यता का प्रतिपादन दृढ़ता के साथ किया है। ब्रह्म सृष्टि का कारण है अतः वह चैतन्य है। ब्रह्म स्वरूप में सुख और आनन्द सम्बन्धी स्थल पिछले उद्धरणों में आ चुके हैं।

सन्तों ने सृष्टि के सम्बन्ध में यह प्रायः कहा है कि ब्रह्म ने सृष्टि रचकर अपने को उसके बीच में छिपा लिया [redacted]। इस सम्बन्ध में हम उपनिषदों में कथित ब्रह्म की ईक्षण और प्रवेश क्रियाओं को महत्त्व देते हैं। सृष्टि प्रकरण में हम कह चुके हैं कि अद्वितीय सदस्वरूप आत्मा अथवा ब्रह्म ने ईक्षण किया और तदनन्तर वह सृष्टि पदार्थों में प्रवेश कर गया। अतः सन्तों का यह मत भी सृष्टि सिद्धान्त के विपरीत नहीं है। सन्तों में भी ब्रह्म को अन्तर्यामी कहा है। अस्तु ब्रह्म अथवा आत्मा का मायिक पदार्थों में अपने को छिपा लेना उपनिषदों और आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है वरन संगत है।

सन्तों ने कहा है कि ब्रह्म ने अपने ही स्वरूप से सृष्टि की रचना की। यह बात भी सिद्धान्त संगत है क्योंकि आचार्य शङ्कर के समान ही सन्तों का लक्ष्य अद्वैत निर्गुण ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त जब दूसरा तत्व नहीं है तो सृष्टि रचना के लिए सन्त दूसरे तत्व की स्थिति कैसे स्वीकार कर सकते हैं। दूसरी मुख्य बात यह है कि आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त यह नहीं मानते कि ब्रह्म ने वस्तुतः कोई सृष्टि की। सृष्टि की रचना वस्तुतः किसी दूसरे तत्व से नहीं हुई है वरन अद्वैत ब्रह्म ही सृष्टि रूप में व्यक्त हो गया है। ब्रह्म के स्वरूप से सृष्टि रचना होना ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप की प्रतिष्ठा का प्रतिपादक सिद्धान्त है। अतः यहाँ भी आचार्य शङ्कर और सन्तों में विरोध नहीं है।

सन्तों के अनुसार ब्रह्म न तो पदार्थों का रूप है और न पदार्थ सत्ता में ब्रह्म का कोई सम्पर्क है। फिर भी ब्रह्म ही उस पदार्थ सत्ता का कारण कहा गया है। सन्तों की यह भावना अद्वैतवाद के अन्तर्गत विवर्त सिद्धान्त का रूप है। गीता के नवें अध्याय में इस प्रकार का वर्णन भी हुआ है। अतः सन्तों का यह मत भी शङ्कर सिद्धान्त के अनुकूल है।

सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म बोधक शब्दों का जो प्रयोग किया है उनमें कुछ तो सगुण नाम हैं—जैसे गोपाल आदि और कुछ नाम उपनिषद् सम्मत हैं—जैसे शुद्ध निर्गुण इत्यादि। कुछ शब्द विशेषणात्मक हैं—जैसे अलख अदृश्य अनादि अनन्त आदि। ये शब्द भी सिद्धान्त में बाधक नहीं हैं। ये विवेकचूड़ामणि में प्रयुक्त अनेक निरूपणों के अनुरूप हैं।

सन्तों द्वारा सगुण स्वरूप बोधक नामों का प्रयोग हुआ है। किन्तु ये नाम निर्गुण ब्रह्म स्वरूप के ही प्रकाशक हैं। श्री विचारदास का कबीर बीजक की भूमिका में सन्त कबीरदास के सम्बन्ध में दिया हुआ यह मत सभी सन्तों के सम्बन्ध में उपयुक्त हो सकता है —

'राम शारंगपाणि यादव राम गोपाल आदिक साम्प्रदायिक नाम तथा साहब ठाकुर खसम आदिक नाम उक्त प्रत्यक् शुद्ध चेतन को बोध कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

सभी सन्तों द्वारा प्रयुक्त नामावली के सम्बन्ध में हम इस मत से सहमत हैं।

निर्गुण स्वरूप के सम्बन्ध में सन्तों ने कहा है कि न वहाँ सूर्य है न चन्द्र है, न दिन है और न रात। इस भावना का मूल हमको श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है[९८]। सन्तों ने ब्रह्म के लिए निरंजन शब्द का प्रयोग किया है इसका प्रयोग भी श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है[९९]।

सन्तों ने ब्रह्म को नट अथवा बाजीगर कहा है। शङ्कर ने इस सम्बन्ध में

---

९८ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१४।

९९ निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६। १९।

मायावी का दृष्टान्त ब्रह्मसूत्र भाष्य में दिया है [७०]। शास्त्रों ने ब्रह्म के लिए 'पूर्ण' शब्द का प्रयोग किया है। इसके लिए पूर्ण शब्द हमको उपनिषदों में मिलता है [७१]।

अब हम सन्त काव्य में ब्रह्म के शून्य स्वरूप का वर्णन करेंगे। प्रस्तुत प्रबन्ध के विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत प्रकरणों में हम बौद्ध मत की महायान शाखा के अन्तर्गत योगाचारी और माध्यमिक बौद्ध दर्शनों का उल्लेख कर चुके हैं। उक्त प्रकरणों में हम बौद्ध मतानुसार अद्वैत सिद्धान्त के स्वरूप का अवलोकन बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में कर चुके हैं। इन्हीं प्रकरणों में हम आचार्य शङ्कर द्वारा इन सिद्धान्तों का खंडन भी प्रस्तुत कर चुके हैं। इससे आगे हम शून्य सिद्धान्त का विकास अवरुद्ध पाते हैं। यद्यपि यदा-कदा हम शून्य शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये होता हुआ देखते हैं। देव्यथर्वशीर्ष में शून्य की साक्षी दुर्गा का उल्लेख हुआ है [७२]। विष्णु सहस्र नाम में विष्णु का एक नाम शून्य भी कहा गया है [७३]। इस प्रकार हम शून्य शब्द का प्रयोग विष्णु के लिए होते देखते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता क्योंकि आस्तिक दर्शन में शून्य स्वरूप ब्रह्म का ग्रहण बहुत ही कम हुआ है। इस सम्बन्ध में हम केवल निर्गुण सन्तों के काव्य को ही महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं। यहाँ हम यह निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे कि सन्तों द्वारा गृहीत शून्य बौद्धानुमोदित शून्यवाद का अंग नहीं है वरन निर्गुण ब्रह्म और समाधि में तुरीयावस्था की अनुभूति का द्योतक है। यहाँ हम यह निश्चय करेंगे कि सन्तों का शून्य भावना में ब्रह्म की नित्यता का निराकरण नहीं होता वरन इससे उसकी अनिर्वचनीयता ही प्रकाशित होती है। इस सम्बन्ध में यहाँ हम शून्याद्वैत दर्शन की पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझते क्योंकि शून्याद्वैत दर्शन से सन्तों द्वारा प्रतिष्ठित शून्य का नाम मात्र का ही सम्बन्ध है।

---

७० लोकेऽपि देवादिषु च मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि सृष्टयो दृश्यन्ते तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।१।२८।

७१ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ शान्ति पाठ। छान्दोग्य उपनिषद्।

७२ मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञान रूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्य साक्षिणी। देव्यथर्वशीर्ष। २४।

७३ सवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः। श्री विष्णु सहस्रनाम।९२।

सन्त आस्तिक हैं क्योंकि वे ईश्वर और उसके द्वारा जगत की सृष्टि मानते हैं। जीव को माया के बन्धनों में बंधा मानते हैं और भक्ति ज्ञान आदि साधनों के द्वारा मोक्ष होना मानते हैं। ईश्वर पर सन्तों की आस्था दृढ़ है अतः वे नास्तिकों के शून्य के मानने वाले नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रबन्ध के सन्तों के अनुसार ब्रह्म, जीव माया, सृष्टि और समस्त साधना पक्ष के प्रकरण प्रमाण हैं।

सन्त कबीर दास के अनुसार पारमार्थिक, निर्गुण और अनिर्वचनीय ब्रह्म की अनुभूति शून्य मण्डल में होती है। इस निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति समाधि में होती है। सन्त कबीर ने शून्य शब्द से प्रायः समाधि द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति उपलक्षित की है। सन्त कबीर ने सहज शून्य में अपना स्नेह व्यक्त किया है [७४]। शून्य मण्डल में सन्त कबीर ने अनाहत नाद का श्रवण होना कहा है [७५]। शून्य मण्डल में ही उन्होंने परम ज्योति परशाम अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार होना कहा है। इससे स्पष्ट है कि सन्त कबीर ने समाधि की अवस्था में ही ब्रह्म की अनुभूति होना माना है [७६]। शून्य मण्डल में निष्कम्पता और ध्यान की प्राप्ति होना कबीर ने माना है। अतः इससे भी स्पष्ट है कि सन्त कबीरदास शून्य शब्द का लक्ष्य समाधि ही है [७७]।

सन्त रैदास शून्य को निर्विकार अविनाशी अथवा नित्य मानते हैं। उस शून्य को ही वे सत्य समझते हैं और जीवन्मुक्ति की अवस्था में शून्य की अनुभूति मानते हैं [७८]। सन्त कबीर के समान ही सन्त रैदास भी शून्य मण्डल में अपना निवास स्थान बताते हैं [७९]। अतः निर्विकल्पक समाधि ही सन्त रैदास के अनुसार शून्य शब्द से निर्दिष्ट की गई है।

सन्त धरमदास ने शून्य महल में बिना तेल और बत्ती के दीपक जलाना

---

७४ सहज सुंनि की नेहरी गगन मंडल सिरमौर। कबीर ग्रन्थावली। पद १८।

७५ सुंनि मण्डल में बन्सा बाजै तहां मेरा मन नाचै। कबीर ग्रन्थावली। पद ७२।

७६ सुंनि मण्डल में सोधिले परम जोति परकाश। कबीर ग्रन्थावली। पद १२१।

७७ निहचल नहीं ध्यान गम सुंनि मण्डल माहि रे।
अौधूत जोगी आसा कोइ पुर्वे सनमि नाहि रे।

कबीर ग्रन्थावली। पद ३६?।

७८ सत्य अतीत ज्ञानघन वर्जित, निर्विकार अविनाशी।
कह रैदास सहज सुन्न सत, जिवनमुक्त निधि कासी।

रैदास की बानी। पद ५३।

७९ सुन मण्डल में मेरा वासा, ताते जिव में रहौं उदासा।

रैदास की बानी। पद ८।

कहा है ८०। इसी प्रकार वे शून्य महल में अमृत बरसने की बात कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि इनका भी समाधि को लक्ष्य करके शून्य शब्द का प्रयोग हुआ है ८१।

सन्त दादूदयाल ने भी शून्य शब्द से समाधि की अनुभूति ही उपलक्षित की है ८२। सन्त नानक साहब के अनुसार भी शून्य समाधि का ही नाम है ८३। सन्त सुन्दर दास ने भी समाधि की स्थिति में शून्य की अनुभूति होना कहा है। अतः इनके अनुसार भी निर्विकल्पक समाधि ही शून्य है ८४। सन्त गरीबदास ने शून्य सिंहासन को ही अमर आसन कहा है। इनके अनुसार शून्य शब्द समाधि का ही वाचक है ८५। सन्तयारी भी शून्य में ज्योति का दर्शन होना मानते हैं। अतः यहाँ भी समाधि का ही लक्ष्य किया गया है ८६। सन्त गुलालसाहब ने शून्य शिखर में कमल का फूलना कहा है। इनके अनुसार भी शून्य शब्द से समाधि का ही निश्चय होता है८७। बिहार वाले सन्त दरिया साहब शून्य में ज्ञान की उपलब्धि होना मानते हैं। इनके अनुसार भी शून्य शब्द समाधि का वाचक है ८८। सन्त भीखासाहब के मत में भी शून्य शब्द

८० सुन्नि महल में दीपक बारो, बिना तेल बाती।
धरमदास की बानी। पद १०।

८१ सुन्न महल स अमृत बरसे प्रेम अनन्द होय साध नहाय।
धरमदास की बानी। पद ४।

८२ सहज सुन्नि मन राखिये, इन दूनों के माहि।
लै समाधि रस पीजिये तहाँ काल भै नाहि।
दादूदयालकी बानी। [illegible] अंग।

८३ जब आसन धारो सुन्न समाधि। तब वैर विरोध किसु संगि कमाति।
सुन्दर गुटका।

८४ सब इंद्रिकाय पुनि शून्य में समाय तहाँ।
समाधि लगाय करि आसा मारियतु है। सुन्दर ग्रन्थावली।

८५ सुन्न सिंहासन अमर आसन अलख पुरुष निर्वान है। गरीबदास की बानी। महावेगी ११।

८६ आदि कान नाक मुंद मूरति को निहार देखु
सुन्न में जोति या ही परगट गुन ज्ञान [illegible]। यारीसाहब की रत्नावली।

८७ सुन्न शिखर सरोज फूलो अंक नाहि जाय।
गुलालसाहब की बानी। शब्द। २ ।

८८ ज्ञान का घोड़ला सुन्न में दौड़िया, सुन्न में सुरति है शब्द सारा।
बिहार वाले सन्त दरिया साहब की बानी। शब्द ३।

सोलहवाँ प्रकरण

निर्गुण काव्य में सृष्टि का स्वरूप

विवर्त भावना

'निर्गुण काव्य में माया अथवा अविद्या' प्रसंगों में हम विस्तारपूर्वक विचार करते हुए कह चुके हैं कि आचार्य शङ्कर और सन्तों ने संसार को माया जनित कहा है। इसी प्रसंग में हम यह भी कह चुके हैं कि आचार्य और सन्त दोनों ने ही माया में मिथ्यात्व का आरोप किया है। इस सम्बन्ध में हम 'निर्गुण काव्य में ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण 'निर्गुण काव्य में जीव अथवा आत्मा' प्रकरण एवं माया प्रकरण में विवर्त भावना का उल्लेख कर चुके हैं। हम यहाँ सृष्टि के सन्दर्भ में निर्गुण काव्य में विवर्त भावना का स्पष्टीकरण करते हुए सन्तों द्वारा प्रतिपादित विवर्त सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

'विवर्त' शब्द का उल्लेख हम सबसे पहले श्वेताश्वतर उपनिषद् में पाते हैं। उक्त उपनिषद में कहा गया है कि जिसके द्वारा सर्वदा यह सब जगत व्याप्त है तथा जो ज्ञान स्वरूप काल का भी कर्ता निष्पाप गुणवान और सर्वज्ञ है उसी से प्रेरित होकर यह पृथ्वी, जल अग्नि वायु एवं आकाश रूप कर्म (जगद्रूप से) विवर्तित होता है[1]। आचार्य शङ्कर ने इस स्थल पर विवर्त शब्द का भाष्य करते हुए कहा है कि जो ईश्वर प्रेरित प्रसिद्ध कर्म है वह माला में सर्प के समान जगद्रूप से विवर्तित होता है और वह कर्म पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश रूप अर्थात पृथ्वी आदि से युक्त पंचभूतात्मक है। आचार्य शङ्कर ने यहाँ विवर्त शब्द और सिद्धान्त की व्याख्या और व्युत्पत्ति का विचार नहीं किया है। माला में सर्प भ्रम का दृष्टान्त अविद्यात्मकता

---

१ तेनेशितं कर्म विवर्तते ह,
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ।६।२।

और मिथ्यात्व का सूचक है। इस स्थल पर दो तत्त्व स्पष्ट हैं—अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म और ब्रह्म के आश्रित पृथ्वी, जल अग्नि वायु एवं आकाश रूप कर्म। अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित हैं। ब्रह्म यदि सृष्टि करे तो उसमें गुण और विकारों का समन्वय होगा। निर्गुण ब्रह्म विकारों और गुणों से रहित है। अतः ब्रह्म में सृष्टि का कर्तृत्व कथन करना शङ्कर और सन्तों के सिद्धान्त का विरोधी मत होगा। इस सम्बन्ध में श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही कहा गया है कि ब्रह्म स्वरूप में शरीर रूप कार्य और कारण रूप इन्द्रियाँ नहीं हैं। ब्रह्म अद्वितीय है तो भी उसकी परा शक्ति अनेक रूपात्मक है[२]। ब्रह्म के ज्ञान और बल स्वाभाविक हैं[३]। इस प्रकार ब्रह्म में अवयवत्व का निषेध होता है। अवयवत्व का निषेध होने से प्रकारान्तर से ब्रह्म के कर्तृत्व की भी अस्वीकृति हो जाती है। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित है कि निरवयव होने पर भी ब्रह्म अपनी स्वाभाविक शक्ति से क्रिया करता है।

'निर्विकार और निर्गुण ब्रह्म सृष्टि किस प्रकार करता है' इसी विषय में विवर्त भावना की प्रतिष्ठा अद्वैत वेदान्त में की गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि वेद, यज्ञ क्रतु व्रत भूत, भविष्य वर्तमान तथा वैदिक ज्ञान मायावी ईश्वर अक्षर से उत्पन्न करता है। प्रपंच में ईश्वर माया से अन्य सा होकर बँधा हुआ है[४]। आचार्य शङ्कर के अनुसार 'प्रकृति माया है और उसका अधिष्ठाता सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म उपाधिवश होकर मायावी है[५]। इस प्रकार विवर्त भावना का स्वरूप उपर्युक्त दोनों बातों से यहाँ स्पष्ट किया

---

२ वनस्पत्यादिषु [illegible] कर्म त्रिधा इति। [illegible] इति यथोक्तं कर्म पञ्चमहाभूतानीन्द्रियाणि पृथिव्यादिभूतपञ्चकम्। श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य ।६।२।

३ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वेताश्वतर उपनिषद् ।६।८।

४ छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्,
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। श्वेताश्वतर उपनिषद् ।४।९।

५ प्रकृतिमायां तदधिष्ठातारं चिदानन्दरूपं ब्रह्म पुनरुपाधिवशान्मायिनं विद्यात्।
श्वेताश्वतर उपनिषद्। शाङ्कर भाष्य ।४।१०।

गया है। कारण होते हुए भी कार्य की सत्ता से ब्रह्म अस्पृश्य रहता है। कार्य की स्थिति ब्रह्म में ही है अथवा ब्रह्म ही समस्त कार्य रूप सृष्टि का आश्रय है। माया के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए हम माया की ब्रह्म में आश्रयरूपता का विस्तृत उल्लेख कर चुके हैं। अतः हम यहाँ यह निश्चित करते हैं कि ब्रह्म के अधिष्ठान को माया अथवा सृष्टि चाहे वह मिथ्या हो या न हो अविद्यात्मक होकर ब्रह्म में वर्तमान है। यही विवर्त भावना का स्वरूप है। उक्त नियम के अनुसार हम विवर्त शब्द की व्यावहारिक व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि 'वर्त' शब्द में 'वि' विशेषणात्मक प्रत्यय लगा कर विवर्त शब्द व्युत्पन्न होता है एवं इसका व्यवहारिक अर्थ होगा सृष्टि, माया, अविद्या, अथवा अज्ञान ब्रह्म में विशेष रूप से वर्तमान है। अतः ये ब्रह्म के विवर्त रूप हैं। विशेष रूप से वर्तमान होने का प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट होता है कि माया की ब्रह्म में पारमार्थिक स्थिति नहीं है। माया के पारमार्थिक सत्य न होने के कारण उसकी वास्तविक स्थिति नहीं है। परन्तु यदि माया की स्थिति न होती तो जीव का व्यावहारिक बन्धन भी न होता। अतः यहाँ माया की अनिर्वचनीय ख्याति की स्वीकृति करते हुए हम यह कहना पड़ेगा कि माया की विशिष्ट स्थिति ब्रह्म में है। बन्धन रूप होते हुए भी अद्वैतात्म ज्ञान से माया की निवृत्ति होती है किन्तु ब्रह्म में वह फिर भी वर्तमान रहती है क्योंकि व्यक्ति की माया का ब्रह्म ज्ञान से नाश हो जाने पर भी समष्टि में तो माया अवशिष्ट ही रहती है। अतः इस प्रकार माया के विवर्त रूप की व्यावहारिक व्याख्या हुई। यहाँ सृष्टि को भी माया का स्वरूप मान कर विवर्त सिद्धान्त की व्याख्या की गई है।

गीता में कहा गया है कि यद्यपि भगवान का कोई कर्त्तव्य संसार में नहीं है और न उसे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करना है तो भी वे कर्म करते हैं। सृष्टि भगवान का कर्म ही है एवं इस कर्म को भगवान किसी आशा और उद्देश्य एवं आसक्ति के बिना करते हैं। ईश्वर सृष्टि आदि कर्मों को आलस्य रहित होकर करता है। ईश्वर कर्म का अधिष्ठान है। उसके चैतन्य से ही प्रेरित होकर प्राणी कर्म करता है[७]। अतः कर्म का अधिष्ठान भी ईश्वर ही

६ न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं [illegible] एव च कर्माणि॥ गीता ३।२२।

७ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ गीता ३।२३।

है। किन्तु यहाँ पुनः शंका होगी कि ब्रह्म में यदि कर्म की पारमार्थिक स्थिति नहीं है तो गीता में प्रतिपादित ब्रह्म चैतन्य और कर्म सिद्धान्त में अन्तर्विरोध होगा। इस सम्बन्ध में कहा जाएगा कि यद्यपि ब्रह्म कर्म का अधिष्ठान है तो भी कर्म के विकारों अथवा फलों को वह नहीं भोगता। गीता में कहा गया है कि जिस क्रियाशीलता का आरोप हम ब्रह्म में करते हैं वस्तुतः वह ब्रह्म की क्रिया सावयव क्रिया नहीं है। अनादि प्रकृति ही ब्रह्म के आश्रित होकर अनेक विधि क्रिया करती है[८]। ये कर्म भगवान के स्वरूपभूत अतः इस लिए नहीं होते कि वे लौकिक प्राणी की भाँति कर्म में आसक्त नहीं होते[९]। साधारण प्राणी फल की आशा से कर्म करता है परन्तु भगवान निरासक्त एवं उदासीन होकर जगतादि कार्यों के कारण है। यहाँ हमने ब्रह्म के कर्तृत्व के दोनों पक्षों का अध्ययन किया है। प्रथम यह है कि ब्रह्म चैतन्य स्वरूप होकर सृष्टि आदि का कारण है और द्वितीय यह कि ब्रह्म निर्विकार निर्गुण है अतः उसके द्वारा क्रिया अथवा कर्म की मान्यता का कथन असंगत होगा। यहाँ हम सिद्धान्त में यह विरोध देखते हैं कि वही ब्रह्म कर्तृत्व का रूप है एवं वही अकर्तृत्व का। दो विरोधी तत्त्वों का एक साथ रहना अन्याय है किन्तु इस सम्बन्ध में ऊपर प्रकृति का ब्रह्म के आश्रित होकर कर्म करना कहा गया है और ब्रह्म में अकर्तृत्व का कथन इसलिए संगत कहा गया है कि ब्रह्म कर्म फल से उदासीन है। अतः सृष्टि जैसे कर्मों का अधिष्ठाता होते हुए भी वह भौतिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित है।

जगत प्रकृति एवं माया का कारण होते हुए भी ब्रह्म जगत और प्रकृति के कार्यों से अस्पष्ट है। गुणों और विकारों का कारण होते हुए भी ब्रह्म न तो विकारों और गुणों का स्वरूप ही है और न विकारों और गुणों के द्वारा प्रभावित या दूषित ही किया जाता है। गीता में कहा गया है कि अव्यक्त ब्रह्म में समस्त प्राणी स्थित हैं किन्तु ब्रह्म स्वतः प्राणी रूप जगत में स्थित नहीं है[१०]। प्राणि रूप जगत में ब्रह्म इसलिए नहीं स्थित है कि ब्रह्म विभागों और खण्डों एवं व्यावहारिक अनेक रूपों द्वारा छुआ भी नहीं जा सकता। यद्यपि

---

८ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। गीता। १३।२९।

९ न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ गीता ९।९।

१० मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ गीता ९।४।

प्राणियों को परमात्मा ही प्रकट करता है किन्तु प्राणियों में उसकी स्थिति नहीं हो सकती क्योंकि परमात्मा निरुपाधिक सत्य है और प्राणी का जन्म उपाधि से होता है अन्यथा परमार्थतः तो ब्रह्म ही अनन्त सत्य है और उसमें प्राणी भेद एवं वर्ण व वर्ग भेद नहीं उत्पन्न हो सकते[११]। जिस प्रकार वायु आकाश में स्थित रहती है और आकाश में ही विचरण करती है किन्तु आकाश वायु के द्वारा विकृत नहीं होता उसी प्रकार मायिक सृष्टि ब्रह्म के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ब्रह्म को अपने गुणों विकारों और प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं करती[१२]। गुणों और विकारों से रहित होने हुए भी भगवान प्रकृति को अपने अधीन रखकर बार बार सृष्टि की रचना करते हैं[१३]। फिर भी यह रचना विकार दोष ब्रह्म पर आरोपित नहीं है। समस्त क्रिया प्रकृति के गुणों से होती है। तब यह प्रश्न होगा कि जब प्रकृति ही सृष्टि क्रिया करती है तब ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता के स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? गीता में कहा गया है कि प्रकृति ब्रह्म की सत्ता से स्वतन्त्र नहीं है। अतः ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जड़ और चेतनात्मक सृष्टि को उत्पन्न करती है। ईश्वर की आश्रिता प्रकृति जड़ एवं चेतनात्मक जगत के रूप में परिवर्तित भी होती है[१४]।

ब्रह्म वस्तुतः मन अथवा वाणी द्वारा कथित एवं अनुभूत नहीं है क्योंकि मन वाणी एवं इन्द्रियाँ विकारजन्य हैं। गीता में इसी हेतु ब्रह्म का स्वरूप कथन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म न सत और न असत तो भी उपाधि के कारण ब्रह्म के स्वरूप में सर्वत्र हाथ, पैर, मुँह, कान और नाक कहे गए हैं[१५]। ब्रह्म में समस्त इन्द्रियों और गुणों का आभास होता है परन्तु वस्तुतः

११ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ गीता।९।५।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ गीता।१३।१३।

१२ यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ गीता।९।६।

१३ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ गीता।९।८।

१४ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ गीता।९।१०।

१५ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ गीता।१३।१२।

वह इन्द्रियों और गुणों से रहित है। वस्तुतः गुण और इन्द्रियाँ ब्रह्म में औपाधिक ही हैं। परमार्थतः ब्रह्म निर्गुण है वह क्रिया और लोक में आसक्त नहीं होता। फिर भी ब्रह्म उपाधिवश गुणों का भोक्ता है[16]। अतः इस प्रकार हम ब्रह्म में उपाधि का विवर्त मानते हैं।

अब हम ब्रह्म सूत्रों में तथा शङ्कर के अनुसार विवर्त भावना का विवेचन करते हैं। ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म को जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है। यदि ब्रह्म को सावयव मानें तो श्रुति का विरोध होगा क्योंकि उसको उपनिषदों में अवयवों से रहित कहा है[17]। आचार्य शङ्कर का मत है कि अविद्या कल्पित रूप भेद से वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोग से जिसके नेत्र का प्रकाश नष्ट हो गया है उसकी दृष्टि में चन्द्रमा के अनेक दिखाई देने पर भी वास्तव में चन्द्रमा अनेक नहीं होते। अविद्या से कल्पित नाम रूप लक्षण, व्याकृत और अव्याकृत स्वरूप और तत्त्व व अतत्त्व से अनिर्वचनीय रूप भेद द्वारा ब्रह्म परिणामादि सब व्यवहारों का स्थान होता है, परन्तु पारमार्थिक रूप से ब्रह्म सब व्यवहारों से अतीत और परिणाम शून्य है। अविद्या कल्पित रूप भेद केवल वाचारम्भण मात्र है अतः सृष्टि कारण होते हुए भी ब्रह्म का निरवयवत्व बाधित नहीं होता[18]। आचार्य शङ्कर ने निर्गुण एवं निर्विकार ब्रह्म में अविद्यात्मक सृष्टि की विवर्तकल्पना का वर्णन करते हुए कहा है कि अपने स्वरूप का नाश किए बिना एक ही ब्रह्म में अनेक प्रकार की सृष्टि रचना के सम्बन्ध में विवाद करना अनुचित है। एक स्वप्नद्रष्टा आत्मा में बिना स्वरूप का नाश किए हुए ही अनेक प्रकार की सृष्टि श्रुति में कही गई है। स्वप्न में रथ नहीं हैं घोड़े नहीं हैं मार्ग नहीं हैं किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथों का घोड़ों का और अनेक मार्गों का निर्माण करता है। लोक में भी देवता आदि में और मायावी आदि में स्वरूप का नाश किये बिना ही हाथी,

16 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ गीता १३।१४।
17 कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा। ब्रह्मसूत्र २।१।२६।
18 नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते। न हि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।१।२७।

प्राणियों को परमात्मा ही प्रकट करता है किन्तु प्राणियों में उसकी स्थिति नहीं हो सकती क्योंकि परमात्मा निरुपाधिक सत्य है और प्राणी का जन्म उपाधि से होता है अन्यथा परमार्थत तो ब्रह्म ही अन्त तक सत्य है और उसमें प्राणी भेद एवं वर्ण व वर्ग भेद नहीं उत्पन्न हो सकते[११]। जिस प्रकार वायु आकाश में स्थित रहती है और आकाश में ही विचरण करती है किन्तु आकाश वायु के द्वारा विकृत नहीं होता उसी प्रकार मायिक सृष्टि ब्रह्म के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ब्रह्म को अपने गुणों विकारों और प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं करती[१२]। गुणों और विकारों से रहित होते हुए भी भगवान प्रकृति को अपने अधीन रखकर बार बार सृष्टि की रचना करते हैं[१३]। फिर भी यह रचना विकार दोष ब्रह्म पर आरोपित नहीं है। समस्त क्रिया प्रकृति के गुणों से होती है। तब यह प्रश्न होगा कि जब प्रकृति ही सृष्टि क्रिया करती है तब ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता के स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? गीता में कहा गया है कि प्रकृति ब्रह्म की सत्ता से स्वतन्त्र नहीं है। अत ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जड और चेतनात्मक सृष्टि को उत्पन्न करती है। ईश्वर की आश्रिता प्रकृति जड एवं चेतनात्मक जगत के रूप में परिवर्तित भी होती है[१४]।

ब्रह्म वस्तुत मन अथवा वाणी द्वारा कथित एवं अनुभूत नहीं है क्योंकि मन वाणी एवं इन्द्रियाँ विकार जन्य हैं। गीता में इसी हेतु ब्रह्म का स्वरूप कथन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म न सत और न असत तो भी उपाधि के कारण ब्रह्म के स्वरूप में सर्वत्र हाथ, पैर मुँह, कान और नाक कहे गए हैं[१५]। ब्रह्म में समस्त इन्द्रियों और गुणों का आभास होता है परन्तु वस्तुत

११ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥ गीता ।९।५।
सर्वत पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ गीता ।१३।१३।

१२ यथाकाशस्थितो नित्य वायु सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ गीता ।९।६।

१३ प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन पुन।
भूतग्राममिम कृत्स्नमवश प्रकृतेर्वशात ॥गीता ।९।८।

१४ मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ गीता । ९।१०।

१५ ज्ञेय यत्त प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्पर ब्रह्म नसत्तन्नासदुच्यते ॥गीता ।१३।१२।

वह इन्द्रियों और गुणों से रहित है। वस्तुतः गुण और इन्द्रियाँ ब्रह्म में औपाधिक ही हैं। परमार्थतः, ब्रह्म निर्गुण है वह क्रिया और लोक में आसक्त नहीं होता। फिर भी ब्रह्म उपाधिवश गुणों का भोक्ता है[१६]। अतः इस प्रकार हम ब्रह्म में उपाधि का विवर्त मानते हैं।

अब हम ब्रह्म सूत्रों में तथा शङ्कर के अनुसार विवर्त भावना का विवेचन करते हैं। ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म को जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है। यदि ब्रह्म को सावयव मानें तो श्रुति का विरोध होगा क्योंकि उसको उपनिषदों में अवयवों से रहित कहा है[१७]। आचार्य शङ्कर का मत है कि अविद्या कल्पित रूप भेद से वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोग से जिसके नेत्र का प्रकाश नष्ट हो गया है, उसकी दृष्टि में चन्द्रमा के अनेक दिखाई देने पर भी वास्तव में चन्द्रमा अनेक नहीं होते। अविद्या से कल्पित नाम रूप लक्षण, व्याकृत और अव्याकृत स्वरूप और तत्त्व व अन्यत्व से अनिर्वचनीय रूप भेद द्वारा ब्रह्म परिणामादि सब व्यवहारों का स्थान होता है परन्तु पारमार्थिक रूप से ब्रह्म सब व्यवहारों से अतीत और परिणाम शून्य है। अविद्या कल्पित रूप भेद केवल वाचारम्भण मात्र है अतः सृष्टि कारण होते हुए भी ब्रह्म का निरवयवत्व बाधित नहीं होता[१८]। आचार्य शङ्कर ने निर्गुण एवं निर्विकार ब्रह्म में अविद्यात्मक सृष्टि की विकल्पना का वर्णन करते हुए कहा है कि अपने स्वरूप का नाश किए बिना एक ही ब्रह्म में अनेक प्रकार की सृष्टि रचना के सम्बन्ध में विवाद करना अनुचित है। एक स्वप्नदृष्टा आत्मा में बिना स्वरूप का नाश किए हुए ही अनेक प्रकार की सृष्टि श्रुति में कही गई है। स्वप्न में रथ नहीं है घोड़े नहीं है मार्ग नहीं है किन्तु स्वप्नदृष्टा रथों का, घोड़ों का और उनके मार्गों का निर्माण करता है। लोक में भी देवता आदि में और मायावी आदि में स्वरूप का नाश किये बिना ही हाथी,

---

१६ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ गीता १३।१४।

१७ श्रुत्यर्थत्वान्निरवयवत्वशब्दकोपो वा। ब्रह्मसूत्र २।१।२६।

१८ नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्य इति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।२७।

घोड़े आदि विचित्र सृष्टियाँ देखने में आती हैं। उसी प्रकार अखण्ड ब्रह्म में भी स्वरूप का नाश किए बिना ही विविध प्रकार की सृष्टि होती है[१९]। विवेकचूडामणि में जगत्सृष्टि के अधिष्ठान ब्रह्म की काय प्रपंच से अभिन्नता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही अज्ञान जन्य सर्प और सर्प प्रतीति से होने वाले भय कम्प आदि एक साथ निवृत्त होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर अज्ञान अज्ञानजन्य प्रपंच और उससे उत्पन्न होने वाले दुःख की निवृत्ति हो जाती है[२०]। अतः यह अज्ञान ही आत्मा में विवर्त रूप में वर्तमान है। इससे मुक्त होने से प्राणी मुक्त होकर ब्रह्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि द्वारा लोहे को गला कर उससे कुदाल आदि नाना प्रकार के उपकरण बनते हैं उसी प्रकार आत्मा के संयोग से शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इत्यादि अनेक विषयों की बुद्धि द्वारा प्रतीति होती है। यह द्वैत प्रपंच बुद्धि रूपी उपाधि से उत्पन्न हुआ है अतः मिथ्या है। स्वप्न भ्रम और मनोरथ सभी इसी बुद्धि के मिथ्या आकार हैं[२१]। जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल प्रवाह ऊसर भूमि को गीला नहीं कर सकता उसी प्रकार बुद्धि-दोष रूपी उपाधि ब्रह्मस्वरूप आत्मा रूपी अधिष्ठान को विकृत नहीं कर सकती[२२]। रज्जु में सर्प के समान यह

१९ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि। ब्रह्मसूत्र।२।१।२८।
अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। बृहदारण्यक उपनिषद्।४।३।१०। इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु च मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि सृष्टयो दृश्यन्ते तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिर्भविष्यति। ब्रह्मसूत्र भाष्य।२।१।२८।
२० यतो नितरां इष्टं सम्यग्भ्रमसुखरूपविज्ञानात्।
तस्मादरज्जु सत्यं ज्ञानं च भयमुत्थं न्दुष्टा॥ विवेकचूडामणि।३४६।
२१ अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वया
न्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः।
तत्कार्यमेतद्वितयं यतो मृषा
दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु॥ विवेकचूडामणि।३५०।
२२ आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्
कदापि मूढैरतिदोषदूषितैः।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं
मरीचिकावारिमहाप्रवाहः। विवेकचूडामणि।४६६।

प्रपंचात्मक जगत भ्रमजन्य है। रज्जु में सर्प का ज्ञान होना मिथ्या है, उसी प्रकार निर्गुण निर्विकार ब्रह्म में गुणयुक्त विकार तथा अविद्याजन्य संसार की कल्पना करना निर्मूल है[२३]। अतः हम विवर्त भावना का उपसंहार करते हुए यह निश्चित करते हैं कि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और विकार रहित है। किन्तु गुण और विकारों का आश्रय माया या अविद्या उपाधि रूप में अनादि काल से ब्रह्म में वर्तमान है। यदि कहा जाय कि ये गुण अथवा अविद्या अपनी स्वतन्त्र सत्ता से ब्रह्म को अभिभूत किये हैं तो उचित नहीं। गुण अथवा अविद्या ब्रह्म की सत्ता के आधीन है क्योंकि आचार्य शङ्कर के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है। माया की सत्ता का जहाँ तक प्रश्न है उसकी सत्ता का तो आभास मात्र होता है। परन्तु यह सत्ताभास वास्तव में ब्रह्म का ही है माया का नहीं। केवल ब्रह्म ही सत्स्वरूप है अतः माया की स्वाधीन सत्ता नहीं, ब्रह्म के आधीन ही उसकी सत्ता है। अनेकरूपता, भौतिक विषमता एवं जीव जगत आदि का ब्रह्म से भेद प्रतीत होना अज्ञान है। परन्तु यह अज्ञान पारमार्थिक नहीं है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भय होता है और जिसके फलस्वरूप मनुष्य भाग कर कम्पादि से युक्त होकर मूर्छित हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप में जगत रूप उपाधि का आश्रय मात्र होता है और उससे व्यवहारजन्य दुःख क्लेश आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प भय से मुक्त होकर मनुष्य स्वस्थ होता है उसी प्रकार आत्म बोध हो जाने में द्वैत प्रपंचरूप अज्ञान का तिरोभाव हो जाता है। विवर्त भावना को हम इस क्रम में अङ्कित कर सकते हैं —

शुद्ध ब्रह्म

ब्रह्म	अविद्या परिच्छिन्न ब्रह्म जीव	ईश्वर, माया, प्रकृति, अविद्या निर्गुण
माया का अधिष्ठान	ब्रह्म और अविद्या का सयोग	माया की उपाधि से ब्रह्म ही ईश्वर है
अभेद स्वरूप	भेद से व्यवहृत जीव	माया की उपाधि से ब्रह्म की ईश्वर सत्ता है
		भेद का कारण

२३ अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम्।
पण्डितै रज्जुसर्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः। विवेकचूडामणि ४०७

इस सत्ता के अनुसार सृष्टि ब्रह्म सत्ता से भिन्न तत्त्व नहीं है। ब्रह्म कभी तो एक नट के समान अपनी लीलाओं और कौतुकों का प्रदर्शन करता है और कभी अपने ही स्वरूप को विविध रूपों में व्यक्त करके सभी जड़ और चेतन पदार्थों को मोहित करता है। उसकी ये क्रीडाएँ वस्तुतः सत्य नहीं हैं। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अनेक उपकरणों से अद्भुत दृश्य प्रस्तुत करता है और दर्शकों की बुद्धियों को मोहित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अनेक अविद्यात्मक तथ्यों को व्यक्त करके प्रत्येक प्राणी को सम्मोहक और भ्रामक स्थितियों में डाले हुए है। किन्तु अत्यधिक वैलक्षण्य तो यह है कि कौतुक स्रष्टा ब्रह्म स्वतः प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि वह प्रकट हो जाए तो अविद्याजन्य अध्यास प्रसूत भ्रामक माया का निराकरण होकर मायावी का साक्षात्कार हो जाए। साधक अनेक उपायों से इसी माया के स्वामी परब्रह्म की उपलब्धि के निमित्त विविध साधनाओं का आश्रय लेता है। सन्त कबीर दास ने कहा है कि अनन्त ब्रह्म ने जगत की नाट्यशाला सजाई है। वही नाटक रचना करता है और स्वयं ही उसका द्रष्टा है। सन्त रैदास जगत सृष्टि को मायात्मक और ब्रह्म को एकमात्र सत्य मानते हैं। सन्त दादू दयाल ब्रह्म को माया पट में छिपा हुआ देख रहे हैं। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है शेष सब मिथ्या है। सन्त सुन्दर ने भी ब्रह्म सत्य और सृष्टि रचना अज्ञान मूलक स्वीकार की है। सन्त चरनदास ने ईश्वर लीला को मन और बुद्धि से अगोचर माना है। वही स्वयं इदंता और विश्वरूप में व्यक्त हो गया है। उसका भेद या रहस्य जान सकना कठिन है। सन्त पलटू ने भी ब्रह्म के अद्वैत रूप को जगद्रूप में व्यक्त होना स्वीकार करके ब्रह्म की सत्यता स्वीकार की है। ये सभी सन्त इस सम्बन्ध में एकमत हैं। ब्रह्म वस्तुतः जगत्कारण है परन्तु जगत कार्य उसकी अध्यक्षता में होते हुए भी इन्द्रजाल कौतुक से अधिक कुछ नहीं है। ब्रह्म ही माया कार्यों का अधिष्ठान है परन्तु कार्य का रूप स्वतः ब्रह्म नहीं है। इस भावना को स्पष्ट करने के लिए हम संक्षेप में सन्त कबीरदास[24] सन्त रैदास[25] सन्त नानक साहब[26] सन्त दादूदयाल[27] सन्त सुन्दर

२४ जिन नटवै नटसारी साजी, जो खेले सो दीसै बाजी। कबीर ग्रन्थावली रमैणी।

२५ बाजी झूठ साच बाजीगर जाना मन पतियाना। रैदास की बानी। शब्द ।१।

२६ बाजीगर डंक बजाई सब खलक तमासे आई। सुन्दर गुटका।

२७ बाजी चिहुर रचाइ करि रह्या अपरछन होइ।
माया पट पड़दा दिया तातैं लखै न कोइ॥ दादू दयाल की बानी। माया कौ अंग।८२।
बाजीगर परकासा, यह बाजी झूठ तमासा। दादू दयाल की बानी। शब्द।३६।

दास[28], सन्त चरनदास[29] और सन्त पल्टूसाहब की बानियों से स्पष्ट करते हैं।

अब हम सन्त काव्य में निर्गुण एवं अद्वैत सत्ता में जगत के मिथ्यात्व का अध्ययन करेंगे। सन्त कबीरदास ने रज्जु और सर्प का दृष्टान्त देकर मृग मरीचिका देकर जगत के मिथ्यात्व और ब्रह्म की सत्य सत्ता का परिचय दिया है[31]। सन्त रैदास के अनुसार संसार रज्जु में सर्प के समान भ्रम है अथवा सुवर्ण और अलंकारों के समान सत्य और ब्रह्म का द्वैत मिथ्या है[32]। सन्त दादूदयाल के अनुसार ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप में जगत की कल्पना करना भ्रम है। इन्होंने इस सम्बन्ध में भी रस्सी-सर्प का दृष्टान्त मृग मरीचिका का दृष्टान्त और स्वप्न का दृष्टान्त दिया है। सन्त सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म स्वरूप में जगत की कल्पना भ्रम है[33]। सन्त सुन्दरदास के अनुसार जगत सृष्टि मिथ्या है यह रज्जु में सर्प भ्रम मृगतृष्णा के समान है

२८ बाजी कौन रची मेरे प्यार।

एवं उत्पन्न और नष्ट होने वाली है[३४]। मारवाड़ वाले संत दरियासाहब के अनुसार संसार स्वप्नवत् है और इस संसार के स्वप्न का नाना इस जगत्रूप स्वप्न से भिन्न है[३५]। संत धरनीदास ने जगत को रज्जु में सर्प भ्रम और मृगतृष्णा का रूप माना है[३६]। संत धरनीदास के अनुसार भी जगत मृगतृष्णा है[३७]। संत चरनदास के अनुसार जगत स्वप्नवत् है। इस जगत को दूर होने माया का कार्य कहा है और माया का प्राण घातक के समान कष्ट साध्य माना है[३८]। संत भीखा साहब के अनुसार जगत द्वैत रूप है। किन्तु जब रज्जु में सर्प भय नष्ट हो जाता है तब रज्जु अवशिष्ट रहता है। इसी प्रकार जगत और जीव एवं ब्रह्म के द्वैत सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं, तब माया कृत अज्ञान नाश हो जाता है और जगत एवं ब्रह्म भेद नहीं रह जाता[३९]। इन्होंने जगत को स्वप्न माना है[४०]। संत जगजीवनसाहब के अनुसार केवल अद्वैत ब्रह्म ही नित्य ज्योतिस्वरूप है और माया भ्रम का रूप है[४१]। संत पलटूसाहब के अनुसार संसार मृगतृष्णा का जल, स्वप्न और सीप में चाँदी

३४ उपजै विनसै सो सब जानी यह पुरानन्ह में कही।
नाना विधि के खेल दिखावै नीगर मानी वही।
रज भुजग मृगतृष्णा सो यह माया निरधारि रही।
सुन्दर ग्रन्थावली। भाग २। पद ४।

३५ उपजै बरते अरु विनसा, सुपिने अन्तर सब दरसावै।
त्याग ग्रहण सुपना व्यवहारा जो जागा सो सबसे न्यारा।
मारवाड़ सन्त दरिया साहब की बानी।

३६ जानत नेवरि सरप भ्रम धारे, निरनिर होत जो दीपक बारे।
मृगतृष्णा जल खोजत धावै थाकि रहे पाछे पछितावै॥ धरनीदास की बानी।

३७ जग मृगतृष्णा सब्दि भुलानी भूल रहा जग मूढ़। गरीबदास की बानी।

३८ यह जग जैसे सुपन है सुनहु वचन परमान।
यह माया जग डाइनी हरहि लेति है प्रान॥ भक्ति सागर। शब्द १४।

३९ भीखा एक दुन्द का भयऊ सर्प सनाय रज्जु महँ गयऊ।
भीखा साहब की बानी।

४० भीखा यह स्वप्न की नहर जग जानिये।
जागि कर देखु सब झूठे माने॥ भीखा साहब की बानी।

४१ देखत अन्त दूसरो नाना एकै जोति तुम्हारी।
बहु भरमाय देत माया रँग बहु करन नितकारी।
जगजीवन साहब की शब्दावली। भाग १। शब्द ६।

के समान भासक है[४७]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्त काव्य में जगत की ब्रह्म में विवर्तरूपता सर्वाङ्गपूर्ण है। ब्रह्म का निर्गुणत्व, माया का ब्रह्म आश्रित होना, ब्रह्म द्वारा सृष्टि की रचना होना, परन्तु सृष्टि में पारमार्थिक सत्य न होना, संसार का ब्रह्म में मिथ्या आरोप होना, उपाधि के कारण ब्रह्म में माया का आभास होना एवं उपाधि के नाश हो जाने पर जीव और जगत का ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना विवर्त भावना के मुख्य अङ्ग हैं। सन्तों ने अद्वैत ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हुए द्वैत का निषेध किया है और इस विषय में विवर्त भावना का आश्रय लिया है।

प्रतिबिम्ब भावना

अब हम सन्त काव्य में सृष्टि और जीव में प्राप्त प्रतिबिम्ब भावना का विवेचन करेंगे। प्रस्तुत प्रकरण में ही सृष्टि के विवर्त स्वरूप का अध्ययन करते हुए हम कह चुके हैं कि माया जन्य उपाधि के ब्रह्म स्वरूप में अध्यस्त होने के कारण द्वैत रूप जगत की प्रतीति होती है। यहाँ हम पहले उपाधि की मिथ्यात्वता प्रतिपादित करते हुए ब्रह्म की निर्गुणता का संक्षिप्त कथन करते हुए जीव अथवा जगत की अनेक रूपता में व्यक्त हुए प्रतिबिम्ब का मिथ्यात्व निश्चित करेंगे।

ब्रह्म सूत्रों में कहा गया है कि जीव वस्तुतः ब्रह्म है परन्तु उपाधि के कारण जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म अनेक उपाधियों में भासित होकर अनेकरूप होता है[४८]। ब्रह्म बिन्दु उपनिषद में कहा गया है कि एक ही भूतात्मा प्रत्येक प्राणी में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा एक एवं बहु रूपों में दिखाई पड़ता है[४९]। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब वस्तुतः चन्द्रमा नहीं है।

---

४७ हम तुम निरखि कै प्यारा कुछ नहिं,
सरै अचरज रहा है।
यह संसार रैन का सुपना
देखा भ्रमत भो रहा है॥
पलटू साहब की बानी भाग। ३। पद ७२।

४८ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्। ब्रह्मसूत्र ३।२।१८।

४९ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। ब्रह्म बिन्दु उपनिषद् १२।

चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा समझना मिथ्यात्व का आश्रय लेना है। उपाधि माया का रूप है और माया की पारमार्थिक स्थिति नहीं है। आचार्य शङ्कर माया की मिथ्यारूपता के प्रमाण में उद्धृत करते हैं कि "नारद मैंने यह माया रची है। तुम मुझे सब भूत गुणों से युक्त देखते हो। परन्तु इसको मेरा रूप समझना उचित नहीं[४५]।

ब्रह्म सूत्र में इस मायिक उपाधि को ब्रह्म का आभास मात्र कहा है[४६]। आचार्य शङ्कर के अनुसार आभास अविद्याजनित है अतः आभास पर आश्रित संसार भी अविद्या जनित है[४७]। जल के हिलने से चन्द्रमा हिलता प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः आकाश स्थित चन्द्रमा नहीं हिलता। इसी प्रकार उपाधि से ब्रह्म भिन्न सा होता प्रतीत होता है किन्तु परमार्थतः होता नहीं[४८]।

विवेकचूडामणि में कहा गया है कि जिस प्रकार जलरूप उपाधि के चञ्चल होने पर मूढबुद्धि पुरुष औपाधिक प्रतिबिम्ब की चञ्चलता का आरोप ब्रह्म में करते हैं जिस प्रकार जल के हिलने से सूर्य नहीं हिलता वैसे ही उपाधि के विकृत होने से आत्मा विकृत नहीं होता। आत्मा वस्तुतः निष्क्रिय है परन्तु चित्त की चञ्चलता का आरोप "मैं करता हूँ भोक्ता हूँ इस भाँति व्यवहृत होता है। जैसे घट के धर्मों से आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार शरीर जल लोटे में हो चाहे या स्थल में आत्मा में मलिनता नहीं आती[४९]।

४५ माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।२।१७।

४६ आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति।
ब्रह्मसूत्र भाष्य ।२।३।५०।

४७ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्। ब्रह्मसूत्र ।३।२।२०।

४८ यथा हि सूर्य प्रतिबिम्बं जलगतं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतो ऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन्।
ब्रह्मसूत्र भाष्य। ३।२।२०।

४९ चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्य-
मौपाधिकं मूढधियो नयन्ति।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं,
कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति। ।५०८। विवेकचूडामणि।
जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा। ५११। विवेकचूडामणि।

ब्रह्म के स्वरूप म जगत रूप का आरोपण करना व्यावहारिक अथवा अविद्यात्मक विषय है। जगत और माया की ब्रह्म म पारमार्थिक सत्ता नही है। अत इस प्रकार प्रतिबिम्ब भावना भी विवत भावना का रूपान्तर मात्र है। विवत भावना और प्रतिबिम्ब भावना म तात्त्विक भेद नही है तो भी दोनो म सामान्य सद्धान्तिक भद है। विवत भावना से सम्बद्ध रज्जु-सप स्वप्न साप म चाँदी का भ्रम मरीचिका म जल आदि दृष्टान्त हम विवत भावना के प्रसग म दे चुके हैं।

प्रतिबिम्ब भावना का स्वरूप हमको अनेक स तो की वाणियो म मिलता है। प्रतिबिम्ब भावना के प्रतिपादन म सन्तो ने जल और प्रतिबिम्ब का ही दृष्टान्त लिया है अत इस प्रसग का हम सन्त का य म जगत का प्रतिबिम्ब भावना नाम से अभिहित करते ह।

गोरखनाथ के अनुसार आत्मा के स्वरूप पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि जस जल म चद्र बिम्ब पडता है परन्तु वह प्रतिबिम्ब वस्तुत चद्रमा नही होता। उसी प्रकार आत्मा निगु ण और निर्विकार है और जगत सष्टि अथवा व्यावहारिक जीव की सष्टि का आरोप उसम नही किया जा सकता। सष्टि वस्तुत आत्मा में अध्यस्त नही है किन्तु उपाधि के कारण व्यवहार में जगत को आत्मा के प्रतिबिम्ब रूप म देखा जाता है[५०]। सन्त कबीरदास के अनुसार दपण म देखने से आकृति का प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है परन्तु दपण का प्रतिबिम्ब आकृति के आश्रित है। दपण के टूट जाने पर एक ही आकृति रह जाती है। वस ही अद्वत आत्मा माया म प्रतिबिम्बित होकर दो रूपो म दिखाई पडता है। किन्तु आत्म ज्ञान या माया भ्रम द्वत का नाश उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार दपण का प्रतिबिम्ब आकृति देखने पर तिरोहित हो जाता है[५१]। जिस प्रकार बीज के अन्तराल म वक्ष और वक्ष म छाया दिखाई देती है उसी प्रकार परमात्मा म जीव और जीव म माया का प्रत्यक्ष दशन होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म म ही जीव प्रतिष्ठित है और ब्रह्म म ही माया की स्थिति है। माया के द्वारा ही मिथ्या सष्टि की रचना होती है। अत जगत जीव और ब्रह्म वस्तुत एक रूप ही है। ब्रह्म औपाधिक विकारा

५० बदन्त गोरखनाथ आतमा विचारत ज्यू जल दीसै चन्दा। गोरखबानी।
५१ कायू कहू कहन को नाही दूसर और जना।
ज्यू दरपन प्रतिबिम्ब देखिये आप दवा सू सोई।
संसा मिटया एक को एकै महाप्रलय जब होइ। कबीर ग्रथावली।

से सं लिप्ट होकर जगत और जीव म ... दिखाई देता है[५२]। सत रदास के मत म ब्रह्म जगरकारण है। किन्तु ब्रह्म ... आकाश गध, और वायु के समान माया व विकारा से लिप्त नहीं होता। समुद्र म चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान ... है[५३]।

सत दादूदयाल मानते हैं कि जिस प्रकार जल म आकाश व्याप्त है और आकाश म जल व्याप्त है फिर भी आकाश जल की आर्द्रता उष्णता आदि से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार जीव म अविद्या वासना है। किन्तु जीव म स्व ब्रह्म है और अविद्याजन्य विकार ब्रह्म के स्वरूप नहीं हैं। अथवा जिस प्रकार दर्पण म अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है अथवा जल म अपनी छाया दिखाई देती है उसी प्रकार आत्म स्वरूप ब्रह्म उपाधि वश जीवत्व और ससार रूप म प्रतिबिम्बित होता है[५४]। सत सुदरदास के अनुसार सत्व रज और तम गुणो की चचल वत्तियो म आत्मा स्थिर है। जिस प्रकार जल की हिलोरो से प्रतिबिम्ब हिलता दिखाई देता है वैसे ही स्थिर आत्मा त्रिगुणात्मक उपाधि के कारण गुणो के विकारो से प्रभावित प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत असङ्ग आत्मा प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण म प्रतिबिम्ब लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रिया और विकारो स आत्मा प्रभा

---

५२ साधो सतगुर ... आन ... दराया।
बीज मध्ये ज्यो बच्छा ... मये छाया॥
परमातम में आतम दरसे आतम म य ... ।
आतम में परमातम ... परमातम में ... ।
... म परछा ... दरसे ... कबीर ... । कबीर ग्रन्थावली।

५३ मन कछु करत न रहत अकुलेप।
गुन विधि रहत ... मसि जैस।
... गगन अग्नि अलप अस।
गध ... प्रतिबिम्ब दरसि तस। रैदास की बानी। शब्द ७८।

५४ दादू जल में गगन गगन में जल है।
पुनि वै गगन निरास।
ब्रह्म जीव इहि विधि रहे ... विचार।
ज्यू दरपन मुख देखिये पानी में प्रतिबिम्ब।
ऐसे आतम राम है दादू सब ही सग।
... की बानी। विचार कौ अग।

माया में आकार ब्रह्म के परमार्थ स्वरूप में मिथ्या आभासमात्र है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने ब्रह्म की प्रतिबिम्ब भावना का निरूपण किया है। सत्ता की इस प्रतिबिम्ब भावना का आधार माया अथवा अविद्या जन्य उपाधि है। उपाधि के स्वरूप का निर्णय हम विवर्त भावना और प्रतिबिम्ब भावना तथा दोनों के सम्बन्ध और स्वरूप का कथन प्रस्तुत प्रकरण के गत पृष्ठों पर कर चुके हैं। इन भावनाओं के साथ सूत्रों का पता हमको उपनिषदों, गीता, ब्रह्म सूत्र और शङ्कर के सिद्धान्तों में लगता है। इन भावनाओं का मूल्यांकन करते हुए हम देखते हैं कि उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों में कहीं भी वैषम्य नहीं है।

प्रणव भावना

अब हम सत्ता के अनुसार सृष्टि सिद्धान्त के तीसरे पक्ष का विवेचन करेंगे। प्रस्तुत पक्ष में हम ओंकार से जगत की उत्पत्ति का कथन करेंगे।

कठोपनिषद् में कहा है कि 'ओम' ही वह पद है जिसके लिए मुमुक्षु जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं[५९]। प्रश्न उपनिषद् में कहा गया है कि ओंकार ही ब्रह्म है और विद्वान इसके आश्रय द्वारा अपर या परब्रह्म में से किसी को प्राप्त करता है[६०]। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि ओ३म ही ब्रह्म है, ओ३म ही सर्वस्व है[६१]। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार नसों से सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकार से समस्त वाक् व्याप्त है, ओंकार ही यह सब कुछ है[६२]। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार

---

५८ माया सकल पसार है ना रस कछु नाहि।
नद लग यह आकार हो वचन मिथ्या भ्रान्ति।
जैसे सुपना रैन का सुख स्वप्न के माँहि।
भासै है पर है नहीं ज्यों तरवर की छाँह। मलि सागर। भक्ति पदार्थ वर्णन।

५९ यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठ उपनिषद् ।१।२।१५।

६० एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।
प्रश्न उपनिषद् ।५।२।

६१ ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। तैत्तिरीय उपनिषद् ।१।८।१।

६२ यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेदं सर्वम्।
छान्दोग्य उपनिषद् ।२।२३।३।

'यह आत्मा ओ३म ही है' इस प्रकार ध्यान करना चाहिए[६३]। प्रणव अथवा ओ३म धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। ब्रह्म का सावधानी से वेधन करके आत्मा रूपी बाण के साथ तन्मय हो जाना चाहिए[६४]। गीता में कहा गया है कि 'ओ३म यह एक अक्षर रूप ब्रह्म है'[६५]। इस प्रकार उपनिषदों और गीता में "ओ३म् शब्द" द्वारा ब्रह्म का परिचय दिया गया है। अब हम माण्डूक्य उपनिषद् में प्रतिष्ठित प्रणव अथवा ओ३म् के स्वरूप का विचार विस्तारपूर्वक करेंगे। माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार को जगत रचना के सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया गया है। इस प्रकरण का लक्ष्य संतों के अनुसार ओंकार से जगत की सृष्टि का विवेचन करना है।

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार ओंकार ही सब कुछ है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब ओंकार ही हैं। त्रिकाल से अतीत वस्तु भी ओंकार है[६६]। ओंकार के दो पक्ष यहाँ स्पष्ट हैं—भूत, भविष्यत और वर्तमान स्वरूप ओंकार और त्रिकालातीत ओंकार। ओंकार ही सर्वरूप है, ओंकार ही ब्रह्म है[६७]। ब्रह्म ही ओंकार है, अतः भूत, भविष्य और वर्तमान काल ब्रह्म में अधिष्ठित है और त्रिकालातीत मन वाणी से अतीत निर्गुण एवं निर्विकार आत्मा का स्वरूप भी ओंकार अथवा ब्रह्म रूप है।

अब हम पहले ओंकार के त्रिकाल रूप का वर्णन करेंगे। माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा चार पदों वाला कहा गया है[६८]। आत्मा का प्रथम चरण वैश्वानर है। आत्मा का यह प्रथम चरण वैश्वानर बाह्य विषयों को प्रकाशित करता है। अतः इसे बहिःप्रज्ञ कहा गया है। वैश्वानर स्थूल विषयों का भोक्ता है। माण्डूक्य उपनिषद् में इसके उन्नीस मुख कहे गये हैं। यह वैश्वानर सात अङ्गों वाला है और जागरित इसका स्थान है[६९]। आचार्य शङ्कर के अनुसार

---

६३ ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। मुण्डक उपनिषद् ।२।२।६।

६४ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डक उपनिषद् ।२।२।४।

६५ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। गीता ।८।१३।

६६ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। माण्डूक्य उपनिषद्।

६७ सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। मुण्डक उपनिषद् ।२।

६८ सोऽयमात्मा चतुष्पात्। मुण्डक उपनिषद् ।२।

६९ जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।
मुण्डक उपनिषद् ।३।

अपने से भिन्न विषयों में जिसकी बुद्धि अथवा प्रज्ञा होती है उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। इस प्रकार वैश्वानर आत्मा की बुद्धि बाह्य भौतिक विषयों में अविद्या के कारण सम्बद्ध सी प्रतीत होती है। दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ पाँच प्राण वायु मन बुद्धि चित और अहङ्कार ये सब मिलाकर उन्नीस वैश्वानर के मुख हैं[७०]। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वैश्वानर का आत्मा द्युलोक सिर, आकाश देह सूर्य नेत्र वायु प्राण अन्न मूत्रस्थान और पृथ्वी चरण कहे गए हैं। शङ्कर के अनुसार आहवनीय अग्नि वैश्वानर का मुख है। अतः इस प्रकार अविद्या के कारण वैश्वानर में सात अङ्गों की प्रतीति होती है[७१]। जागरित अवस्था वैश्वानर का स्थान है[७२]। शङ्कर के अनुसार अनेक नरों अथवा योनियों का नयन अथवा वहन करने के कारण आत्मा वैश्वानर कहलाता है। विश्वरूप नर होने के कारण भी आत्मा वैश्वानर कहलाता है[७३]। वैश्वानर स्थूल विषयों का भोग करता है अतः इसको स्थूलभुक् कहा गया है[७४]।

आत्मा का दूसरा पाद माण्डूक्य उपनिषद् में स्वप्न कहा गया है। दूसरे पाद में आत्मा को तैजस कहते हैं। तैजस अन्तःप्रज्ञ है[७५]। शङ्कर के अनुसार मन इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक अन्तर्मुखी है। स्वप्नावस्था में मन वासना के अनुरूप रहता है। आत्मा अपने प्रकाश स्वरूप का अनुभव करता है अतः उसे तैजस कहा जाता है[७६]। शङ्कर के अनुसार मन के स्फुरण होने से जाग्रतकाल में बुद्धि बाह्य विषयों में स्थित होकर मन में विषय के अनुरूप संस्कार उत्पन्न

७० यदि प्रज्ञ स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञः बहिर्विषयेव प्रज्ञा विधात्ते भाति। मुण्डक उपनिषद् भाष्य।३।
बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि। मुण्डक उपनिषद् भाष्य।३।

७१ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्दे । बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ। छान्दोग्य उपनिषद् ।५।१८।२
आहवनीयोऽग्निरस्य मुखं वेनोक्त। माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य। ३।

७२ जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य ।३।

७३ विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः।
माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य। ३।

७४ शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य।३।

७५ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः।
माण्डूक्य उपनिषद्। ४।

७६ इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः।
माण्डूक्य उपनिषद् ।४।

करती है। जागरित अवस्था में सञ्चित किए हुए संस्कारों से युक्त मन, अविद्या, कामना और कर्म के कारण स्वप्नावस्था में बिना बाह्य उपकरणों के ही जागरित के समान भासित होने लगता है[77]। तैजस वासना से उत्पन्न बुद्धि का ही भोग करता है। बुद्धि सूक्ष्म है अतः तैजस का भोग भी सूक्ष्म कहा गया है[78]। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आत्मा का तीसरा पाद प्राज्ञ है। प्राज्ञ का स्थान सुषुप्ति है। सुषुप्ति में आत्मा एक होकर, आनन्दस्वरूप होकर, आनन्द भोगता है। प्राज्ञ चेतना मुख वाला है। प्राज्ञ अवस्था में आत्मा स्वप्न नहीं देखता और न किसी पदार्थ की इच्छा करता है[79]। यह प्राज्ञ आत्मा सबका ईश्वर कहा गया है। यह ईश्वर रूप में प्राज्ञ आत्मा सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। प्राज्ञ आत्मा समस्त जीवों के जन्म और नाश का स्थान और कारण है[80]।

ओंकार में अ, उ और म ये तीन मात्रायें हैं। माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार ओंकार की ये तीनों मात्राएँ ही आत्मा के तीन पाद हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं[81]। इस प्रकार ओंकार की 'अ' मात्रा वैश्वानर है और इसका स्थान जागरित है[82]। ओंकार की 'उ' मात्रा का स्थान स्वप्न है और तैजस आत्मा का स्वरूप है[83]। प्राज्ञ आत्मा की मात्रा 'म्' और स्थान सुषुप्ति है[84]।

माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा अन्तःप्रज्ञ नहीं है, न बहिःप्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ है। आत्मा न प्रज्ञान है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। आत्मा अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, लक्षण रहित अचिन्त्य अकथनीय

७७ कामप्रधानेन भावना बहिर्विषयवासनामननात् मनः स्वप्नेऽवस्थायां मनो तथाभूत संस्कार मनः [illegible] पश्यति अविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते।
माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य। ४।

७८ केवला वासनामात्रा प्रज्ञा यस्येति प्रविविक्तभोग। माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य। ४।

७९ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।
माण्डूक्य उपनिषद्। ५।

८० एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।
माण्डूक्य उपनिषद्। ६।

८१ पादा मात्रा मात्राश्च पादा। माण्डूक्य उपनिषद्। ८।

८२ जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः। माण्डूक्य उपनिषद्। ९।

८३ स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा। माण्डूक्य उपनिषद्। १०।

८४ सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा। माण्डूक्य उपनिषद्। ११।

एकात्मरूप सत्य, प्रपञ्च से रहित शान्त कल्याणस्वरूप और अद्वैत रूप है[८५]। शङ्कर के अनुसार 'अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर तैजस का, बहिःप्रज्ञ नहीं है, ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का प्रतिषेध किया गया है। आत्मा प्रज्ञानघन नहीं है इससे सुषुप्ति का निषेध, प्रज्ञ नहीं है इससे विषयों के ज्ञातृत्व का और अप्रज्ञ नहीं है इससे आत्मा की अचेतनता स्वीकार की गयी है[८६]। आत्मा का यह चतुर्थ पाद तुरीय अवस्था है[८७]। आचार्य शङ्कर के अनुसार जिस प्रकार रज्जु सर्प के विकल्प रूप का अधिष्ठान है, उसी प्रकार परमार्थ सत्य होने पर भी आत्मा प्राण इत्यादि विकल्पों का आश्रय है। आत्मा पारमार्थिक सत्य है किन्तु व्यवहार में उसमें अनेक नाम रूप और गुणों का आरोप होता है। यह व्यावहारिक अनेकात्मक नाम रूपता केवल वाणी का विलास मात्र है। वाणी विकारों से आत्मा विकृत नहीं होता। इस वाणी विकार के प्रसार को धारण करने वाला ओंकार ही है। शङ्कर के अनुसार ओंकार आत्मा का प्रतिपादन करता है, अतः वह स्वयं ही आत्मस्वरूप है। ओंकार के विकार रूप शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य आत्मा विकल्प रूप प्राण इत्यादि अपने प्रतिपादक शब्दों से भिन्न नहीं हैं[८८]।

इस प्रकार ओंकार ही अवस्था भेद से जगत रूप में व्यवहार प्रतिपादन करता है। ओंकार की मात्राएँ अविद्यात्मक सृष्टि की तीन स्थितियों पर प्रकाश डालती हैं। किन्तु पारमार्थिक आत्मा अविद्यात्मक व्यवहारों से अतीत है। आत्मा स्वतः विकार रहित है परन्तु विकारों का अधिष्ठान है। माण्डूक्य

---

८५ नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं स आत्मा। माण्डूक्य उपनिषद् ।७।

८६ नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।

माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य ।७।

८७ चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते। माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य ।७।

८८ रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्यास्पदमद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्यास्पदं यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओंकार एव। स चात्मस्वरूपमेव तदभिधायकत्वात्। ओंकारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति। माण्डूक्य उपनिषद् । शाङ्कर भाष्य।

उपनिषद् के उपर्युक्त सिद्धान्त के समानान्तर अब हम सन्तों के सृष्टि सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे।

गोरखनाथ के अनुसार ओंकार ही उनका मूल मन्त्र है। ओंकार ही समस्त जगत में व्याप्त हो रहा है। अविगत से ओंकार की उत्पत्ति हुई। ओंकार से आकाश की सृष्टि हुई। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। जल के रूप से ब्रह्मा का वर्ण और तेज रूप से विष्णु की माया उत्पन्न हुई है। वायु का रूप ईश्वर का शरीर है। आकाश का रूप नाद की छाया का रूप है। अविगत की सृष्टि नाद का रूप है। यहाँ अविगत शब्द से अनिर्वचनीया परा प्रकृति कही गई है[८९]। सन्त कबीरदास के अनुसार ओंकार सृष्टि का आदि मूल है। ओंकार से जगत की सृष्टि होती है और अविद्या के विकारों से जगत की स्थिति होती है[९०]। नानक पंथ के अनुसार ओंकार सत्य स्वरूप है। यह ओंकार सृष्टि कर्ता पुरुष है[९१]। सन्त दादूदयाल के अनुसार ओंकार से अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं किन्तु आत्मा ही सार रूप है। अतः उसकी भक्ति और भाव में स्थिर रहना चाहिए। सृष्टि काल के पूर्व केवल गुण और आकार रहित आत्मा था। आत्मा के निर्गुण और निराकार स्वरूप से ओंकार की उत्पत्ति हुई। पुनः ओंकार से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पांच तत्व उत्पन्न हुए। इन पंच भूतों से शरीर की रचना हुई है। शरीर भाव से 'हम-तुम' आदि द्वैत जनित अहंकार की उत्पत्ति हुई। निरंजन अथवा शिव निर्गुण स्वरूप में प्रकृति के सत्व, रज और तम गुण सन्निविष्ट नहीं होते—निराकार है। किन्तु ओंकार माया के अनेक आकारों और विकारों का रूप है। ओंकार ही माया

८९ ओंकार आदू मूल मन्त्र कहाया।
ऊंकार व्यापक सकल सभा। गोरख बानी।
ऊं। अविगत उपाया। ऊं। ऊं उपजाया आकास। आकास उपजाया वाइ। वाइ उपजाया तेज। तेज उपजाया पाणी। पाणी उपजाया मही।
जल का रूप ब्रह्मा का वर्ण तेज रूप विष्णु की माया।
पवन रूप ईश्वर की काया आकाश रूप नाद की छाया।
नाद रूप अविगत उपाया। गोरख बानी। सिस्ट पुराण।

९० ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकै मूला। कबीर ग्रन्थावली। रमैणी।
ऊंकारै जग ऊपजै विकारै जग जाइ।
अनहद बेन बजाइ कर रहा गगन मठ छाइ। कबीर ग्रन्थावली। पद १२२।

९१ ओ सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।
सुन्दर गुटका। जपुजी साहिब।

के अनेक रूपों और रूपों में व्यक्त हुआ है। ओंकार सृष्टि का आदि कारण है। वाणी और उपाधि रूप में यह शरीराभिमानी सत्व है। ओंकार से माया का विस्तार हुआ है। यह पारमार्थिक सत्य नहीं है[६२]।

सन्त सुन्दरदास के अनुसार पहले ओंकार की उत्पत्ति हुई। इस ओंकार से सत्व, रज और तम ये गुण उत्पन्न हुए तथा आकाश वायु जल, अग्नि और पृथ्वी इन पंचभूतों की रचना हुई। तीन गुणों और पंचभूतों से जगत सृष्टि का 'महल' बनाया गया है। ओंकार सृष्टि का आदि कारण है। समस्त ब्रह्माण्ड इसमें ही स्थित है। ओंकार के अधिष्ठान में प्राणी जगत को अविद्यात्मक भ्रम में डालने वाली माया सात दीपों और नव खण्डों अर्थात् सर्वत्र व्यापक है[६३]। सन्त चरनदास के अनुसार ब्रह्म के अहंकार से ओंकार उत्पन्न हुआ और ओंकार से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवताओं की उत्पत्ति हुई। परन्तु पारमार्थिक आत्मा इन सबसे भिन्न है[६४]। सन्त भीखा साहब के अनुसार भी सृष्टि का आदि कारण ओंकार है[६५]। सन्त यारी

६२ ओंकार थै उपजै विनस बहुत विकार।
भाव भगति लै थिर रहै दादू आतमसार।
पहली कीया आप थै उतपति ओंकार।
ओंकार थै उपजै पंच तत्त आकार॥
पंच तत्त थै घट भया बहु विधि सब विस्तार।
दादू घट थै ऊपजे मैं तैं वरण विचार।
एक सबद सब कुछ किया ऐसा समरथ सार।
आगैं पीछैं तौ करै न बल हीणा होइ॥
निरंजन निराकार है ओंकार आकार।
दादू सब रंग रूप सब सब विधि सब विस्तार॥
आदि सबद ओंकार है, बोलै सब घट माहि।
दादू माया विस्तरी परम तत्त यहु नाहि। दादूदयाल की बानी। सबद को अंग।
६३ उतपति रे सो तैं कीया प्रथमहि ओंकार।
तिनतैं तीन्यों गुन भये पाछे पंच पसारा।
तिनका रे यह औजूद है सो तैं महल बनाया। सुन्दर ग्रंथावली। पद ४।
ऊंकार की आदि देहा और सकल ब्रह्माण्ड।
चलत माया मोहिनी सात दीप नौ खण्ड। सुंदर ग्रंथावली। पद ६।
६४ अहंकार ऊं भयो जिनते तीनो देव।
जिनके परे सु आतमा अगम अगोचर भेव। भक्ति सागर।
६५ आदि सब्द ओंकार कहतु है अद्भुत रहत सब दीना। भीखा साहब की बानी।

साहब भी ओंकार को संसार का आदि रूप मानते हैं[९६]।

उक्त विवरण से प्रकट है कि सन्तों ने ओंकार को सृष्टि-कारण आदि शब्द माना है। उन्होंने ओंकार शब्द से प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति कही है और ओंकार को माया अथवा अविद्या का रूप माना है। जगत के आकारों, रूपों और रंगों की विषम रचना का कारण भी ओंकार है। शरीर रचना के मूल में भी ओंकार है। जब हम माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार इस लघु प्रकरण पर विचार करते हैं तो देखते हैं सन्तों ने जिस प्रकार ओंकार को माया और व्यवहार का रूप दिया है वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के विभाजनों में नहीं आता। परन्तु यह निश्चय है कि जिस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में एक ही आत्मा व्यवहृत होता है अथवा जगत की सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप में एक ही अधिष्ठान रूप आत्मा की स्थिति रहती है, उसी प्रकार सन्तों के अनुसार ओंकार ही जागतिक व्यवहारों का कारण अथवा अधिष्ठान है। अकार, उकार और मकार वस्तुतः आत्मा के व्यावहारिक स्वरूप की ही प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार सन्तों के अनुसार ओंकार माया का रूप माना जाएगा। अतः माण्डूक्योपनिषद् और सन्तों के सृष्टि सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि सन्तों ने ओंकार को माया का रूप अथवा कारण कहा है और माया के व्यावहारिक रूप को प्रधानता दी है किन्तु माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार को जगत का कारण और त्रिकाल रूप कहा गया है। माया के व्यावहारिक पक्ष का विवरण हमको माण्डूक्योपनिषद् में नहीं मिलता। आत्मा की तीन अवस्थाओं का उल्लेख सन्तों ने भी किया है। पंचभूतों और तीन गुणों अथवा प्रकृति का उल्लेख यद्यपि माण्डूक्य उपनिषद् में नहीं मिलता परन्तु विश्व और तैजस आत्मा के उन्नीस मुखों के अन्तर्गत, शङ्कर की व्याख्या के अनुसार, इनका अन्तर्भाव हो जाता है। तीनों मात्राओं और पादों से अतीत तुरीय आत्मा के गुण और आकार रहित स्वरूप के पारमार्थिक सत्य रूप को जिस प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में लक्ष्य किया गया है उसी प्रकार सन्तों ने भी अविद्यात्मक ओंकार से आत्मा को भिन्न मानकर उसकी पारमार्थिक सत्ता की प्रतिष्ठा की है।

---

९६ साधो आदि ओंकार शब्द का सार
अच्छर शब्द सोच फले नहिं पायो है। साधो मारग की रतनावली।

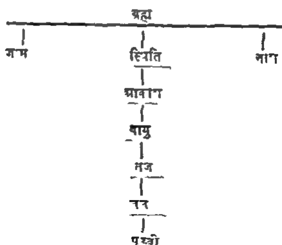
सन्तों द्वारा ओंकार से सृष्टि का विकास स्वीकार करना सन्त काव्य और दर्शन साहित्य के लिए महत्व की बात है। सन्तों द्वारा ओंकार की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि सन्त वर्ण और आश्रम धर्म के अधिकारी न होते हुए भी वैदिक ज्ञान के विरोधी नहीं हैं। ओंकार की स्वीकृति इस बात की सूचना देती है कि सन्त अपने सिद्धान्त में बौद्ध दर्शन में प्रचलित शून्य को स्थान देते हुए भी ब्रह्म को ही सत्य करते हैं। सन्तों ने ओंकार को महत्व देकर यह भी प्रमाणित कर दिया कि उपनिषद् सम्मत सिद्धान्तों और सन्तों के सिद्धान्त में कोई मौलिक विषमता नहीं है।

वस्तुतः माण्डूक्योपनिषद् की सामग्री का प्रामाणिक अर्थ समझने के लिये शाङ्कर माध्यम रूप हैं। माण्डूक्योपनिषद् में प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को हम शाङ्कर के भाष्य से ही समझते हैं। अतः शङ्कर का भाष्य हमारे लिए अध्ययन का आवश्यक साधन है। सन्तों के सिद्धान्तों से जब हम माण्डूक्य उपनिषद् सम्मत ओंकार सिद्धान्त की सगति बढ़ाते हैं तो शङ्कर द्वारा प्रतिपादित माया अथवा अविद्या सिद्धान्त की छाया उस पर पड़नी अनिवार्य हो जाती है। सन्तों ने शाङ्कर अनुमोदित माया के विवर्त सिद्धान्त को स्वीकार करके यह प्रमाणित किया है कि सन्त काव्य और शाङ्कर अद्वैत वेदान्त में आधारभूत भेद नहीं है। अतः ओंकार की मायारूपता का जब हम विचार करते हैं तो शङ्कर और सन्त एक ही आधार पर स्थित दिखाई देते हैं। यद्यपि माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार की अविद्यात्मकता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु शाङ्कर ने भाष्य में अविद्या सिद्धान्त को स्वीकृति देते हुए सन्तों के अनुसार प्रतिष्ठित ओंकार की मायारूपता का मार्ग स्पष्ट कर दिया। यद्यपि माण्डूक्योपनिषद् में पंचभूतों और त्रिगुणात्मक प्रकृति का उल्लेख नहीं हुआ है परन्तु निर्गुण काव्य में माया का स्वरूप प्रकरण में हम शङ्कर के मतानुसार प्रकृति को माया और पंचभूतों को मायिक कह चुके हैं। अतः सन्त यदि ओंकार को माया और विकारों का स्वरूप मानते हैं तो शङ्कर मत से उसका विरोध नहीं कहा जा सकता।

शङ्कर और सन्तों की दृष्टि से ओंकार का दूसरा विचारणीय पक्ष है आत्मा की माया से असंगता का। आत्मा का तुरीय रूप आत्मा को गुणरहित आकार और व्यवहाररहित निश्चित करता है। शङ्कर ने आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप में आत्मा को इसी प्रकार निरुपाधिक माना है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सन्तों ने भी आत्मा के पारमार्थिक रूप को ओंकार द्वारा प्रसारित माया के आकारों और व्यवहारों से अतीत माना है।

शङ्कर ने स्वतन्त्र रूप से कहीं भी सृष्टि क्रम का विवेचन नहीं किया। जैसा कि हम सृष्टि के सम्बन्ध में विवर्त भावना का विवेचन करते हुए शङ्कर और सन्तों में सृष्टि के विवर्त सिद्धान्तों में मतैक्य कह चुके हैं हम यहाँ कह सकते हैं कि दोनों का प्रधान लक्ष्य सृष्टि की अविद्यात्मकता का कथन करना है। किन्तु उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में सृष्टि का क्रम वर्णित है और शङ्कर ने उनका भाष्य मनोयोग से किया है तथा सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता स्वीकृत की है। इसी प्रकार सन्तों के अनुसार भी हमको सृष्टि का क्रम प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में शङ्कर और सन्तों की तुलना करना अनावश्यक है क्योंकि दोनों के सिद्धान्तों में ही सृष्टि क्रम की व्यावहारिक अथवा गौण स्थिति है। फिर उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और सन्त काव्य में सृष्टि क्रम की समता या विषमता के दृष्टिकोण से सन्तों के अनुसार सृष्टि क्रम प्रस्तुत करना अनुपयोगी न होगा।

ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों में सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति कही गई है। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति ब्रह्मसूत्रों में कही गई है। इस क्रम को हम इस प्रकार व्यवस्थित कर सकते हैं :



इस क्रम के अनुसार हम ब्रह्मसूत्रों की व्यवस्था इस प्रकार करेंगे —

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा　　ब्रह्मसूत्र ।१।१।१।

जन्माद्यस्य यत　　ब्रह्मसूत्र ।१।१।२।

|

न वियदश्रुते　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।१।

अस्ति तु　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।२।

|

एतेनमातरिश्वा व्याख्यात　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।८।

|

तेजो_तस्तथा ह्याहि　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।१०

|

आप　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।११।

|

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य　　ब्रह्मसूत्र ।२।३।१२

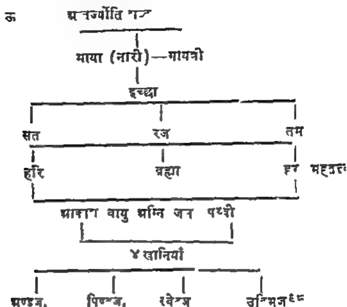
साधारणत हम कह सकते हैं कि उपयुक्त ब्रह्मसूत्रो म स्थापित क्रम सत्ता मे ज्यो-का-त्यो नही मिलता।

गोरखनाथ के अनुसार अविगत से ऊ की उत्पत्ति हुई। ऊ से आकाश, आकाश से वायु वायु से तेज तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गई है। गोरखनाथ के अनुसार नाद की छाया वायु ईश्वर की काया व तेज विष्णु की माया जल ब्रह्मा का वरण पृथ्वी देवी का रग कहा गया है। पच तत्त्वो का क्रम तो ब्रह्मसूत्रो मे मिलता है परन्तु आकार तथा अविगत का क्रम ब्रह्मसूत्रो मे निश्चित नहा किया गया। हम गोरखनाथ के अनुसार सृष्टि क्रम को इस प्रकार क्रम म व्यवस्थित कर सकते हैं —

अविगत	नाद
|	
ऊ	
|	
आकाश	नाद की छाया
|	
वायु	ईश्वर की काया
|	
तेज	विष्णु की माया
|	
जल	ब्रह्मा का वरण
|	
पृथ्वी	देवी का रग

९७ इस सम्बन्ध में उद्धरण इसी प्रकरण के गत पृष्ठों पर देखिए।

सन्त कबीरदास के अनुसार हम सृष्टि क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं —

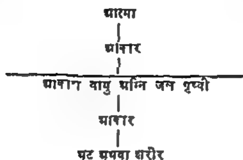


सन्त कबीर के अनुसार ओंकार सृष्टि का आदि मूल तत्त्व है। इससे माया, नारी अथवा गायत्री का जन्म हुआ। गायत्री की इच्छा से त्रिगुण और त्रिदेव उत्पन्न हुए। इनसे पाँचभूत और जीवों की चार खानियाँ उत्पन्न हुई।

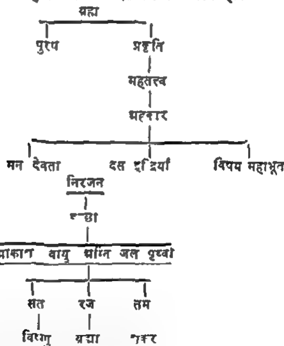
सन्त दरियादास के अनुसार आत्मा से ओंकार की उत्पत्ति हुई। ओंकार

६८ अन्तर्जोति शब्द एक नारी
हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।
हरि हर ब्रह्मा महतो नाऊ। कबीर बीजक। रमैनी।
इच्छा रूप नारि अवतरी
तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारी के पुत्र तिन भाऊ
ब्रह्मा विष्णु महेसुर नाऊ। कबीर बीजक। रमैनी।२।
सत रज तम थें कीन्ही माया।
चारि खानि विस्तार उपाया।
पंच तत्त्व ले कीन्ह बंधान। कबीर ग्रन्थावली। रमैनी।
ऊंकार आदि है मूल। कबीर ग्रन्थावली। रमैनी।

से पंचभूत और आकारों की उत्पत्ति हुई। पुनः इनसे घट अथवा शरीर की रचना हुई —



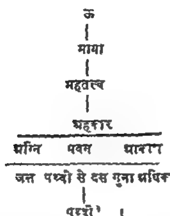
संत सुन्दरदास के अनुसार सृष्टि की इस क्रम में व्यवस्था होगी —



संत चरनदास के अनुसार पहले धरती और धरती से दस गुना जल उत्पन्न हुआ। अग्नि पवन और आकाश तत्वों की रचना अहंकार और अहंकार

६६ ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई,
प्रकृति ते महत्तत्व अहंकार है।
अहंकार हू ते तीनि गुन सत रज तम,

की रचना महतत्त्व से हुई। महतत्त्व माया से और माया ओंकार से उत्पन्न हुई। इनके अनुसार सृष्टि क्रम इस प्रकार है —



इन सभी क्रमों में ओंकार को सृष्टि के मूल में प्रधान कारण माना गया है। अत हम यही निश्चित करते हैं कि संतों ने मुख्यतः ओंकार को ही सृष्टि का मूल कारण माना है। ब्रह्मसूत्रों में स्थापित क्रम का अनुसरण संतों ने नहीं किया। उपर्युक्त क्रमों में अण्डज आदि चार खानियों का जो विवरण मिलता है, वह ऐतरेय उपनिषद् के आधार पर है[101]।

तनहूँ ते महाभूत निज प्रगट है।
इन्हूँ ते इन्द्री सब प्रगट भये
मन हू जनि अनि इन्द्री विचार है।
प्रथम निरंजन ब्रह्मा मन में बहु ज्ञानी।
पांच तत्त्व गुन तीनि ते सब सृष्टि उपानी।
व्योम वायु पावक जल भूमि निदाना।
राजस सात्त्विक तामस तीनों विधि ठाना।
स्वेदज अण्डज जरायुज उद्भिज उपजाना। सुन्दर ग्रन्थावली। ज्ञान १।

१०० पहले धर्ती तत्त्व हिय में आनिये
ताते दसगुनो नीर जाय में जानिये।
बहुरि अग्नि अरु पवन और आकाश है
परम महत जु तत्त्व सरस परकाश है।
महत्त्व जैसो ज्ञान जु चित में आनिये
परम ज्ञान रूप सकल सच्चिदानंद। भक्ति सागर।

१०१ अण्डजानि जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि।
आत्मा नेदम्। ऐतरेय उपनिषद्। ३।१।३।

सत्रहवाँ प्रकरण

निर्गुण काव्य में माया का स्वरूप

माण्डूक्य कारिका भाष्य में आचार्य शङ्कर ने अविद्यमान वस्तु को ही माया कहा है[1]।

साधु शान्तिनाथजी की माया शब्द की व्याख्या के अनुसार माया शब्द से सत् (ब्रह्म) से विलक्षण विश्व का मूल उपादान समझा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि की दृष्टि से जो उसका उपादान कारण है और जो विश्व के अधिष्ठान सच्चित् स्वरूप ब्रह्म की दृष्टि से उसमें स्वरूपतः विद्यमान नहीं है परन्तु उसी के आश्रित है, उसी सत् या असत् से अनिर्वचनीय पदार्थ को माया कहते हैं। यद्यपि माया रूप से कोई भी पदार्थ किसी के अनुभवगोचर नहीं होता किन्तु जो सब शास्त्रों में प्रसिद्ध अज्ञान है उसी का नाम माया है। अधिष्ठान में विकार न उत्पन्न करके उसमें अनेकों प्रकार की विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होने के कारण अद्भुत सामर्थ्य की दृष्टि से अज्ञान की परिभाषा माया है[2]।

माया न * 'मा + या' दो पदों को मिलाकर बनता है। इनमें मा पद व्यावहारिक प्रमाण सत्ता का निषेध करता है और 'या' पद व्यावहारिक प्रमाण सम्बन्ध निश्चित करता है। 'मा' का अर्थ है नहीं और 'या' का अर्थ है 'जो' अर्थात् जिस वस्तु की स्थिति न हो किन्तु उपलब्धि होती हो वह माया पदबोधक है।

वस्तु की जिस रूप में उपलब्धि होती है वह वस्तुतः वैसी नहीं है—जैसे अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम होना। वस्तुतः रज्जु का अस्तित्व तो है किन्तु अन्धकार के कारण रज्जु की उपलब्धि न होकर सर्प की स्वाभाविक बुद्धि उत्पन्न होती है। रज्जु में सर्प का अस्तित्व नहीं है तो भी सर्प की

---

१ सच न माया न विद्यते मायेत्यविद्यमानस्याख्येत्यभिप्रायः।
माण्डूक्यकारिका भाष्य। अलात शान्ति प्रकरण।

२ मायावाद्। बजरंगी। साधु शान्तिनाथ। कल्याण। वेदान्त अंक।

प्रतीति होती है। इसी प्रकार यद्यपि सर्प का अस्तित्व वस्तुतः नहीं है तो भी सर्प का भान कराने वाली रज्जु अस्तित्व में है। इस प्रकार सर्प की प्रातिभासिक सत्ता का अधिष्ठान रज्जु त्रिकाल में भी बाधित नहीं होता। इसी दृष्टान्त के आधार पर माया के अस्तित्व की कल्पना हम ब्रह्म में कर लेते हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि वस्तुतः अस्तित्व ब्रह्म का ही है किन्तु अविद्यावश मनुष्य ब्रह्म के अधिष्ठान में माया का आरोप कर लेता है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक पक्ष यह भी हो सकता है कि माया सर्वथा अभाव और भाव से विलक्षण रूप है। शङ्कर माया को न भाव मानते हैं और न अभाव, वरन् माया की अनिर्वचनीय सत्ता का प्रतिपादन करना ही उनका लक्ष्य है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा को 'जालवान' अर्थात् जालवाला कहा गया है[३]। आचार्य शङ्कर ने माया को जाल कहा है[४]। गीता भाष्य में आचार्य शङ्कर का कथन है कि कूट नाम माया का है जिसके वञ्चना, छल, कुटिलता आदि पर्याय हैं[५]। वृत्तिप्रभाकर में माया को दुर्घट का सम्पादन करने वाली कहा गया है। माया में कार्य की विलक्षण क्षमता है। माया के द्वारा असम्भव कार्य भी सम्भव होते हैं। अतः इसको दुर्घट का सम्पादन करने वाली कहा जाता है[६]। माया के स्वरूप में छलना, वञ्चना, कुटिलता, मिथ्यात्व एवं असम्भव को भी सम्भव करने वाली आदि के लक्षण आरोपित किए जाते हैं। वृत्तिप्रभाकर में ही माया को अज्ञान कहा गया है। इस अज्ञान के दो रूप हैं—आवरण और विक्षेप। ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान में अज्ञान के ये दोनों ही रूप बाधक हैं। विद्या से माया का नाश होता है अतः 'वृत्तिप्रभाकर' में माया को ही अविद्या कहा गया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, एवं पृथ्वी इन पञ्चभूतों द्वारा उत्पन्न कार्यों का उपादान रूप होने के कारण इसको प्रकृति कहा गया है। माया ही ब्रह्म की शक्ति कही जाती है। जिस प्रकार शक्ति का आश्रय कोई शक्तिमान पुरुष होता है उसी प्रकार माया-शक्ति का आश्रय ब्रह्म है। शक्ति शक्तिमान के आधीन होती है और मायारूप शक्ति भी ब्रह्म के आधीन है, अतः वृत्तिप्रभाकर में माया को शक्ति नाम से अभिहित

३ य एको जालवानीशत ईशनीभिः। श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।१।
४ य एकः परमात्मा स जालवान् जालं माया दुरत्ययात्।
श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य ३।१।
५ कूटो माया वञ्चना जिह्मता कुटिलता इति पर्यायाः। गीता भाष्य १५।१६।
६ वृत्तिप्रभाकर।

किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य में शङ्कर ने माया को योनि, कारण अव्याकृत आकाश, परमव्योम प्रकृति शक्ति तम अविद्या छाया, अज्ञान अनृत और अव्यक्त शब्द द्वारा अभिहित किया है[७]।

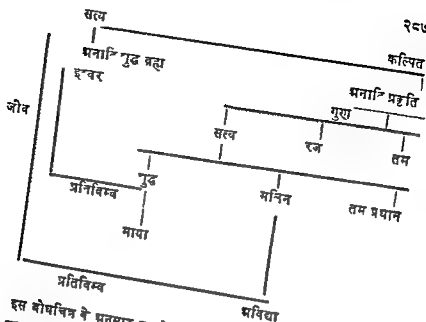
विवेकचूडामणि के अनुसार माया सत्व, रज और तम गुणों से युक्त है। *यह अनादि अविद्या स्वरूप है और परमात्मा की शक्ति है। माया ही जगत को* उत्पन्न करती है। माया का अनुमान माया जनित कार्यों को देख कर होता है जिस प्रकार किसी कुमारी के पुत्र जन्म की कथा सुनकर लोक में यह अनुमान किया जाता है कि अमुक कुमारी का किसी पुरुष से संयोग अवश्य हुआ है इसी प्रकार जगत रूप कार्य को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि जगत्कार्य मायाकृत कार्य ही है क्योंकि ब्रह्म तो वस्तुतः सृष्टि नहीं करता है। ब्रह्म तो कर्तृत्व भोक्तृत्व भावों से शून्य है। उसमें सृष्टि का आरोप नहीं हो सकता है। अतः विवेकचूडामणि में माया को माया-कार्यों से होने वाले अनुमान द्वारा विज्ञेय होने वाली कहा गया है[८]।

विचारचन्द्रोदय में कहा गया है कि अनादि शुद्ध ब्रह्म में अनादि प्रकृति कल्पित है। इस अनादि कल्पित प्रकृति का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है परन्तु वह सम्बन्ध वास्तविक नहीं वरन् मिथ्या है। प्रकृति के सम्बन्ध का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है। कल्पित भेद के सहित ब्रह्म से इस प्रकृति का अभेद है। *विचारचन्द्रोदय के अनुसार माया अविद्या और तम प्रधान प्रकृति तीन* प्रकार से विभक्त हो जाती है। शुद्ध ब्रह्म में प्रकृति का शुद्ध सत्वगुण रूप माया कहलाता है एवं मलिन सत्वगुण युक्त प्रकृति का रूप अविद्या कहलाता है। तमोगुण की प्रधानता से तम प्रधान प्रकृति का विभाग किया जाता है। इस विवरण को हम इस प्रकार क्रम में रख सकते हैं —

---

७ कारणमव्याकृतमाकाश परमव्योम माया प्रकृति शक्तिस्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतमव्यक्त मित्येवमादि शब्दैरभिधीयमान। श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य।

८ अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।११०।। विवेकचूडामणि।



इस बोधचित्र के अनुसार हम देखते हैं कि केवल ब्रह्म एकमात्र शुद्ध सत्य है। परन्तु प्रत्यक्ष तो हम ब्रह्म को नहीं देखते। प्रत्यक्षत तो हम संसार के मायिक रूप को ही देखते हैं। नित्य ब्रह्म के स्थान पर अनित्य जगत को हम देखते हैं। सुख के स्थान पर दुःख और अमृत के स्थान पर मृत्यु देखते हैं। एक ब्रह्म के स्थान पर हम अनेक पदार्थ देखते हैं। अत अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के समानान्तर माया, ज्ञान के समानान्तर अविद्या एवं एक के समानान्तर अनेक रूपों की प्रतिष्ठा करके केवल अद्वैत नित्य शुद्ध एवं सत्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। इस विवरण में ब्रह्म और माया दोनों को अनादि कहा गया है। किन्तु ब्रह्म को अद्वितीय सत्य कहकर माया को मिथ्या कहा गया है। अब प्रश्न है कि सत्य स्वरूप ब्रह्म का संसर्ग दोषयुक्त माया से किस प्रकार हो गया है। ऊपर बोधचित्र में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्रह्म और माया दोनों ही अनादि हैं। दोनों के संयोग होने से जगत के व्यवहारों का सूत्रपात होता है। किन्तु ब्रह्म वस्तुत माया के गुणों से दूषित नहीं होता। दोष का आदेश करना भी व्यावहारिक और औपाधिक है।

उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्रों एवं आचार्य शङ्कर के सिद्धान्तों में माया के स्वरूप को हम इन रूपों में देखेंगे —

१ ब्रह्म मायापति है।

२ माया ब्रह्म की शक्ति है।

३ अनात्म अध्यास एवं उपाधि द्वारा माया व्यक्त होती है।

४ माया अनादि है किन्तु ब्रह्म ज्ञान से इसका बाध होता है।

५ माया न भाव रूप है और न अभाव रूप। माया की अनिर्वचनीय सत्ता है।

६ समस्त इन्द्रियगोचर विषय जगत व्यवहार के प्रति अभिमुख बहिर्मुखी वृत्तियाँ अनित्य अनात्म एवं जड पदार्थ माया के रूप हैं।

उपनिषदों में बृहदारण्यक उपनिषद् प्रश्न उपनिषद और श्वेताश्वतर उपनिषद में माया पद का प्रयोग मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रयुक्त माया पद सृष्टि की अनेकरूपता का वाचक है। इसमें कहा गया है कि इन्द्र माया से अनेक रूप धारण करता है[९]। प्रश्न उपनिषद् में कहा गया है कि जिनमें कुटिलता अनृत और माया नहीं है उन्हें ब्रह्मलोक प्राप्त होता है[१०]। यहाँ माया का सम्बन्ध साधक की नैतिकता से है। इस स्थल पर भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने माया को गृहस्थ जीवन की कुटिलता एवं व्यावहारिक असत्य रूप से सम्बन्धित माना है। उन्होंने मिथ्याचार को भी माया कहा है[११]।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसी आधार पर श्वेताश्वतर भाष्य में आचार्य शङ्कर ने शक्ति को ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीन रूपों में पृथक् पृथक् माना है। आचार्य शङ्कर के अनुसार ये त्रिदेव अनिर्वच ब्रह्म में उपलब्ध नहीं होते। ये परब्रह्म के सृष्टि, स्थिति और प्रलय-कार्य करते हैं। अतः अवस्था भेद के कारण इनमें शक्ति भेद का व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः इनमें तात्त्विक भेद नहीं है[१२]। उपाधि अविद्या का अंग है और अविद्या स्वाभाविक और

---

९ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृहदारण्यक उपनिषद्। २।५।१९।

१० तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। प्रश्न उपनिषद्। १।१६।

११ तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते। माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा। प्रश्न उपनिषद् भाष्य। १।१६।

१२ शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः।
ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मप्रधाना ब्रह्मशक्तयः॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य।
स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः। सत्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः स वायुराधि
मन्त्रधारस्वरूपेण निरुपाधिकपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमाना।
परस्यैव ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकार्य कुर्वन्त्यवस्थाभेदमाश्रित्य शक्तिभेदव्यवहारो न पुनस्तत्त्व
भेदमाश्रित्य। तथा चोक्तम्—समस्थितान्तःकरणैर्ब्रह्मविष्णुशिवादिकाम्।
स एको भगवानेक एव जनार्दन। श्वेताश्वतर उपनिषद्।
प्रथममीश्वरात्मना मायिरूपेणावतिष्ठते ब्रह्म। स पुनर्मूर्तिरूपेण त्रिधा व्यवतिष्ठते।
श्वेताश्वतर उपनिषद्।

अनादि है[13]। अतः ब्रह्म की यह औपाधिक शुद्धरूपता स्वाभाविक और अनादि है क्योंकि अध्यास के सम्बन्ध में अविद्या नैसर्गिक और अनादि कही गई है। इस प्रकार ब्रह्म की निरुपाधिकता सुरक्षित रहती है और अविद्या सिद्धान्त की स्थापना होती है। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्म जगत् और जीव दोनों का स्वरूप है परन्तु जीव और जगत् ब्रह्म स्वरूप के आच्छादक हैं। यह आच्छादन ही ब्रह्म की शक्ति है। विवेकचूडामणि में यह शक्ति आवरण और विक्षेप दो नामों से कही गई है। जिस प्रकार किसी दुर्दिन में सघन मेघों के द्वारा सूर्य देव के आच्छादित होने पर अति भयंकर और ठण्डी आँधी सबको खिन्न कर देती है उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत्त होने पर मूढ़ पुरुष को विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त करती है। ये दोनों शक्तियाँ ही जीव की बन्धन-कारण हैं। इनके कारण प्राणी देह को आत्मा मान कर पुनर्जन्म को प्राप्त होता है[14]। इस प्रकार शक्ति का स्वरूप आवरणमय है। यह आवरण ही इन्द्रियों को बहिर्मुखी बना देता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही माया का सम्बन्ध त्रिगुणात्मक सृष्टि के साथ माना गया है।[15] गीता में माया को ज्ञान हरने का साधन कहा है। माया द्वारा हर लिये गये विवेक वालों को दुष्कर्म करने वाला, मूढ़ नराधम और आसुर भावों से युक्त होना कहा है। गीता में ही कहा गया है कि माया सत्त्व रज और तम गुणों से युक्त होते हुए भी दैवी है[16]। माया के लिए दैवी शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि माया ही ईश्वर की शक्ति है। यह माया अपार है

१३ पदार्थों की नियत शक्ति को शंकर ने स्वभाव कहा है।
स्वभावो नाम पदार्थानां प्रति नियता शक्तिः अग्नेरौष्ण्यमिव।
श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य।

१४ कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैः,
व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥ विवेकचूडामणि।
एतस्मादेव शक्तिद्वयात् बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्। विवेक चूडामणि। १४६।

१५ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद्। ४।१०।
मायी सृजते विश्वमेतत्। श्वेताश्वतर उपनिषद्। ४।९।

१६ न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ गीता। ७।१५।

किन्तु भगवान के भक्त इस माया से पार हो जाते हैं[१७]। गीता में ईश्वर को हृदय देश में स्थित रहने वाला कहा है और माया द्वारा यन्त्र में चढ़े हुए मनुष्य के समान प्राणी का घुमाया जाना कहा है[१८]। इस प्रकार गीता में हम देखते हैं कि माया पद से आचार व्यवहार की प्रेरणा और प्राणी की बन्धनरूपता व्यक्त की गई है। ब्रह्मसूत्रों में माया पद का एक बार प्रयोग हुआ है। ब्रह्मसूत्रों में ही स्वप्न की सृष्टि को माया मात्र कह कर स्वाप्न पदार्थों की निराधारिता कही गयी है[१९]। यहाँ माया पद स्वप्न का समानार्थी है। जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ मिथ्या होते हैं उसी प्रकार मायिक पदार्थ भी मिथ्या होते हैं। तत्वबोध में माया को ब्रह्म की आश्रिता माना है। तत्वबोध के अनुसार माया सत्त्व रज और तम गुणों का रूप है[२०]।

माया पद दूषित भाव का द्योतक है। माया व्यवहार के अनाचारों को प्रेरणा देती है। माया ही आत्मा के बन्धन का कारण है। माया उपाधि रूप में होने के कारण जीव को आत्मस्वरूप बोध से वंचित रखती है। सृष्टि की रचना का कारण भी माया है। अद्वैत स्वरूप ब्रह्म को अनेक रूपों में भासित कराने वाली माया ही है। माया के भ्रम में पड़ कर ही जीव आत्म स्वरूप से विमुख हो जाता है। इसके कारण ही नित्य ब्रह्म स्वरूप से च्युत होकर आत्मा इन्द्रियजन्य विषयों में लिप्त हो कर अपने वास्तविक पारमार्थिक स्वरूप को विस्मृत कर देता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि ऋषियों ने ध्यान योग के द्वारा काल से लेकर आत्मा पर्यन्त कारणों के अधिष्ठान ब्रह्म की शक्ति का साक्षात्कार कर लिया[२१]। इसी उपनिषद में निर्विशेष एक वर्ण ब्रह्म का अनेक

---

१७ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ गीता। ७।१४।

१८ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता। १८।६१।

१९ मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। ब्रह्मसूत्र। ३।२।३।

२० ब्रह्माश्रया सत्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति। तत्वबोध २६।

२१ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्।
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः। श्वेताश्वतर उपनिषद्। १।३।

रूप होना कहा गया है। ब्रह्म अपनी शक्ति के योग से बिना प्रयोजन के नाना विध सृष्टि करता है। अन्त में विश्वरूप सृष्टि ब्रह्म में ही लीन हो जाती है[22]। ब्रह्म की शक्ति अनेक विध है। ब्रह्म का ज्ञान, बल और क्रियाएं स्वाभाविक हैं।

ब्रह्म का कोई कार्य नहीं है और न कार्य करने के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य साधन या शक्ति है[23]। गीता में माया के लिए शक्ति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उसमें ही कहा गया है कि प्रकृति को वश में करके ईश्वर सृष्टि की रचना पुनः पुनः करता है[24]। इसी प्रकार ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जड़ और चेतन पदार्थों की रचना करती है। ब्रह्मसूत्र में भी अव्याकृत माया शक्ति को ब्रह्म के आधीन कहा गया है[25]। आचार्य शङ्कर के अनुसार जगत की प्रागवस्था परमेश्वर के आधीन है। शक्ति को ब्रह्म के आधीन न मानने से परमेश्वर स्रष्टा नहीं हो सकता क्योंकि शक्ति रहित होने से सृष्टि में ब्रह्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती[26]।

इस प्रकार माया की शक्तिरूपता के सम्बन्ध में ये बातें निश्चित होती हैं —

१ माया-शक्ति ब्रह्म के अधीन है।

२ माया शक्ति ही सृष्टि कार्य रूप में प्रकट होती है।

३ ब्रह्मा विष्णु और शिव रज सत और तम गुणों के रूप हैं। और ये ही सृष्टि करते हैं। किन्तु ब्रह्म की ये तीनों शक्तियाँ ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व नहीं रखतीं।

---

२२ य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्,
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः,
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् ।१।

२३ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् ।६।८।

२४ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। गीता ।६।८।

२५ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ गीता ।९।१०।

२६ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ।४।१०।

४ आवरण और विक्षेप दो प्रकार की शक्तियाँ विवेक चूड़ामणि में मानी गई है। ये शक्तियाँ जीव को ब्रह्म स्वरूप से पृथक करती हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि प्रकृति को माया और महेश्वर को मायावी जानना चाहिये। गीता में आठ प्रकार की प्रकृति कही गई है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंच भूत इस प्रकृति के ही अंग हैं। इनके अतिरिक्त मन, बुद्धि और अहंकार एवं पंचभूत मिलकर अष्टधा प्रकृति कहलाते हैं[२७]। इसको अपरा प्रकृति भी कहते हैं। अपरा प्रकृति ही संसार बंधन का कारण है। प्रकृति का दूसरा भेद परा प्रकृति है। परा प्रकृति संसार को धारण करती है। आचार्य शङ्कर ने अपरा को निकृष्ट और परा को शुद्ध प्रकृति कहा है[२८]। सृष्टि के प्रलय काल में प्राणी प्रकृति में समाहित हो जाते हैं और पुनः प्रकृति ही दूसरे रूप में सृष्टि की रचना करती है। ईश्वर की अध्यक्षता में ही प्रकृति जड़ और चेतन सृष्टि उत्पन्न करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति, शक्ति और माया सभी तत्त्व एकमात्र अद्वितीय ईश्वर के अधीन हैं। इनमें स्वरूपगत भेद नहीं है केवल कार्य की विशिष्टता के आधार पर इनमें नाम मात्र का भेद है[२९]।

अब हम पुनः प्रकृति के स्वरूप का वर्णन करते हैं। प्रकृति गीता के अनुसार अनादि है। विकारों और गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से ही होती है[३०]। आत्मा शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों के संयोग से ही सुख और दुःख का भोग करता है। गीता के अनुसार इस प्रकार प्रकृति ही निरुपाधिक निर्विकार आत्मा को बंधन में सुख और दुःखों का अनुभव कराती है[३१]।

---

२७ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। गीता। ७।४।

२८ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। गीता। ७।५।
अपरा ... निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसारबन्धनात्मिका इयम्। विशुद्धां प्रकृतिं मम आत्मभूतां विद्धि मे परां प्रकृष्टां जीवभूतां क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूतां हे महाबाहो यया प्रकृत्या इदं धार्यते जगत् अन्तः प्रविष्टया। गीता भाष्य। ७।५।

२९ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। गीता। ९।७।

३० प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्। गीता। १३।१९।

३१ ... हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। गीता। १३।२०।

पुरुप नाम वाला जीव प्रथवा प्रात्मा इस प्रकृति मे ही स्थित रह कर प्रकृति के गुणो से उत्पन्न भोगा को भोगता है। भोगो न परिणामस्वरूप जीव को सद और असद योनियाँ धारण करनी पड़ती हैं[32]। ब्रह्म स्वरुप जीव वस्तुत मत त्व भोक्तृत्व से रहित है किन्तु प्रकृति ही जीव के माध्यम से कम करती है[33]। शरीर इन्द्रियाँ प्रकृति क परिणाम हैं। प्राचाय शङ्कर का कथन है कि प्रकृति द्वारा ही मन, वाणी और शरीर से होने वाले सारे कम सम्पादित किये जाते हैं[34]। सत्व, रज और तम गुणों की प्रकृति द्वारा रचना होती है। यही जीव को बन्धन म डालती है[35]।

सत्व रज और तम प्रकृति के तीन गुण हैं। विवेक चूडामणि मे सत्वगुण को जल के समान शुद्ध कहा गया है। परन्तु सत्वगुण म रज और तम का सयोग होने पर जीव के ससार बन्धन का कारण होता है। इस सत्वगुण म ही आत्मा प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार सूय प्रकाशित होकर पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा सत्वगुण म प्रतिबिम्बित होकर समस्त जड पदार्थों को प्रकाशित करता है[36]।

विवक चूडामणि म सत्वगुण शुद्ध और मिश्र दो प्रकार का कहा गया है। शुद्ध सत्वगुण मे प्रसन्नता आत्मानुभव परम शान्ति तृप्ति आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति और परमात्मा म स्थिति होती है। इस शुद्ध सत्वगुण से मुमुक्षु नित्यानन्द रस प्राप्त करता है[37]। मिश्र सत्वगुण मे अमानित्व इत्यादि यम

---

३२ पुरुष प्रकृतस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान।
कारण गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। गीता। १३।२१।

३३ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश।
य पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति। गीता। १३।२९।

३४ तया प्रकृत्या एव च——वाङ्मन कायारभ्याणि निर्वर्त्यमानानि। गीता भाष्य। १३।२९।

३५ सत्व रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवा।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम। गीता। १४।५।

३६ सत्व विशुद्ध जलवत्तथापि ताभ्या मिलित्वा सरणाय कल्पते।
यत्रात्मबिम्ब प्रतिबिम्बित सन प्रकाशयत्यर्क इवाखिल जडम्। विवेकचूडामणि।११६।

३७ विशुद्धसत्वस्य गुणा प्रसाद
स्वात्मानुभूति परमा प्रशान्ति।
तृप्ति प्रहर्ष परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरस समृच्छति। विवेक चूडामणि। १२१।

नियमादिश्रद्धा भक्ति मुमुक्षुता दवी सम्पत्ति मे निष्ठा तथा असत का त्याग होता है[३८]। रजोगुण माया की विक्षेप शक्ति जिसका उल्लेख इसी प्रकरण म ब्रह्म की शक्तिरूपता के प्रसग मे पीछे हो चुका है—से युक्त होता है। रजोगुण में क्रिया का भाव होता है अर्थात विक्षेप शक्ति के कारण रजोगुण की प्ररणा से ही प्राणी क्रियायें करता है। प्रकृति रजोगुण की इस विक्षेप शक्ति से अनादि काल से क्रिया को प्ररित करके राग और दुःखो तथा मन के विकारो को उत्पन्न करती आ रही है[३९]। काम क्रोध लोभ दम्भ, असूया अर्थात गुणो म भी दोष दर्शन करना अभिमान, ईर्ष्या और मत्सर ये रजोगुण के धम है। रजोगुण के कारण जीव कर्मो मे प्रवत्त होता है और इस प्रकार रजोगुण ही कम को प्ररित करके जीव को बन्धन मे डालता है[४०]।

तमोगुण के कारण वस्तु कुछ की कुछ दिखाई दती है। यही तमोगुण की आवरण शक्ति है। यह तमोगुण ही ससार का मूल कारण है और जीव के बन्धन का कारण है। रजोगुण की मूलभूत विक्षेप शक्ति के प्रसार का कारण भी यही तमोगुण है। तमोगुण की आवरण शक्ति बडी प्रबल है[४१]। तमोगुण से ग्रस्त पुरुष चाहे कितना ही बुद्धिमान चतुर एव शास्त्रो के अध्ययन मे निपुण हो तो भी उसम विवेक नही होता। तमोगुण से युक्त पुरुष भ्रम से आच्छादित किये हुए पदार्थों को ही सत्य समझता है एव असत्य पदार्थों के

३८ मिनरय नरवन्य भर्व ८ भमा
रवमानिनाध्या नियमा यमाथा ।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च
दवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्ति । १२ । विवेकचूडामणि।

३९ विक्षेपशक्ती रजस क्रियात्मिका
यत प्रवत्ति प्रसता पुराणी।
रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्य
दु खादयो ये मनसो विकारा ।।११३। विवेकचूडामणि।

४० काम क्रोधा लोभदम्भाद्यसूया
हकारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोरा ।
धर्मा एते राजसा पुम्प्रवत्ति
यस्मात्तद्रजो बन्धहेतु । ११४। विवेकचूडामणि।

४१ एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते
विक्षेपशक्ते प्रसरस्य हेतु । ११५। विवेकचूडामणि।

गुणों का ही आश्रय लेना है[४२]। तमोगुण की आवरण शक्ति के कारण मनुष्य को ऐसा ज्ञान होता है कि ब्रह्म नहीं है। इसको अभावना भी कहते हैं। मैं शरीर हूँ ऐसा ज्ञान भी तमोगुण के कारण होता है। इसको विपरीत भावना कहते हैं। ब्रह्म की स्थिति को असम्भव समझना असम्भावना कहलाती है। यह असम्भावना भी तमोगुण के कारण होती है। ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह सन्देह करना कि ब्रह्म है अथवा नहीं है यह विप्रतिपत्ति भावना कहलाती है। ये सभी तमोगुण से उत्पन्न हुई भावनायें हैं और इनके कारण चित्त स्थिर नहीं रहता। ये भावनायें तमोगुण की शक्तियाँ हैं। विक्षेप शक्ति भी मनुष्य की भावना को दृढ़ नहीं होने देती[४३]। अज्ञान, आलस्य जड़ता निद्रा, प्रमाद और मूढ़ता ये तमोगुण के काम हैं। इनसे युक्त मनुष्य कुछ भी नहीं समझता। तमोगुणी मनुष्य स्तम्भ के समान जड़ कहा गया है[४४]।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम शंकर मतानुसार प्रकृति का स्वरूप इस प्रकार निश्चित करते हैं —

१ प्रकृति परमेश्वर के अधीन रहकर सृष्टि करती है।

२ प्रकृति ही पंचभूतों के रूप में व्यक्त होकर जीव और संसार के बन्धन का कारण है।

३ प्रकृति विकारों को उत्पन्न करती है और इसमें प्राणी अपने स्वरूप को भूलकर संसार के भ्रम में पड़ जाता है।

४ प्रकृति अपने तीनों गुणों के द्वारा संसार के विषम व्यवहार का कारण है। मन बुद्धि अहंकार और इन्द्रियाँ प्रकृति के ही रूप हैं।

---

४२ प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मार्थदृग् ।
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम् ।
भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान् ।
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृतिः ॥ ११६ ॥ विवेकचूडामणि ।

४३ अभावना वा विपरीतभावना
असम्भावना विप्रतिपत्तिरस्याः ।
संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं
विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥ ११७ ॥ विवेकचूडामणि ।

४४ अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्रा
प्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः ।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चि-
न्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥ ११८ ॥ विवेकचूडामणि ।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं, किंतु जो विद्या में ही रत हैं वे और भी अधिक गहन अंधकार में प्रवेश करते हैं[४५]। वहीं यह भी कहा गया है कि जो विद्या और अविद्या को एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त करता है[४६]। आचार्य शङ्कर के अनुसार यहाँ अविद्या शब्द से देवता ज्ञान अथवा अनेक देवों की उपासना करके अभीष्ट फल की सिद्धि करना लक्षित है[४७]। आचार्य शङ्कर ने कामना और कर्म को प्रकृत्यात्मिका अविद्या कहा है[४८]। यहाँ हम अविद्या के इस स्वरूप को वैदिक कर्म का रूप मानते हुए उसे व्यावहारिक रूप दे सकते हैं। कर्म चाहे लौकिक हो या वैदिक दोनों के मूल में कामना वर्तमान रहती है। कामना से इन्द्रियों और प्रकृति के गुणों का सम्बन्ध रहता है। अतः कर्म अविद्यात्मक है और जीव के बंधन का कारण है।

अज्ञान का व्यावहारिक रूप गीता में कहा गया है। कभी पूरी न हो सकने वाली इच्छा, पाखण्ड, मान और मद, अशुद्धाचरण, मिथ्या आग्रह ये सभी अज्ञान के लक्षण हैं। चिन्ता कामोपभोग की इच्छा एवं विषयों में रत रहना भी अज्ञान है[४९]। सैकड़ों प्रकार की आशाओं से बंधा होना काम क्रोध का आश्रय लेना भोग्य वस्तुओं का दूसरे के अधिकार से अपहरण करना अनेक पापपूर्ण युक्तियों से धन का संग्रह करना अज्ञानियों के स्वभाव के अंग होते हैं। आज मुझे यह द्रव्य मिला है मन को संतुष्ट करने वाला अमुक पदार्थ मुझे मिलेगा अमुक वस्तु मेरे पास है भविष्य में इतना धन मेरे पास होगा, और उस धन से मैं ख्याति प्राप्त करूँगा आदि भावनाएं तमोगुण से

---

४५ अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः। ईशावास्योपनिषद्। ९।

४६ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईशावास्योपनिषद्। ११।

४७ अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविक कर्म ज्ञानं च।
ईशावास्योपनिषद् भाष्य।११।

४८ प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्म बीजभूता। ईशावास्योपनिषद्। १२।
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः। गीता। १६।१०।

४९ आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्। गीता। १६।१२।

उत्पन्न अज्ञान की स्वरूपभूता हैं। 'यह मेरा शत्रु है इसको तो मैं मार चुका, अब निर्बल शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। 'मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान और सुखी हूँ इस प्रकार के विचार भी अज्ञानवश ही उत्पन्न होते हैं। मैं धनी हूँ मैं कुलीन हूँ मेरे समान मेरे कुल में और दूसरा नहीं है मैं यज्ञ करूँगा मैं अति प्रसन्न होऊँगा इत्यादि के विकल्प भी अज्ञानवश उत्पन्न होते हैं[५०]। प्राणी का विवेक या ज्ञान अज्ञान से ढका रहता है और प्राणी निरन्तर अज्ञान में ही मोहित होता रहता है[५१]। सत्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है[५२]।

मन ही जगत के व्यवहारों में रत होता है। मन के द्वारा ही माया का भोग होता है। मन से ही पञ्चम सत्ता में अहंकार उत्पन्न होता है और मनुष्य की भोगों के प्रति सहज प्रवृत्ति हो जाती है।

गीता के अनुसार मन विषयों का अनुसरण करता है और इन्द्रियों को विषय में लगाता है। इस प्रकार मन विवेक बुद्धि को जल में वायु के धक्के खाती हुई नाव के समान विषयों में भटका देता है[५३]।

गीता में इन्द्रियाँ मन और बुद्धि काम के रहने के स्थान कहे गये हैं। काम इन आश्रयभूत इन्द्रिय और मन के द्वारा ज्ञान को आच्छादित कर लेता है और जीवात्मा को नाना प्रकार से मोहित करता है[५४]। जीवात्मा श्रोत्र चक्षु त्वचा रसना और नासिका एवं मन को आश्रय बनाकर विषयों का

५० इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ गीता। १६।१३।
असौ मया [redacted] शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी। गीता। १६।१४।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता ॥ गीता। १६।१५।
५१ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। गीता। ५।१५।
५२ सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ गीता। १४।१७।
५३ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गीता। २।६७।
५४ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ गीता। ३।४०।

उपभोग करता है[५५]। विवेकचूडामणि के अनुसार मन के अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है। मन ही जीव को संसार व बंधन मे डालने वाली अविद्या है। मन के नष्ट होने पर समस्त जागतिक व्यवहारों की प्रतीति नष्ट होने लगती है[५६]। जिस प्रकार वायु मेघो को घेर लेता है और पुनः घिरे हुए मेघो को उड़ा ले जाता है, उसी प्रकार मन जीव के संसार-बन्धन का कारण है और मोक्ष का भी है[५७]। विवेकचूडामणि में मन को भयंकर व्याघ्र कहा गया है। यह मन रूपी व्याघ्र विषय रूपी वन में विचरण करता है अतः मुमुक्षुओं को विषयादि में रमण न करना चाहिये[५८]। मन अनेक प्रकार के विषयों शरीर वर्ण आश्रम जातिभेद गुण क्रिया एवं भोगों को उत्पन्न करता है। निर्विकार आत्मा को यह मन ही मोहित करता है। आत्मा में देह गुण इन्द्रियों एवं प्राणों का आरोप इस मन के ही कारण होता है। मन के द्वारा ही मैं मेरा आदि सम्बन्ध और व्यवहारों का आरोप होता है। मन के द्वारा मनुष्य में अध्यास बुद्धि होती है। जीव के लिए सांसारिक बन्धन मन द्वारा ही बिछाये जाते हैं। यह मन ही त्रिगुणात्मक प्रकृति का रूप है। मन से ही जन्म मरण बन्धन उत्पन्न किये जाते हैं[५९]। मन ही अविद्या का रूप है जिस प्रकार वायु के द्वारा मेघ मण्डल घुमाया जाता है उसी प्रकार समस्त संसार मन के द्वारा भ्रम में घुमाया जा रहा है[६०]।

---

५५ श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते। गीता। १५।९।

५६ न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते। १७१। विवेकचूडामणि।

५७ वायुना नीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते। १७४। विवेकचूडामणि।

५८ मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः। १७६। विवेकचूडामणि।

५९ मनः प्रसूते विषयानशेषान् स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः।
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान् गुणक्रियाहेतुफलानि नित्यम्॥ १७७। विवेकचूडामणि।
असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्य देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य।
अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिः। १८०। विवेकचूडामणि।

६० अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम्॥ विवेकचूडामणि। १८२।

श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य में श्री विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार आचार्य शङ्कर ने मन का स्वरूप वर्णन किया है। उनका मत है कि अद्वैत तत्व में, मेरा तू, तेरा, आदि बुद्धि से रहित निर्विकार और अनिर्वचनीय है। द्वैत मनोवृत्तिरूप है। परमार्थत तो अद्वैत ही है। अत धर्माधर्म रूप निमित्त के कारण उत्पन्न हुई मन की वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। इन वृत्तियों का निरोध हो जाने से द्वैत की सिद्धि नहीं होगी। यह जो कुछ चराचर जगत है सब मन का दृश्य है। मन का नाश होने पर अमनीभाव होता है और इससे अद्वैत भाव की प्राप्ति होती है[६१]। अत इस प्रकार हम मन की अविद्या रूपता का परिचय प्राप्त करते हैं। हम अविद्या अज्ञान और मन का विवेचन करने के पूर्व कह चुके हैं कि निर्गुण सन्तों ने मन की अविद्यात्मकता का कथन किया है। अत उस दृष्टि से मन के स्वरूप का विवेचन यहाँ आवश्यक है।

अब हम माया की अनिर्वचनीयता का विश्लेषण करते हैं। विवेक चूडामणि में कहा गया है कि माया न सत् है और न असत् एवं न उभयात्मक है अथवा न सदसद् रूप ही है। यह माया न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न ही। माया न उभयात्मक है अथवा न भिन्नाभिन्न है। माया को न तो हम अंग रहित कह सकते हैं और न अंग सहित ही एवं न उभयात्मक अर्थात् सांगानंग ही। परन्तु यह माया अति अद्भुत एवं अनिर्वचनीया है। अनिर्वचनीया पद का प्रयोग यह सूचित करता है कि माया का स्वरूप वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता[६२]। माया का नाश अद्वैतात्म ज्ञान से होता है। सत्व रज और तम माया के ये तीन गुण कहे गये हैं। जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान

---

६१ ममाहमिति प्रज्ञाविमुक्तमविकल्पकम्।
अविकार्यमनाख्येयमद्वैतमनुभूयते॥
मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं परमार्थत।
मनसो वृत्तयस्तस्माद्धर्माधर्मनिमित्तजा।
निरोद्धव्यास्तन्निरोधे द्वैतं नैवोपपद्यते॥
मनोदृष्टमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतभावं तदाप्नुयात्॥ श्वेताश्वतर उपनिषद्। शाङ्कर भाष्य।
६२ सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥ १११। विवेक चूडामणि।

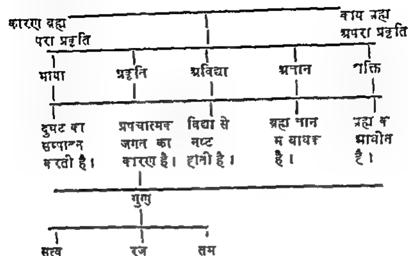
होने पर सर्प भय से मनुष्य मुक्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञान से माया का नाश होता है[६२]।

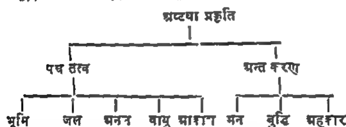
माया को हम सद् स्वरूप इसलिए नहीं कह सकते कि माया यदि सत्य रूप होती तो उसका नाश न होता परन्तु ब्रह्म ज्ञान से माया का नाश होता है अतः माया सत्स्वरूप नहीं है। माया को हम असत् इसलिए नहीं कह सकते कि असद् पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती किन्तु माया का अनुभव हमको होता है। यह जीवात्मा के संसार बन्धन का कारण है। अतः माया असत नहीं हो सकती। उभयात्मक इसलिए नहीं कह सकते कि दो विरोधी भाव अग्नि और जल के समान एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार हम माया को ब्रह्म से भिन्न नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्य नहीं है। किन्तु हम माया को ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म ही माया का अधिष्ठान है। ब्रह्म ही मायापति है। इसी प्रकार माया की सांगता और अनंगता भी सिद्ध नहीं होती और न माया का उभयात्मक रूप ही सिद्ध होता है। माया अविद्या, प्रकृति प्रधान और शक्ति के विवेचन को इस प्रकार चित्रित कर सकते है —

निर्गुण ब्रह्म	सगुण ब्रह्म जीव
परमार्थ सत्य	व्यावहारिक सत्य
निर्गुण	सगुण
निराकार	साकार
निर्विकार	सविकार
शुद्ध	अशुद्ध
बुद्ध	अज्ञ
नित्य	अनित्य
मुक्त	बद्ध

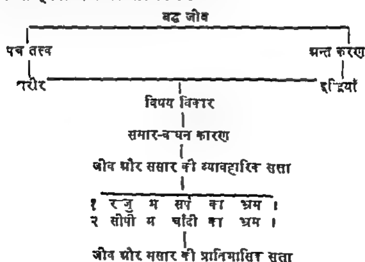
पिछले सन्दर्भ मे निश्चित किये गए माया के स्वरूप और जीव के व्यावहारिक रूप को हम इस प्रकार अङ्कित कर सकते है —

६२ शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः। ११२। विवेक चूडामणि।





गत रेखाचित्र में हम प्रकृति के तीन गुण और अष्टधा प्रकृति के पाँच तत्त्वों और तीन अन्तःकरणों का चित्रण कर चुके हैं। अब हम बद्ध जीव और व्यावहारिक जगत का आकलन करेंगे —



जब तक रज्जु में सर्प का भ्रम अथवा सीपी में चाँदी का भ्रम होता रहता है, तब तक उक्त प्रातिभासिक सत्ता की स्थिति है। किन्तु यह अज्ञान अथवा भ्रम अनादि है और अनिर्वचनीय है। इसके नाश होने से जीव की ब्रह्म स्वरूप में स्थिति होती है।

अब हम निर्गुण सन्त काव्य में पिछले पृष्ठों पर किये गये विवेचन के आधार पर माया सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हम माया की शक्ति रूपता, ब्रह्म का माया पर स्वामित्व, माया की त्रिगुणात्मकता और त्रिदेव रूपता और सन्त काव्य में माया के व्यावहारिक रूप का विवेचन करेंगे।

सिद्ध गोरखनाथ के अनुसार माया आदि पुरुष अर्थात् ब्रह्म की नारी है ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप में आकार एवं विकारों का अभाव है। अतः दृश्य जगत का स्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित नहीं है। ये दृश्य माया जन्य हैं। किन्तु इन दृश्यों की स्थिति ब्रह्म का स्वरूपभूत अङ्ग नहीं है। माया बिना स्तम्भ के मंडप की रचना करती है। ब्रह्म के पारमार्थिक रूप में पंचभूतों का अभाव है। अतः उसमें बादल और वायु नहीं है। किन्तु ब्रह्म ही माया का पति है। ब्रह्मा, विष्णु महेश को जन्म देनेवाली यही माया है। पहले तो माया इन तीनों देवताओं को जन्म देती है और पुनः उनकी स्त्री रूप में इनके घरों में निवास करती है। विशुद्ध ब्रह्म माया की उपाधि धारण करके तीनों गुणों की उत्पत्ति करता है। परब्रह्म तीनों गुणों में से सत्व से विष्णु, रज से ब्रह्मा और तम से शङ्कर की रचना करता है। जब तक ब्रह्म से इन तीनों गुणों की रचना होती है, तब तक माया इन त्रिदेवों की जाया अर्थात् माता रहती है। परन्तु इनकी रचना हो जाने के उपरान्त ये गुण स्वरूप देवता परस्पर व्यवहार करने लगते हैं। तब माया इन तीनों देवताओं के वश में होती है। इस विवरण में माया ब्रह्म की नारी कही गई है। अतः माया शक्ति रूप में ब्रह्म के आधीन है यह बात स्पष्ट होती है। सिद्ध गोरखनाथ के अनुसार माया के स्वरूप में हमको ये बात मिलती हैं। ब्रह्म माया का अधिष्ठाता नहीं है वरन् माया ही ब्रह्म की आश्रिता है। अतः अद्वैत सिद्धान्त सम्मत माया और गोरखनाथ के अनुसार कथित माया की शक्तिरूपता में अन्तर नहीं है[६४]।

६४ नाथे न नाथा जोग्या नें विचारा पहला पुरिष कै नारी जी।
बादल नहीं तहुआ बायु नाही तिन थंभा मंडप रचाया।
जिंदा आप उपावन हारी जी
बाप नहीं हो तो निदयां बेठा ते रे माया बाल कुंवारी जी।

सन्त कबीरदास के अनुसार माया का शक्ति रूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। माया की यह शक्ति जगत्कारण रूप में ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है। सन्त कबीरदास ने इस कारण रूप शक्ति को ही अन्तर्योनि कहा है। इस माया शक्ति के ब्रह्मा विष्णु और त्रिपुरारि अर्थात शिव में तीन रूप हैं। यह माया शक्ति ही अनन्य सृष्टि का अनादि कारण है। यह माया शक्ति है तो वस्तुतः एकरूप ही परन्तु उपाधि भेद से व्यवहार में अनेक रूप हो गई है। यह माया शक्ति अनन्त रूप है और इसका कथन वाणी द्वारा नहीं हो सकता। ब्रह्म की शक्ति वस्तुतः ब्रह्म में ही कारण रूप में अधिष्ठित है। यह कारण ब्रह्म की परा शक्ति है। कारण ही कार्य रूप में परिणत होकर अनेक रूप जगत की सृष्टि करता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है किन्तु माया शक्ति से जगत के बन्धनों में पड़ता है। ब्रह्म की माया शक्ति ब्रह्म की सृष्टि की इच्छा का रूप है। सन्त कबीरदास ने इस इच्छा शक्ति को गायत्री कहा है। उपनिषदों में यह इच्छा ही ईक्षण शब्द से अभिहित की गई है। ब्रह्म की माया-शक्ति से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने माया से प्रश्न किया कि तुम किसकी स्त्री और माता हो। माया ने कहा कि 'मैं और तुम दोनों भिन्न नहीं हैं। मैं ही तुम्हारी स्त्री हूँ और तुम मेरे पुरुष हो। इससे प्रकट है कि माया से त्रिगुणात्मक देवताओं की उत्पत्ति होकर ये देवता ही माया पर अनुशासन स्थापित करते हैं। माया ब्रह्म की शक्ति तो है ही त्रिदेवों की भी शक्ति है क्योंकि त्रिदेव ही माया का व्यवहार करते हैं। अतः सन्त कबीरदास ने पिता स्वरूप ब्रह्म और पुत्र रूप ब्रह्मा की एक ही नारी कही है। यह माया ब्रह्मा आदि की माता भी है क्योंकि इनकी उत्पत्ति गुणों से होती है[६५]।

पीव ने पायी माया पावै तिहा हू ही रहि डारन हारी जी।
ब्रह्मादिक ने आदि महेश्वर ये तीनूं ने त्राता ।।
इन तिहूं बानी में धर धरनी इन्हें कर मारी माया जी। गोरखबानी।

६५ अन्तर ज्योति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।
ते तिरिया भग लिंग अनन्ता। तेउ न जाने आदि औ अन्ता॥ बीजक।
तेइ रूप एक अक्षरवाना। अन्तरजामि कीन्ह परमाना।
इच्छा रूप नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी॥ बीजक।
तेहि नारी के पुत्र तिन भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेसुर नाऊँ।
फिर ब्रह्मा पूछल महतारी। को तोर पुरुष काकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई। तुम मम पुरुष हमहि तोरि जोई।
बाप पूत की एकै नारी एकै माया बियाय॥ बीजक।

सन्त कबीरदास के अनुसार जो आता जाता है वही माया है। आता जाता शब्द उत्पत्ति और विनाश के सूचक हैं। अतः उत्पत्ति और विनाश के चक्र में घूमने वाले पदार्थ मायिक हैं। समस्त दृश्य जगत प्रतिपल उत्पन्न और नष्ट होता है अतः ये सभी माया के रूप हैं। सभी वस्तुएं अनित्य हैं एवं माया के गर्भ में ही पोषित और नष्ट होती हैं। कर्म माया का रूप है[६६]। सन्त कबीरदास के अनुसार माया राम के आधीन है। यह माया ही सांसारिक द्वन्द्वों में जीव को डालकर आत्म ज्ञान से विमुख कर देती है[६७]। सन्त रैदास के अनुसार राम की माया विचित्र है। यह माया मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि को नष्ट कर देती है।

सन्त नानक साहब के सिद्धान्त के अनुसार माया ब्रह्म की रचना है और ब्रह्म के आधीन है। यह माया अनेक रंगों से युक्त है अर्थात अनेक रूपात्मक है[६८]।

सन्त दादूदयाल के अनुसार सृष्टि ब्रह्म के आधीन है। ब्रह्म ही उत्पत्ति प्रलय और सृष्टि का पालन करता है। यह सृष्टि माया का ही रूप है जिसका अधिष्ठान ब्रह्म है[६९]।

सन्त सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म ही मायात्मक प्रपंच की रचना का कारण है किन्तु इस प्रपंच व्यवहार को माया के सिर मढ़ा जाता है[७०]।

सन्त मलूकदास के मत में माया बाजीगर की फैलाई हुई बाजी है। ब्रह्म बाजीगर है और मायात्मक सृष्टि उसकी क्रीडा है। माया भ्रम में समस्त प्राणी भ्रमित हो रहे हैं[७१]।

---

६६ सन्तो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहि वाके ना कहु गया न आया।
ज्ञान हीन करता सब भरमे माये जग भरमाया।
दस अवतार ईसरी माया करता है जिन पूजा
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो उपजि खपै सो दूजा। कबीर बीजक। पद ८।

६७ राम तोरि माया दुंद बनावै। बीजक। पद १३।

६८ हे भी होसी जाइ न जासी रचना जिनि रचा।
रंगी रंगी भाती करि करि जिनसी माइया जिनि उपाई। गुरु ग्रन्थ। रहरासि।

६९ सिरजनहार थें सब होइ।
उतपति परलै करै आपै दूसर नाहीं कोय।
दादू दयाल की बानी। शब्द १४१।

७० करहु आप सिर देहु और के कैसी रीति तुम्हारी।
माया मोह लगाइ सबन को मारे नर अरु नारी॥ सुन्दर ग्रन्थावली।

७१ बाजीगरै पसारी बाजी। भूले मुगल सब काजी। मलूकदास की बानी।

सन्त चरनदास ने ब्रह्म और माया का अभेद नहीं माना है[७२]।

संत जगजीवन साहब ने 'साईं की माया' को विलक्षण कहा है। उनके अनुसार ब्रह्म अपनी माया में अधिष्ठान एवं अन्तर्यामी होकर समाया हुआ है[७३]।

पिछले पृष्ठों पर हमने निर्गुण संत काव्य में माया के शक्ति रूप का विवेचन किया है और इस सम्बन्ध में प्रमाण दिये हैं कि संत माया शक्ति को ब्रह्म के आधीन मानते हैं। अब हम माया के गुणों का विशेष वर्णन करते हुए प्रकृति के स्वरूप का विवेचन करेंगे। इस सम्बन्ध में हमको इस प्रकरण के प्रारम्भिक पृष्ठों पर दिये गये प्रकृति और माया के स्वरूप को ध्यान में रखना आवश्यक है।

संत कबीरदास के अनुसार माया सत्त्व, रज और तम गुणों का वृक्ष है। कष्ट और क्लेश तो मानो इस [illegible] वृक्ष की शाखायें ही हैं। इस प्रकृति रूपी वृक्ष के बीच स्वप्न में भी शीतल छाया नहीं मिलती। इसमें अज्ञानरूपी फल फलते हैं। ये फल फीके हैं अर्थात् गुणों से प्रेरित हुए विषयों के सुख अनित्य एवं अस्थायी हैं। इन विषय भोगों से शरीर में क्लेश उत्पन्न होते हैं[७४]।

सन्त रैदास के अनुसार अविद्या हरिस्मरण करने देने में बाधक है। यह शरीर प्रकृतिजन्य पंचभूतों से रचा गया है। अविद्या के मोह-पाश से नित्य मुक्त आत्मा बंधा हुआ है। प्रकृति के तीनों गुणों के बंधन में पड़कर जन्म लेना पड़ता है। त्रिगुणात्मक माया भ्रम है, जिसमें जीवात्मा अपने स्वरूप को

---

७२ आप आप में खेल रचायो। ज्यों पाला जल में ह्वै आयो।
ऐसी ब्रह्म धरी है काया। आप हि पुरुष आप ही माया॥

चरनदास कृत भक्तिसागर।

७३ साईं अजब तुम्हारी माया।
सब घट माहिं निरंतर खेलहु आपै तहाँ समाया।

जगजीवन साहब की बानी। भाग २।

७४ माया तरवर त्रिविध का साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं फल फीको तनि ताप॥

भूल गया है एवं पाप-पुण्य आदि का विचार भी नहीं करता[७४]।

संत दादूदयाल के अनुसार माया विकारों से युक्त है। त्रिगुणी माया अनेक आकर्षक नाम रूपों में व्यक्त होकर सर्वत्र मनुष्य और देवताओं को मोहित करती है। ब्रह्म ने पहले माया को उत्पन्न कर दिया और फिर उसके विकारों से उदासीन एवं अलिप्त रह कर उससे पृथक हो गया। तीनों गुणों से उत्पन्न ब्रह्मा विष्णु एवं महेश ने अनेक प्रकार के भौतिक आकर्षण और बंधन तैयार कर दिये। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्त्री उनकी जननी माया ही है। माया ने सभी जीवों को खा लिया है। माया अनेक नाम रूपों को धारण कर नटिनी के रूप में मनुष्य मुनियों और देवताओं को मोहित करती है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तक उसके स्वरूप पर मुग्ध हो गये हैं। शरीर में ही पचीस प्रकृतियाँ—पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंचतन्मात्रायें, चार अन्तःकरण और एक जीवात्मा रहता है। इसी शरीर में तीन गुण, शरीर और इन्द्रियों पर अभिमान करने वाला मन राजा के रूप में रहता है। वह रजोगुण से ब्रह्मा को उत्पन्न करके सृष्टि की रचना करता है। वह सत्त्वगुण से विष्णु को उत्पन्न करके सृष्टि का पालन एवं तमोगुण से महेश को उत्पन्न करके सृष्टि का नाश कर देता है। संत दादूदयाल के अनुसार ये गुण निर्गुण ब्रह्म के द्वारा ही उत्पन्न किये गये हैं। इन गुणों को उत्पन्न करके ब्रह्म गुणों के विकारों से दूषित अथवा विकारी नहीं होता[७५]।

---

७४ माया अविद्या ... कीन्ह तातें मैं तार नाम न लीन्ह।
मगन मन ... नर एक नाम विश्राम।
पर व्यापि ... तन कौन मारी श्राम।
निर्गुन ... भ्रम भर्म पाप पुन न सोच।
मानुष औतार दुरलभ ... पार। रैदास की बानी।

७५ माया मन्नी गुण ... धरि धरि उत्पन्न नाव।
दादू मारे ... सुर नर ... दाव॥ दादूदयाल की बानी।
दादू ... आप उपा ... न्यारा ... निराण।
ब्रह्मा विसन महेस मिलि बांध्या सकल ... ॥ दादूदयाल की बानी।
दादू ... जीव सब मिलि रूपनाम ...।
माया ... सुर नर मुनि ...॥ दादूदयाल की बानी।
ब्रह्मा बिसन महेश ... वसुधा ...।
माइ निरंजन ... आप अभेद॥ दादूदयाल की बानी।

संत सुन्दरदास के मत में माया रहित ब्रह्म में ही सृष्टि का संकल्प अथवा ईक्षण होता है। पंचतत्वों और तीन गुणों से सृष्टि की रचना परब्रह्म ने की है। सत्व गुण से विष्णु, रजोगुण से ब्रह्मा और तमोगुण से शङ्कर की उत्पत्ति हुई है। विष्णु सृष्टि का पालन, ब्रह्म प्रजनन और शङ्कर उसका संहार करते हैं। ये सभी गुण और देवता माया द्वारा उत्पन्न हुए हैं। माया ही ब्रह्म में सृष्टि के संकल्प के रूप में स्थित रहती है और ईक्षण के उपरान्त माया की अनेकरूपता का व्याकरण होता है॰७।

संत चरनदास ने त्रिदेवों से जगत का प्रसार कहा है। संत चरनदास ने भी माया की शक्ति और गुणरूपता को स्वीकार किया है॰८।

संत मलूकदास का कथन है कि संसार में पंचभूत और पचीस प्रकृतियाँ सदा उनको घेर रहती हैं। यदि संत मलूकदास खड़े होते हैं तो ये पंचभूतात्मक कुत्ते और पचीस प्रकृतिरूप कुतियाँ उनकी पिंडलियाँ पकड़ लेती हैं। यदि वे बैठते हैं तो ये आँखें गुररती हैं। इनके मतानुसार जीव पंचभूतों और पचीस प्रकृतियों द्वारा सदा बंधन और भय में रखा जाता है ७९।

बिहार वाले संत दरियासाहब इन पंचभूतों और पचीस प्रकृतियों का नाश करना आवश्यक मानते हैं क्योंकि इनके रहते हुए आत्मबोध नहीं हो

माया के अमर्थान रह मन राम रहमान।
पंचतत्व प्रकीरति तीन गुण आपा गर्व गुमान। दादूदयाल की बानी।
दादू राजस करि उतपति करै सातग करि प्रतिपाल।
तामस करि परलै करै निर्गुण कालिन्दार॥ दादूदयाल की बानी।

७७ प्रथम निरंजन आपुही मन में यहु आनी।
पंच तत्व गुन तीन तें सब सृष्टि उपानी।
व्योम बायु पावक किय जल भूमि मिलानी।
राजस सात्विक तामसा तीनों निर्वानी॥४॥
रज गुन तें ब्रह्मा कियो राजस अभिमानी।
सात्विक विष्णु उपासना प्रति पालक मानी॥५॥
तम गुण तें शंकर भये संहारक जानी।
ऐसी विधि भई पंच तत्व यह रचना ठानी।

सुन्दर ग्रंथावली। गुन उत्पत्ति का नसानी।

७८ अद्भुत आरती कौशारा। त्रिदेव होय ज्यात पसारा।
भक्ति सागर। शब्द वर्णन।

७९ कुकरा पाँच पचीस कुकरियाँ संग रहैं माहि घरै।
ठाढ़ होऊँ तो पिंडुरी पकरैं बैठे आँखि गुररैं॥ मलूकदास की बानी।

सकता[८०]।

सन्त गरीबदास का मत है कि तीनों गुणों के स्वरूप को जानना चाहिये। पञ्च भौतिक शरीर और इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। पचीस प्रकृतियों में अनेक विकारों के समूह रहते हैं अतः इनसे उत्पन्न विकारों का नाश करके ही साधक आत्मज्ञान का अधिकारी होता है[८१]।

सन्त जगजीवन साहब के अनुसार भी पचतत्व और पचीस प्रकृतियों के वश में मन रहता है और मन अनेक विषयों में बुद्धि को भ्रमित करता है। अतः इनको वश में रख कर ही साधक का मगन हो सकता है[८२]।

सन्त कबीर माया को त्रिगुणात्मक और दविक, दहिक एव भौतिक तापों का कारण मानते हैं। रदास त्रिगुणात्मक माया को अविद्या नाम से अभिहित करते हैं। आचार्य शङ्कर ने प्रकृति के रूपों का गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद भाष्य में विवेचन किया है। पिछले पृष्ठों पर सन्त कबीरदास की रमनिया से त्रिगुणात्मक माया का विकास उद्धृत किया गया है। उसी प्रकार सन्त दादूदयाल की साखियों में भी माया का यह रूप वर्तमान है। सन्त दादूदयाल ने माया को गुणमयी कहा है। इस शब्द का प्रयोग गीता में हुआ है। त्रिगुण सिद्धान्त और प्रकृति एव माया की एकरूपता सन्त दादूदयाल व सन्त कबीरदास के काव्य में उपलब्ध है। ये मत वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल हैं। इस प्रकरण के पिछले पृष्ठों पर हमने सन्त काव्य में मायावे शक्ति रूप प्रकृतिरूप और ब्रह्म के सृष्टिकर्ता स्वरूप का विवेचन किया है। इन पृष्ठों पर अब हम सन्त काव्य में माया के व्यावहारिक रूप का अध्ययन करेंगे। माया की व्यावहारिकता का निरूपण करते हुए हम इन बातों का विशेष ध्यान रखेंगे —

१ माया से उत्पन्न पदार्थ और काय अनित्य हैं।

---

८० पाच को मेटि के पचीस को दलमलो।
दवो के छेदि फिर शब्द सारा॥
बिहार मान नरिया साहब की बानी।

८१ तीन चौदह पाच मार पकरो मठधारी।
पुत सो पचीस सग सन है अपारी॥
गरीबदास की बानी।

८२ पाँच बसि बसि बैठ रह कर मानु कबहु न भानु।
मन अन्द पचीस इनमें सग मन हित भानु।
जगजीवन साहब की शब्दावली।

२ माया जीव के आत्मबोध के मार्ग में दूषण है।
३ सांसारिक सम्बन्ध मायाजनित हैं।
४ धन ऐश्वर्य इत्यादि माया के रूप हैं।
५ अहंकार अभिमान कामना और भोग लिप्सा मायिक विकार हैं।
६ माया भ्रमक है और मिथ्या है।
७ माया का प्रभाव देवताओं और ज्ञानियों तक पर पड़ता है और उनको माया भ्रष्ट कर देती है।
८ जीव का लक्ष्य माया का भोग नहीं है किन्तु माया जीव को भोग के प्रति आकृष्ट होने में विवश करती है।
९ माया से उत्पन्न संसार स्वप्न के समान निराधार है।
१० इस माया का ज्ञान के द्वारा नाश करना चाहिये।
११ माया सर्पिणी, व्याघ्रिणी डाइन कपट छलना और भ्रांति रूप है।
१२ माया ही जीव के बंधन का कारण है।
१३ माया अनेक नामरूपात्मक पदार्थों में व्यक्त हुई है।
१४ वस्तुतः जगत ब्रह्म, एवं जीव ब्रह्म में अभेद है परन्तु माया के द्वारा भेद-व्यवहार उत्पन्न होता है।
१५ माया अनिर्वचनीय है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार हम संत काव्य में माया के स्वरूप का अध्ययन इस प्रकरण की भूमिका में किये गए विवेचन के आधार पर करेंगे। संत-काव्य में माया का निरूपण करते समय हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र एवं शङ्कर भाष्या में माया सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही विशेष हुआ है। परन्तु सन्तों ने अपने साधन मार्गों के अनुकूल या प्रतिकूल अविद्या अथवा माया के स्वरूप का अनुभव किया है। सन्तों ने प्रायः माया को अपने साधन मार्ग में बाधक ही पाया है। संत-काव्य में स्वीकृत माया के स्वरूप में संतों के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। इस सम्बन्ध में हम प्रसङ्गवश संकेत करते चलेंगे। यद्यपि मूलतः अद्वैत सिद्धान्तानुमोदित माया और सन्त काव्य में विवेचित माया में विशेष अन्तर नहीं है किन्तु सन्तों की साधनानुभूति की गम्भीरता से उत्पन्न व्यक्तित्व का माया के स्वरूप पर प्रभाव सबसे प्रधान है। इन बातों को ध्यान में रख कर संत-काव्य में माया के स्वरूप का अध्ययन करना सरल होगा।

सिद्ध गोरखनाथ का कथन है कि मायारूपी सर्पिणी निर्मल आत्म स्वरूप में प्रविष्ट हो गई है और पृथ्वी आकाश और पाताल तीनों लोकों को डस लिया है। माया की पठार विशुद्ध ब्रह्म से लेकर समस्त लोकों में हो गई है। यद्यपि माया स्वतः अबला है क्योंकि ब्रह्म के आधीन है तो भी उसमें अदम्य क्षमता है। माया ने ब्रह्मा विष्णु और महादेव को भी छल लिया है। इस माया की अबाध गति दसों दिशाओं में है। अतः इसका नाश करके ही आत्मबोध हो सकता है।[८३]

सन्त कबीरदास के अनुसार मोह और अहंकार माया के रूप हैं। मनुष्य भौतिक वस्तुओं और सम्बन्धों में मोह और अभिमान करता है। परन्तु मायिक पदार्थ अनित्य है और मनुष्य का मोह और अहंकार मिथ्या ठहरता है। पञ्चभूतात्मक तत्त्व विनाशशील हैं केवल राम ही नित्य और सत्य है[८४]। धन एवं जागतिक व्यवहार सभी माया के मिथ्यारूप हैं[८५]। माया के रूप हैं—स्त्री धन पुत्र विद्या राज्य पृथ्वी का अधिकार, अष्टसिद्धियाँ एवं नवनिधियाँ। माया ने देवता, मनुष्य एवं समस्त भूमण्डल के राजाओं को अपने वश में कर लिया है। जिस जिसने भी माया का साथ किया, उसने सभी के साथ विश्वासघात किया है। माया न कभी किसी का साथ नहीं दिया है। सन्त कबीरदास के अनुसार झूठी माया का त्याग कर राम की शरण में जाना श्रेयस्कर

---

८३ मारा मारा स्रपणी निरमल जल पैठी।
त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी।
मारी स्रपणी ज्याई ल्यै भींरा।
जिनि मारी स्रपनी ताको कहा करै जीरा।
स्रपणी कहै मै अवला बलिया।
ब्रह्मा विष्न महादेव छलिया।
माती स्रपनी दहौ दिसि धावै।
गोरखनाथ गारडी पवन बेगि ल्यावै॥ गोरख की बानी।

८४ माया मोह कु मैं जीया मुगध कहै यहु मेरी रे।
दिवस चारि भल मन रंजै यहु नाही किस केरी रे।
धरती पवन अकास जाइगा चंद जाइगा सूरा रे।
हम नाही तुम नाही रे भाई रहै राम भरपूरा रे। कबीर ग्रन्थावली।

८५ धन धन्धा व्यवहार सब माया मिथ्यावाद।
पाणी नीर हलूर ज्यूं हरि नाव बिना अपवाद। कबीर ग्रन्थावली।

है[८६]। माया से मोह करने का परिणाम सन्त कबीरदास के अनुसार कभी हितकर नहीं होता। वह विवेक ज्ञान का अपहरण कर लेता है। वस्तुतः संसार स्वप्न के समान मिथ्या है परन्तु जीव ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण नित्य है। माया ने ही नित्य ब्रह्म स्वरूप जीव में बन्धन उत्पन्न करके उसको अपने पारमार्थिक ब्रह्म-स्वरूप से अलग कर लिया है[८७]। यह माया डाइन का रूप [redacted]। इसने मनुष्य के मन में डेरा डाला है। पञ्चभूत इस माया के पुत्र हैं। ये प्रपंचात्मक भौतिक तत्त्व जीव को जन्म मरण रूपी नाच नचाते रहते हैं[८८]। पञ्चतत्त्व और तीन गुणों को मिलाकर शरीर की सृष्टि हुई है। पाप और पुण्य के संस्कारों से शरीर जन्मता और मरता है। उत्पन्न होना और नष्ट होना, माया का धर्म और स्वभाव है[८९]।

सन्त कबीरदास के अनुसार माया का त्याग अति कठिन है। जीव माया में पुनः-पुनः लिप्त होता है। आदर, सम्मान भौतिक रस, धन जप तप भोग जल थल आकाश माता पिता स्त्री पुत्र सभी तो माया के रूप हैं, इस

८६ कनक लेहु मन्दिरौं कामनि लेहु मन हरनी।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनी।
अठि सिधि लेहु तुम हरि के जना नवै निधि है तुम आगैं।
सुर नर सकल भवन के भूपति तेऊ लहै न मागैं।
तैं पावक/ मैं सगरे काहो काज सवार्‌या।
जिन जिन संग कियो है तेरो को बपुरा न मार्‌या।
दास कबीर राम के सरन छाडी झूठी माया। कबीर ग्रंथावली।

८७ माया मोहि मोहि हित कीन्हा
ताथै मेरो ग्यान ध्यान हरि लीन्हा।
संसार ऐसा सुपिन जैसा जीव सुपिन समान।
सांच करि नरि गांठि बांधौ छाडि परम निधान। कबीर ग्रंथावली।

८८ इक डाकनि मेरे मन मैं बसैं रे नित उठि मेरे जिय कौं डसै रे।
या डाकिन के लरिका पांच रे निस दिन मोहि नचावै नाच रे।
कबीर ग्रंथावली। पद ८।

८९ पांच तत ले तन उपजाया।
घाट सित दान मानि अनवाया।
पाप पुन्य बीज अंकुर जामै मरै।
उपजि बिनसै जेती सब माया। कबीर ग्रंथावली। पद १९९।

माया को मार कर व्यवहार करने से व्यवहार के विकारों में मनुष्य लिप्त नहीं होता[६०]।

संत कबीरदास के मतानुसार माया अज्ञान का स्वरूप है। जिस प्रकार रात के अंधेरे में रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है और मनुष्य सर्प भय से भयभीत हो जाता है। इसी प्रकार माया का भ्रम मनुष्य को अभिभूत किये हुए है। सम्पूर्ण संसार बिना सर्प के ही डसा हुआ है। माया की वास्तविक स्थिति न होते हुए भी माया के व्यवहारों से प्राणी दुखी हो रहा है। वस्तुत यह माया भ्रम का रूप है। जिस प्रकार जेठ मास में हरिण प्यासा होकर दशों दिशाओं में दौड़ता है और उसको जल नहीं मिलता उसी प्रकार जीव आशा के पीछे दुखी हो रहा है। माया से सुख की आशा करना क्लेश का हेतु है[६१]।

संत रैदास के अनुसार संसार त्रिगुणात्मक प्रकृति का रूप है। बिना हरि की सत्य स्वरूप नौका को पकड़े हुए इस माया से पार होना असंभव है। सारा संसार माया के मिथ्यात्व से आच्छादित कर लिया गया है। माया के दुखों से मनुष्य दुखी होता है[६२]। रात में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भ्रम होने से मनुष्य भयभीत होता है परन्तु प्रकाश होने पर रज्जु का सर्पांश नष्ट हो जाता है और मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। इसी प्रकार माया के नष्ट

६० माया तजूं तजी नहिं जाइ फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ ॥
माया आदर माया मान माया नहिं तहां ब्रह्म गियान।
माया रस माया कर जान माया कारनि तजै परान।
माया जप तप माया जोग माया बांधे सबही लोग।
माया जल थल माया आकासि माया व्यापि रही चहूँ पासि ॥
माया माता माया पिता अति माया अस्तरी सुता।
माया मारि करै व्यवहार कहै कबीर मेरे राम अधार।
कबीर ग्रन्थावली। पृ० ८४।

६१ ज्यूं रजनी रज देखत अंधियारी डसै भुजंगम बिन उजियारी।
तारे अगिनत गुनहि अपारा तऊ कछू नहीं होत अधारा।
झूठ देखि जीव अधिक डराई बिना भुजंगम डसी दुनियाई।
झूठे झूठ लागि रही आसा जेठ मास जैसे कुरंग पियासा।
इक त्रिपावन्त दह दिसि फिरि आवै झूठ लागा नीर न पावै।
इक त्रिपावन्त अस जाइ जराई झूठी आस लागि मरि जाइ ॥
कबीर ग्रन्थावली। रमैणी।

६२ त्रिविधि संसार कौन विधि तिरबो जे दृढ़ नाव न गहै रे।
नाव छाड़ि के डूगे बैठो तो दूनो दुख सहै रे ॥ रैदास की बानी।

होने पर आत्मभाव स्वतः प्रकाशित होता है। माया द्वारा व्यक्त की गई अनेक रूपता माया भ्रम के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है। तब जिस प्रकार सुवर्ण और अलंकार में भेद नहीं होता है वैसे ही ब्रह्म, जीव और जगत के व्यावहारिक भेद नष्ट हो जाते हैं[६३]। सांसारिक भोग, स्त्री पुत्र सभी तो माया के रूप हैं। मृत्यु होने पर प्राणी को संसार से अकेले ही परलोक जाना पड़ता है। समस्त मायिक व्यापार सारहीन हैं[६४]।

सन्त धरमदास के अनुसार माया योगिनी का रूप धारण किये है और हाथों में धनुष-बाण लिये खड़ी है। क्षण भर में माया निर्दयतापूर्वक विवेक को नष्ट कर देती है[६५]।

सन्त नानक के सिद्धान्त के अनुसार मायाजन्य पदार्थ अनित्य हैं। जिस प्रकार घन की छाया नष्ट हो जाती है उसी प्रकार माया द्वारा प्रसूत सुख नष्ट हो जाते हैं। मायात्मक जगत में सभी विनाशशील हैं[६६]। अज्ञानी माया और अभिमान के वश में होते हैं, और बिना हरिभजन मृत्यु-द्वारा कवलित

---

६३ झूठी माया जग डहकाया तौ तिन ताप दहै रे। रैदास की बानी।
रजु भुअंग रजनी परगासा अस कछु मरम जनावा।
समुझि परी मोहि कनक अलंकृत अब कछु कहन न आवा।
रैदास की बानी। पद ५७।

६४ माया के भ्रम कहा भूल्यो जाहुगे कर झारि।
देखि धौं इहाँ कौन तेरो सगा सुत नहिं नारि।
कहु माया सब थोथरी रे भगति दिस प्रतिपारि। रैदास की बानी। पद ७१।

६५ धनुष बान लिये ठाढ़ जोगिन एक माया हो।
छिनहि में करत बिगार तनिक नहिं दाया हो।
धरमदास की बानी। ४६। पद १३।

६६ अनिक भांति माइआ के हेत
सरपर होवत जानु अनेत।
बिरख की छाइआ सिउ रंगु लावै।
ओहु बिनसै उहु मनि पछुतावै।
जो दीसै सो चालनहारु।
लपटि रहिओ तह अंध अंधारु।
बटाऊ सिउ जो लावै नेह॥ सुखमनी साहिब सुंदर गुटका।
ता कउ हाथि न आवै केह।
भाई कछू चेतौ मन माया के अंध।
कहु नानक बिनु हरि भजन परत ताहि जम फंद॥ सुन्दर गुटका।

होते हैं[९७]। सर्वप्रथम मनुष्य ही मायाजन्य पदार्थों के लिए दौड़ते हैं और इस प्रकार उनका जीवन सुख की ... में नष्ट हो जाता है[९८]। मन में माया इस प्रकार लिपटी हुई है जिस प्रकार दीवार के ऊपर का चित्र। जिस प्रकार दीवार का चित्र दीवार से नहीं उतरता उसी प्रकार मन से माया के आकार मरणोपरान्त भी नहीं छिपता।

संत दादूदयाल के अनुसार माया जिस प्रकार आती है उसी प्रकार नष्ट भी हो जाती है। माया से कुछ सार नहीं ग्रहण किया जा सकता[९९]। माया साकार और निराकार का आश्रय लेती है। माया सर्पिणी का रूप है और समस्त जीवों को खा लेती है। किसी जीव को पहले और किसी को पीछे माया अवश्य प्रभावित करती है। माया के बन्धनों से उद्धार हो पाना बड़ा कठिन है। जिस मनुष्य के हृदय में ब्रह्मज्ञान नहीं होता माया वहाँ अपने स्वरूप का विस्तार करती है। ब्रह्मज्ञान होते ही मायाकृत भ्रम नष्ट हो जाता है। माया स्वयं ही राम और कृष्ण का रूप बन गई है। ब्रह्मा विष्णु महेश आदि देवता भी माया-द्वारा उत्पन्न होते हैं। माया मन और स्त्री का रूप है। माया के प्रभाव से त्रिदेव भी नहीं बच सके[१००]। संसार मसान में

---

९७ ... लाग ... ।
... सुन्दर गुटका।

९८ ... मैं रति रहियो ... ।
... ॥ सुन्दर गुटका।

९९ दादू ... विचारी।
... दादूदयाल की बानी। माया को अंग ६९।

१०० दादू ... ।
... ।
दादूदयाल की बानी। पद। २७।

... ॥
दादू ... उपगार करि ... ॥ दादूदयाल की बानी।
दादू ... माया ... ।
दादू ... माया ... ।
दादूदयाल की बानी। पृष्ठ १७७।

माया बैठी राम है, ... मोहनरा ।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं, ... ।
दादूदयाल की बानी।

मोहित हो रहा है। रज्जु में आभासित होने वाले मिथ्या सर्प ने संसार को खा लिया है। माया मृगमरीचिका के समान है। मन आशा-पाश में बंधकर मनुष्य को संसार के भ्रामक व्यवहार में लीन कर देता है। संसार के आकर्षण और सुख स्वप्न के समान मिथ्या हैं। मायाकृत अज्ञान से मुक्त होने पर आत्म ज्ञान होता है[101]। माया काली नागिन है जिसने समस्त संसार को खा लिया है[102]। प्रातःकाल उठते ही जगत-व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है। मायाकृत अज्ञान मनुष्य को विवेक चक्षुओं से रहित कर देता है[103]।

सन्त मलूकदास का कथन है कि माया उनमें लिप्त नहीं हो सकती क्योंकि उनका साहब उनके साथ है। हरिभक्तों से माया को हार माननी पड़ती है[104]।

माया साँपणि सब डसै, कनक कामणी होइ।
ब्रह्मा विष्णु महेस लौं दादू बचै न कोइ।

दादूदयाल की बानी।

१०१ निसु अँधियारी कछू न सूझै, संसै सरप दिखावा।
जैसे अंध पगन नहीं जानै ... नहीं पावा।। १।
... दरपि नहीं मन धावै, छिन छिन मृगी भामा।
... नाइ लहो ... निहचै मरे पियासा।। २।
मन विचार बहुत बिधि कीन्हा, जो सुपने सुख पावै।
जागत झूठ कहीं कुछ नाँहीं फिरि पीछे पछितावै।। ३।
... सूझ सब ... देखै, ... मनैं छिपाया।
दादू अ लि ... कुछ नाहीं, है सो माँहि समाना।। ४।

दादूदयाल की बानी।

१०२ माया काली नागिनी जिन डसिया सब संसार हो। दादूदयाल की बानी।

१०३ उठ बिहान पेट का धन्धा मारा लाय लिया उन धन्धा।
ता ... हीन बुद्धि के ... दिये नहीं ... बनाया।

दादूदयाल की बानी। शब्द ।४।

१०४ हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे से फिर बहुत होयगी सुनि पैहैं रघुराया।। १।।
अपने में है साहेब हमारा अजहूँ चतु चिवाली।
कहूँ जन के बस परि कैसा मरत मजूरी पाला।। २।।
हर हू मैं जिन ... कह इन का ... हाथ की दासी।
जन तें तेरो ... न लहिहैं रच्छपाल अविनासी।
कहै मलूका चुप कर ठगनी ... राम दुराई।। मलूकदास की बानी।

सन्त सुन्दरदास के अनुसार माया उत्पन्न और नष्ट होती है। माया नाना प्रकार के भ्रामक कौतुक करती है। रज्जु में सर्प के समान मरु में मरीचिका के समान यह माया सर्वत्र फैल रही है[१०५]।

मारवाड वाले सन्त दरिया साहब के मतानुसार अनादि ब्रह्म में माया अधिष्ठित है[१०६]। सभी लोग माया माया कहते हैं परन्तु माया के स्वरूप का ज्ञान किसी को भी नहीं है। उनके अनुसार आत्मा के अतिरिक्त सभी माया है[१०७]। समस्त दृश्य-जगत स्वप्न के समान है। ये मायात्मक दृश्य ही उत्पन्न होते, व्यवहार करते और अन्त में नष्ट होते हैं। वस्तु का त्याग और गृहण सभी मायात्मक है और स्वप्न के समान है। जिसको माया के भ्रामक स्वरूप का ज्ञान है और आत्मबोध है वह मायात्मक व्यवहारों से भिन्न है[१०८]।

बिहार वाले सन्त दरियासाहब के अनुसार अद्वैत ब्रह्म ही त्रिगुण में लिप्त हो कर जगत रूप में व्यक्त हुआ है। यह त्रिगुणात्मक माया ही उत्पन्न होती है मरती है एवं आवागमन के चक्र में पडती है। अद्वैत ब्रह्म तो सदा एकरस और एकरूप रहता है[१०९]।

---

१०५ उपजै बिनसै सो सब माया वेद पुरानन्हि मैं कही।
नाना बिधि के खेल दिखावै बाजीगर साँची दुही।
रज्जु सर्प मृग तृष्णा नदी ज्यौं माया बिस्तरि रही।
सुन्दर ग्रन्थावली।

१०६ आदि अनादी मेरा साँई दृष्ट मुष्ट है अगम अगोचर।
यह सब माया ... ही ॥ दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी।

१०७ माया माया सब कहै चीन्है नाहीं कोय।
जन दरिया निज नाम बिन सबही माया होय। सन्त दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी।

१०८ उपजै बिनसै अरु बिनसावै।
सुपने अन्तर सब दरसावै। १६।
त्याग ग्रहण सुपना व्यौहारा।
जो जागा सो सब से न्यारा।
बिहार वाले सन्त दरिया साहब की बानी। १६ सुपने का अंग।

१०९ अद्वैत ब्रह्म सकल घट व्यापक निरगुन मैं लपटाना।
आवै जाय उपजि फिर बिनसै जरि मरि कहाँ समाना।
बिहार वाले सन्त दरिया साहब की बानी।

सन्त धरनीदास के मत में दीपक का प्रकाश होने पर रज्जु में भासित होने वाला सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर माया जन्य द्वन्द्व अज्ञान नष्ट हो जाता है। मृग जिस प्रकार मरीचिकाओं में जल का आभास पाकर दौड़ता है और अन्त में निराश होता है उसी प्रकार मनुष्य माया में सुख की लालसा आरोपित करता है किन्तु अन्त में उसको निराश ही होना पड़ता है[110]।

सन्त गरीब दास के अनुसार भी माया मृगतृष्णा है, और संसार माया में भ्रमित हो रहा है[111]। शरीररूपी गढ़ में मन और माया वर्तमान हैं। ब्रह्म इनके बीच में ही निवास करता है किन्तु ये उसकी प्राप्ति में बाधक होते हैं। प्राणी के साथ पञ्चभूत सदैव रहते हैं। माया ने तीनों लोकों को खा लिया है वह सर्वत्र व्याप्त हो गई है। माया और मोह का मिथ्या विस्तार निर्गुण ब्रह्म के अधिष्ठान में हुआ है[112]।

सन्त बुल्ला साहब त्रिगुणात्मक विस्तार को माया मानते हैं। इनके अनुसार माया स्वप्न के समान है और माया डाइन का रूप धारण करके प्राण हर रही है[113]।

---

११० जागत नैनहिं दरस अंधकार निरखित होत ज्यों भोरक का ।
मृगतृष्णा जल धाइ धावे थकि परे पाछ पछितावें ॥
धरनीदास की बानी। बोरनीझा।

१११ जग मग निरखत सृष्टि भुलानी भूल रहा जग मूढ़ ।
ज्ञान अमर पद निर्खे निपजे बीज परकू गूढ़ ॥ गरीबदास की बानी।

११२ मन माया मौजूद है काया गढ़ माहीं ।
बीच पुरुष बसत है सो पावत नाहीं ॥
गरीबदास की बानी। बिरही का अंग। पद ७१।
पाँच भूत जो आदि है चार संग हाल ।
तीन लोक कूँ खा गई लुत से नहिं हाले ॥ ७१ ।
रहनत कोटि अनन्त है माया रच नाचे ।
मनसा माया बिस्तरी निर्गुन तत माहा। गरीबदास की बानी। पद ८६।

११३ रजगुन तमगुन सतगुन माया डारल सब मन छोड़।
गगनमंडल में हरि रस चाख दस बूझै बिरला कोऊ।
बुल्ला साहब का। शब्द सार।। शब्द ८।
यह जग बैस सुपन है सुनहु बचन परमान ।
यह माया बन डाइनी हरहि तनि के प्रान ॥
बुल्ला साहब का शब्द सार। शब्द १४।

सन्त चरनदास के अनुसार छल को माया कहते हैं। माया स्वभावत् मिथ्या है। मायात्मक पदार्थों का जन्म और विनाश होता है। जो भी वाणी द्वारा कहा जाता है और जो भी कानों से सुना जाता है और जो दृश्य आँखों से देखे जाते हैं वे सभी माया हैं। समस्त जड़ आकारों में एक चेतन आत्मा की स्थिति है। आकारों और विकार के रूप में केवल माया का प्रत्यक्ष होता है ब्रह्म का नहीं[११४]।

सन्त चरनदास के अनुसार जल मानो ब्रह्म का रूप है और जल की लहर माया के अनेकात्मक रूप हैं। वस्तुतः लहर भी जल का ही रूप है किन्तु अज्ञानवश जल को व्यवहार भेद से लहर कहा जाता है। यह व्यवहार भेद ही माया का रूप है। माया की ब्रह्मरूप में एकता प्रतिष्ठित करते हुए सन्त चरनदास का कथन है कि अनन्त स्वरूप निराकार ब्रह्म सत चित और आनन्द रूप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म के तीनों स्वरूप माना पुरुष के रूप में माया को प्रकाशित कर रहे हैं। सत चित और आनन्द रूप भी ब्रह्म के सगुण रूप को प्रकाशित करते हैं और यह सगुणरूपता ही माया का स्वरूप है। स्त्री और धन ने सभी को छल लिया है। देवता राक्षस यक्ष और गन्धर्व इन्द्र एवं सभी माया द्वारा ठग लिए गए हैं। माया ठगिनी है, जिसने किसी को नहीं छोड़ा। किन्तु सन्त चरनदास के सद्गुरु श्री शुकदेव माया के छल से मुक्त हैं। उन्होंने माया पर विजय प्राप्त कर ली है[११५]।

---

११४ उपजै सो माया सभी विनसि नेक में जान।
छल माया सो कहत है सपनो सकल विहान।
ब्रह्मज्ञानसागर वर्णन। भक्ति सागर।
जो सुन सतो बोलिये अरु सुनियत है कान
जो आँखिन सों देखिये सब ही माया जान।
एकै सब तन रमि रह्यो चेतन तत्व के माहि।
माया दरसन है सभी ब्रह्म लखन है नाहि। भक्ति सागर।

११५ जल समान तो ब्रह्म है माया लहर समान।
लहर सबै वह नीर है लहर कहै अज्ञान॥ भक्ति सागर।
ब्रह्म निराकार जानो सच्चिदानन्द।
माना पुरुष को रूपधरि माया परकासी है। भक्ति सागर।
छल सब कनक के भिनि रूप॥
सुर असुर अरु यक्ष गन्धव इन्द्र आदिक भूप।
माया ठगिनी ठगे सबही बच गुरु शुकदेव। भक्ति सागर।

संत दयाबाई के अनुसार जन्म और मरण के दुःख में डालने वाले तत्त्व मायाजन्य हैं। किंतु ब्रह्म मन और वाणी द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। ब्रह्म अनुपम सत्य है[११६]। संत सहजोबाई के अनुसार माया के मिथ्या पाश से बँधा हुआ जीव कठिनता से मुक्त होता है[११७]।

संत भीखा साहब के अनुसार सत्य तो केवल एक है और द्वैत मायात्मक है। आत्मज्ञान होने पर द्वैतभावना उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प भ्रम रज्जु में समाकर नष्ट हो जाता है। माया काम, क्रोध, लोभ और विषयों के अनेक रूपों में फैली हुई है। माया भ्रम है, और पंचभूतों एवं पचीस प्रकृतियों द्वारा अस्तित्व में आती है। माया स्वप्न के समान मिथ्या है। मन जब गोविन्द के प्रेम में अनुरक्त हो जाता है, तब माया के भ्रामक रूप से मनुष्य मुक्त हो जाता है[११८]।

संत जगजीवन साहब के अनुसार ब्रह्म अद्वैत स्वरूप है किंतु वही ब्रह्म मनुष्य को माया में भटका देता है। भ्रम माया का रूप है और भ्रम से ही जीव बंधन में पड़ता है। माया बड़ी बलवती है। माया ने ही पृथ्वी, पवन

---

११६ अविगत आन पन नहीं ता [illegible] रूप।
मन बानी [illegible] ज्ञान [illegible] अनूप ॥ २५ । दयाबोध।

११७ माया मोह प्रबल अति भूला। [illegible] भूला।
[illegible] घट में [illegible] छूटे ॥ [illegible] । सहजप्रकाश।

११८ भीखा एक द्वैत का भरम। [illegible] रज्जु में गयउ ॥
भीखा साहब की बानी।
[illegible] काम क्रोध लोभ [illegible]।
[illegible]।
भीखा साहब की बानी। [illegible] ११।
[illegible] पर [illegible]।
[illegible]।
भीखा साहब की बानी।
[illegible] मन [illegible]।
भीखा [illegible] की [illegible] कर [illegible]।
भीखा साहब की बानी।
मन [illegible]।
[illegible]॥
[illegible]। भीखा साहब की बानी।

सन्त चरनदास के अनुसार छल का माया कहते हैं। माया स्वप्नवत् मिथ्या है। मायात्मक पदार्थों का नाम और विनाश होता है। जो भी वाणी द्वारा कहा जाता है और जो भी कानों से सुना जाता है और जो दृश्य आँखों से देखे जाते हैं वे सभी माया है। समस्त जड़ आकारों में एक चेतन आत्मा की स्थिति है। आकारों और विकार के रूप में केवल माया का प्रत्यक्ष होता है, ब्रह्म का नहीं[११४]।

सन्त चरनदास के अनुसार जल मानो ब्रह्म का रूप है और जल की लहर माया के अनेकात्मक रूप है। वस्तुतः लहर भी जल का ही रूप है किन्तु अज्ञानवश जल का व्यवहार भेद से लहर कहा जाता है। यह व्यवहार भेद ही माया का रूप है। माया की ब्रह्मरूप में एकता प्रतिष्ठित करते हुए सन्त चरनदास का कथन है कि अनन्त स्वरूप निराकार ब्रह्म सत चित और आनन्द रूप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म के तीनों स्वरूप मानो पुरुष के रूप में माया को प्रकाशित कर रहे हैं। सत चित और आनन्द रूप भी ब्रह्म के सगुण रूप को प्रकाशित करते हैं और यह सगुणरूपता ही माया का स्वरूप है। स्त्री और धन ने सभी को छल लिया है। देवता राक्षस यक्ष और गन्धर्व इन्द्र एवं सभी माया द्वारा ठग लिए गए हैं। माया ठगिनी है, जिसने किसी को नहीं छोड़ा। किन्तु सत चरनदास के सद्गुरु श्री शुकदेव माया के छल से मुक्त हैं। उन्होंने माया पर विजय प्राप्त कर ली है[११५]।

---

११४ सपन सो माया सभी विनसि नेक में जाय।
छल माया सो कहत है सपनो मकर विहाय।
ब्रह्मज्ञानसागर वर्णन। भक्ति सागर।
जो सुनत सभी कानिये अरु सरिया है कान,
जो आखिन सों देखिये सब ही माया जान।
एकै सब तन रमि रह्यो चेतन नभ के माहिं।
माया रूप हैं सभी ब्रह्म लख्या है नाहिं। भक्ति सागर।

११५ जल समान तो ब्रह्म है माया लहर समान।
लहर सबै वह नीर है लहर कहै अज्ञान॥ भक्ति सागर।
ब्रह्म निराकार तीनों सतचिदानन्द।
मानो पुरुष को रूपधरि माया परकासी है। भक्ति सागर।
दल सम कनक के निधि रूप॥
सुर असुर अरु यक्ष गंधर्व इन्द्र आदिक भूप।
माया ठगिनी ठगे सबही बच गुरु शुकदेव। भक्ति सागर।

म मनुष्य को चाँदी का भ्रम होता

हारिक स्वरूप का वर्णन कर चुके
करेंगे।
रण ही मनुष्य जीवन मरण के
विकारों से रहित होने से मनुष्य
शरीर धारण करने का आदि
शरिक भोगों में रमण करता है।
संस्कार नष्ट हो जाते हैं और
रार प्राणी को कर्म का भोग
रूप में अवतरित करते हैं।
स प्राप्त ज्ञान के द्वारा होता

मलार ॥ १ ॥
ल सोन ॥ २ ॥
न माग ॥ ३ ॥
न ाग ॥ ४ ॥
दू साहब की बानी। भाग १।

की बानी।

७२।

ग।

और सूर्य का निर्माण किया है। माया अनिर्वचनीय और जैसी है वैसी है। उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है[११६]।

सन्त पलटू साहब के अनुसार माया ठगिनी है। देवताओं के घर में माया अप्सरा रूप में और योगी के घर में शिष्या के रूप में वर्तमान है। देवता मनुष्य और मुनियों को भी माया ने खा लिया है। माया अलमस्त और अकेली है[१२]।

सन्त पलटू के अनुसार माया ने समस्त संसार के साथ छल किया है। देवताओं, मनुष्यों और ज्ञानियों को संसार सागर की बीच धारा में डुबा दिया। माया का स्वरूप आकर्षक है किन्तु है वस्तुतः काले नाग का रूप ही। इस माया रूपी नागिन से काटा हुआ मनुष्य क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता है। यह माया मृत्यु का प्रत्यक्ष रूप है। पंचतत्व माया के द्वारा ही रचे गये हैं। जीव ने इस माया के बंधन में पड़ कर अपना पारमार्थिक स्वरूप विस्मृत कर दिया है। माया मृगतृष्णा है जिससे कभी प्यास नहीं बुझती। माया में संसार इस प्रकार फँसा है जैसे सूखे में नौकायें अथवा जलयानों का बेड़ा फँस जाता है। संसार स्वप्न के समान है और भ्रम रूप में

११६ देखन कहा दूसरा ना। एक आति तु हारो।
पेनु भरमाय देत माया मह पेतनु करत हितकारी।
जगजीवन साहब की शब्दावली। भाग १। शब्द ३०।
को तैं अहसि कहा ते आवसि काहे भव भुलान।
सुध सभार विचार करि क बूझु पाछिली ज्ञान।
लाकन एकुकोट माया कठिन माया बान।
लाग सबका बचे को उबाहि हरयो सबका ध्यान॥
जगजीवन साहब की बानी। भाग १।
महा अपरबल भई माया अंत काहु न जान॥ १॥
पवन औ जल कियो धरनी कियो गन ससि भान।
जहाँ ससि है तहाँ तसि द तहाँ तसि धर ध्यान॥ ३॥
जगजीवन साहब की बानी। शब्द १३।

१२ माया ठगिनी जग बौरह
देवनन के घर मह अप्सरा जोगी क घर चेरी।
सुर नर मुनि सब को खाइसि है है अलमस्त अकेली।
पलटू साहब की बानी। भाग ३। शब्द १३५।

इस प्रकार मोहित होता है, उस माया में मनुष्य को चाँदी का भ्रम होता है[१२१]।

यहाँ हम सन्त-काव्य में माया के व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन कर चुके हैं। अब हम मन की मायारूपता का वर्णन करेंगे।

सिद्ध गोरखनाथ के अनुसार मन के कारण ही मनुष्य जीवन मरण के बंधन में पड़ता है, और मन के मायाजन्य विकारों से रहित होने से मनुष्य संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। जन्म के शरीर धारण करने का मूल कारण मन है और मन ही जाग्रत में सांसारिक भोगों में रमण करता है। मन के शुद्ध होने पर प्राणी के संचित कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है। इस मन में भरे हुए संस्कार प्राणी को कर्म का भोग प्राप्त कराने के लिए ही देवता और दानवों के रूप में अवतरित करते हैं। गोरखनाथ का कथन है कि मन का निग्रह गुरु से प्राप्त ज्ञान के द्वारा होता है[१२२]।

---

१२१ माया ठगिनी ठगा संसार, सुर नर मुनि कोउ [illegible] ॥ १ ॥
माया बोलै मीठी बानी [illegible] ध्यान [illegible] ॥ २ ॥
माया है यह काली नागिन (नागिन का) काटे पानी [illegible] न मांगे ॥ [illegible] ॥
[illegible] ॥ ४ ॥
पल्टू साहब की बानी। भाग ३।

पानी पवन अगिन में जोरा धरती और अकासा।
पाँच तत्तु का महल उठाया [illegible] किया तुम बासा।
को तुम पवन कहाँ से आया बारम्बार [illegible]।
इतनी बात सुनै [illegible] फिरि फिरि [illegible]।
पल्टू साहब की बानी।

इतनी बात [illegible] तुमको [illegible]।
मन नग निरखि [illegible],
[illegible] ॥ ३ ॥
यह संसार रैन का सुपना।
रूपा सम सीपी नग है ॥ ४ ॥
पल्टू साहब की बानी। भाग ३। शब्द ७०।

१२२ मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै।
मन जो अस्थिर होइ तिगुणा मरै।
मन शास्त्र मन मन्त्र मन उच्चार।
इनही में छूटै [illegible] विकार॥ [illegible] ॥
[illegible] मन [illegible] सो मन [illegible] गुरु [illegible]।
गोरखबानी।

सन्त कबीरदास के मतानुसार मन के मायाजन्य विकारों से मुक्त होने पर अदृष्ट अथवा इन्द्रिय एवं बुद्धि से अगोचर ब्रह्म के स्वरूप का बोध सहज ही हो जाता है। मन का अहंकार ही पुनर्जन्म का कारण है। हृदय के भीतर दर्पण लगा हुआ है परन्तु यह दर्पण मायिक विकारों से धुंधला हो गया है। जिस प्रकार धुंधला होने पर मुखाकृति स्पष्ट नहीं होती, उसी प्रकार मन के विषयाग्नि द्वारा अशुद्ध हो जाने पर जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् नाना प्रकार के भौतिक द्वैत सम्बन्ध मन में प्रविष्ट होते रहते हैं। मन के विकाररहित होने पर द्वैतजन्य अज्ञान नष्ट हो जाता है एवं ब्रह्म तथा जीव के मध्य अविद्याजन्य व्यवधान नष्ट हो जाता है। मन का निरोध होनेपर ब्रह्म का ज्ञान उदित होता है और आत्मा में आनन्द प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः मन स्वतः ब्रह्म का रूप है किन्तु माया द्वारा विकृत होने पर मन ब्रह्म स्वरूप से वंचित हो जाता है। मन के शुद्ध होने से सांसारिक द्वैत विकार तिरोहित हो जाता है और मन ही ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है[१२३]।

माया जीव को प्रलोभन दिलाती है और अंत में उसका अपकार करती है। माया जीव में मिथ्या के प्रति निष्ठा उत्पन्न करती है और सत्य पर भ्रामक आवरण डालती है। उसमें विविधता अनेकता, अपदार्थ रूपता अनेक वेश नाम रूप और रंग उपलब्ध होते हैं। विषमता होने के कारण माया में एकरूपता नियामकता नहीं है। माया व्यभिचारिणी है। वह डाइन होकर सर्वभक्षण करती है तथा पुत्रादि भी खा लेती है पिता से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करवाती है। व्यवहार में वह स्वतंत्र है और उस पर कोई अंकुश नहीं है परन्तु सत्ता से वह भयभीत रहती है। वह स्त्री रूप में कामिनी और पदार्थ रूप में कनक है। माया स्त्री पुत्रादि व्यवहारों में भी प्रेरणा का

१२३ इस मन को बिसमल करौ दीठा करौ अदीठ।
जे सिर राखौं आपणां तौ पर सिरि अंगीठ॥
हिरदा भीतर आरसी मुख देखणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिये जे मन की दुबिधा जाइ॥
मैमंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस॥
मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि॥ कबीर ग्रन्थावली

रूप है। अविद्या माया के सम्बन्ध से आत्मा दुखी है। सर्वत्र यही द्वैत का कारण और स्वप्न में सत्य की प्रतीति मरु में जल की प्रतीति सीप में चाँदी की प्रतीति, रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान है। मन का निर्माण भी माया के द्वारा होता है। माया-द्वारा मन अन्तर्मुखी होकर विषयों में आसक्त होता है। सन्त कबीर दास के काव्य में माया के सम्बन्ध में उपर्युक्त भावना प्रधान है। इसी प्रकार की भाव धारा और माया के लिए स्पष्ट संज्ञाओं का प्रयोग गोरखनाथ के काव्य में भी मिलता है।

सिद्ध गोरखनाथ सोपाधि मन को बंधन का कारण और विषय विकार से मुक्त मन को मोक्ष का साधन मानते हैं। विषय विकारों से युक्त होकर मन साधारण मनुष्य से लेकर देवताओं तक के बंधन का कारण है। यही मन गुरु से प्राप्त ज्ञान के द्वारा स्वरूपावस्थान का साधक होता है।

सन्त कबीरदास के अनुसार मन का निग्रह करने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसके अनुसार मन वस्तुतः अध्यास रूप है। पांचभौतिक शरीर और इन्द्रियों में आत्म स्वरूप की प्रतीति होने के कारण आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। इन्द्रियों के द्वारा विषयों में मन प्रसारित होता है, और ब्रह्मज्ञान होने में बाधा उपस्थित करता है। परन्तु उपाधि से मुक्त होकर वही मन ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

सन्त रैदास भी इस अध्यस्त मन का विकारों से मुक्त होना मानते हैं। यह माया विषय रूप है और राम-नाम से साधक को वंचित कर देती है। सन्त [illegible]दास ने मायाजन्य विकारों से मुक्त रहने के लिए प्रायः मनोबोध का आश्रय लिया है। सन्त नानक के काव्य में भी इसी प्रकार के मनोबोध की प्रधानता है। सन्त दादूदयाल, सन्त सुन्दरदास सन्त मलूकदास सन्त चरनदास सन्त भीखा साहब सन्त जगजीवन साहब और सन्त पलटू साहब ने मन की सोपाधिकता स्वीकृत की है। इन्द्रिय विषय जगत के विविध आकर्षण स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति ये सब मन से ही प्रेरणा पाकर विलास भोगते हैं।

सन्त रैदास के अनुसार मन माया के विषयों में रमकर हरि के स्वरूप को भूल जाता है। भौतिक सम्बन्ध अनित्य हैं और प्राणी की मृत्यु हो जाने पर ये सम्बन्ध छूट जाते हैं। माया वस्तुतः निःसार है। सन्त रैदास का कथन है कि यदि मन विषयों में अनुरक्त हो तो उसको हरि-नाम का आश्रय लेकर माया से विमुख कर लेना चाहिए, किन्तु यदि हमारा मन शुद्ध है तो विषयासक्ति

का दूषण नहीं लग सकता। जीव तो स्वतः नित्य शुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म ही है। उसमें व्यावहारिक बन्धनों का अभाव कहा जा सकता है। अतः मन को ही शुद्ध करने का प्रयत्न साधक को करना चाहिए। मन के शुद्ध होने पर मुक्ति के लिए उपाय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि मायाजन्य विकारों से रहित मन स्वतः ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है[१२४]।

सन्त नानक साहब के अनुसार माया और मोह त्याग कर सांसारिक आकर्षणों से विमुख होने पर साधक के हृदय में ही ब्रह्म का निवास होता है[१२५]।

सन्त दादूदयाल के अनुसार मनुष्य इन्द्रिय और मन को तृप्त करने का प्रयत्न करता रहता है किन्तु जिस कारण से संसार में मनुष्य को बन्धनरूपा योनि धारण करनी पड़ती है उस कारण का उच्छेदन करने के लिए अज्ञानी मनुष्य कुछ उपाय नहीं करता। जब तक मन विषयों में लिप्त रहता है तब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता। मन में जब तक संकल्प विकल्प अथवा द्वन्द्वजन्य विकारों का प्रादुर्भाव होता रहता है तब तक वह अशुद्ध रहता है किन्तु अविद्यात्मक विकारों के नष्ट होने पर मन शुद्ध हो जाता है। मन के अविद्यात्मक विकारों में लिपटे रहने पर अविद्या का अधिकार जीव पर रहता है परन्तु विषयासक्ति त्यागकर आत्मस्वरूप में अनुरक्त होने पर मन ही ब्रह्मस्वरूप में समाहित हो जाता है[१२६]।

---

१२४ कहु मन माया नाम संभारि।
माया कै भ्रम कहा भूल्यो जाहुगे कर झारि।
देखि धौं इहाँ कौन तेरो सगा सुत नहिं नारि।
तोरि अनग सब दूरि करिहै दैहिंगे तन जारि।
यह माया सब थोथरी रे भगति दिसि प्रतिहार। रैदास का बानी।
मन लीन विषयारस लपटि जो हरि नाम संभारि।
जो हम विमल हृदय जिन अन्तर नाम काल पर धरिहौ।

रैदास की बानी। पद ३२।

१२५ जिहि माया ममता तजी सभ ते भयो उदास।
कहु नानक सुनि रे मना तिहि घटि ब्रह्म निवास। सुन्दर गुटका। सलोक। ९।

१२६ इन्द्री स्वारथ सब किया मन मांगे सो दीन्ह।
जा कारण जग सिरजिया सो नाह कदू न कीन्ह।

दादूदयाल की बानी।

संत सुन्दरदास के अनुसार मन के विस्तार के रूप हैं काम, क्रोध और लोभ। माया का समस्त प्रपंच भी मन के विस्तार का ही रूप है। मन के सुन्दर और असुन्दर होने पर ही जगत सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत होता है। मन जब संसार के प्रति प्रवृत्त होता है तब मन भी जगत्रूप में परिवर्तित हो जाता है। किंतु यही मायामुखी मन जो विकाररहित होकर ब्रह्मानन्द के प्रति अभिमुख होता है तो मन ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्माकार होता है[१२७]।

संत गरीबदास के अनुसार मन अजर [illegible] है। इसको जीत कर मन पर माया पर विजय पाई जाती है। मन को जीता बिना मैं [illegible] पराजित-मानव बनाकारक होते हैं। बिना मन के विकारों का नाश किए पूजा पाठ का प्रयास सफल नहीं हो सकता और ज्ञान की मशाल भी मंद बना रहता है। मन्दाग्र वस्तुतः बुद्ध का शत्रु है। यदि राम को प्राप्त करना है तो मन को ही

शाद विषय विकार सों [illegible] एक मन लाग।
तब [illegible] मान न आवै निमवल परिनाम।
[illegible] सब एक मन के [illegible] गुण सब [illegible] लिपटे [illegible]।
इ गुण सब [illegible] तिहि पर सब निकसी [illegible]।

मन हो मन सों थिर भया मन हो मन मन रहइ।
मन ही मन सों निरि रहा [illegible] कल्प न [illegible]।

दादू मन ही माया ऊपजै मन ह [illegible]।
मन ही राता राम सों मन ही गहर [illegible]।

दादू बहुरूपी मन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] मन लागा राम सों [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible]।

---

१२७ लोभी सुन्दर मन बड़ा कठिन [illegible] [illegible]।
लोभी [illegible] न होत है [illegible] लख्यो सदूर। — सुन्दर ग्रन्थावली। भाग १। साखी।
मन ही यह विस्तरि रह्यो मन ही रूप कुरूप।
सुन्दर यह मन जीव है मन ही [illegible]।

— सुन्दर ग्रन्थावली। भाग १। साखी।
[illegible] मन देवै [illegible] को [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] को [illegible] मन [illegible]।

— संत गरीबदास। [illegible]। [illegible]।

साधन म प्रवत्त करना पड़ेगा। राम की कृपा रूपी वायु ने मसार संसार के भ्रामक वासना को उखाड़ छिन भिन कर सकते हैं[१२८]।

सत चरनदास के अनुसार मन को हरिस्मरण म लगा देना चाहिए, क्योंकि रिक्त मन भौतिक बधना म पड़ा रहता है और परिणाम यह होता है कि पुन पुन शरीर धारण करके मनुष्य दुखी होता है पुन पुन मत्यु होती है और काम क्रोधादि शरीर को विनाश करते हैं। यदि मन के रोग और दुख नष्ट नही होते तो मनुष्य हिंसा म डूबा रहता है। पुरुष का स्त्री पुत्रादि सम्बन्धो से वराग्य नही होता। बिना वराग्य हरि से प्रम भी नही हो सकता है[१२६]।

सत भीखा साहब के अनुसार माया के कारण ससार के अनित्य स्वरूप को पहचानने म विलम्ब होता है। सात्विक बुद्धि का नाश हो जाता है और मनुष्य कुटिल कर्मों म भटकते रहते हैं परन्तु समझने की बात कुल इतनी है कि मन और माया का नाश जब तक नही होगा तब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नही हो सकता है। मन को धिक्कार है क्योंकि मन ही प्रपच म आसक्त

---

१२८ काल जीति सकै नहीं, यह मन जस देव।
कास जाके जीत है, अब मैं पायो भेव॥
मन जीते बिन जो करै—साधन सकल कलेस।
निरशा ज्ञान अज्ञान है नाहि गुरू उपदेस।
यह मन अकल अमीर जीनिदा दमन करो पांचो नारी।

गरीबदास की बानी।

यह जग धन्दा धुँधका का मिहिर पीना टरिये।
जो मन धारे रामहु दामा तन करिये। गरीबदास की बानी।

१२६ अब तू समिरण कर मन मेरे।
अगल पिछले अब के कीय पाप कटै सब तेरे।
यम के दण्ड दहन पातक की चौरासी दुख मेरे।
जम मरै न योनि आवै या जग करै न फेरो।
काम क्रोध मद पाप कराते हरि बिन और न माने।

भक्तिसागर। शब्द।

मन के रोग शोक नहि खोय हिसा डूबे अखसारे।
स्त्री नारी सुतरू मोह कियो है नेक न हरि के प्रेम अरे।

भक्तिसागर। शब्द।

होकर अज्ञान का आश्रय लेता है। पाप-पुण्य, ऊँच-नीच, पचतत्व पच्चीस प्रकृतियां सभी भ्रामक हैं और मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है[१३०]।

सन्त जगजीवन साहब के अनुसार मन अज्ञान का ही आश्रय लेकर अनेक क्रम और विषयों में भटकता फिरता रहता है। किन्तु ईश्वर के स्वरूप में लग कर मन के विकार नाश हो जाते हैं[१३१]।

सन्त पलटू साहब के मतानुसार मन हाथी लोमड़ी कौवा और सिंह का रूप है। मन को हाथी इसलिए कहा गया है कि विषयों से मद से अंधा होकर वह किसी के वश में नहीं रहता। मन लोमड़ी इसलिए है कि अविद्यात्मक विषयों की चोरी बड़ी चतुरता से करता है। मन कौवे के समान काला अर्थात् तमोगुण से युक्त रहता है और भक्ष्याभक्ष्य, शुद्ध अशुद्ध सभी प्रकार के व्यवहारों में दौड़ता फिरता है। मन सिंह के समान है क्योंकि अहंकार का उदय होने पर मन को विवेक बुद्धि का ज्ञान नहीं रहता, हित की बात नहीं सुनता और गुरु के उपदेश की अवहेलना करता है[१३२]।

मन की अविद्यात्मकता का वर्णन हम कर चुके हैं और यहाँ हमने यह निश्चित किया है कि मन ही माया के भासने का माध्यम है। सन्तों के अनुसार मन के दो पक्ष हैं —

१ माया में अनुरक्त होकर मन के द्वारा ही जीव और ब्रह्म का भेद उत्पन्न किया जाता है।

१३० रे मन ह ह कवन गति मेरी, मेरी मनम बूक होन बेरा।
मन भ्रमार भाय गति गामा लागी भार। करम कुटिल करै गति गर तेरी।
भीखा चरनों ... लीनै मन माया दूरि कीनै। मीखा साहब की बानी।
पाप अरु पुन्न नर कुन्तन हानलिना ... नाच सब दइ थारी।
पाँच अरु तीनि पचीस के बस परो राम को नाम स्हनै बिसारी।
महा बालम दुख बार बार पत तजि ... ...।
सब तजि धिक्कार धिक्कार है ताहि ... बिना हरिभिन्न जीवन बिगारी।
मीखा साहब की बानी।

१३१ मेरो मन अब तुम तें लागा।
सातम रहउ अचल सुधि नहि गुरु मन मन तें लागा।
मन करम सब ... मैंह ... फिरो अभागा।
जगजीवन साहब की शब्दावली। भाग २।

१३२ मन हस्ती मन लोमड़ी, मन काग मन सेर।
पलटूदास ... करै मन के इतने फेर॥ पलटू साहब की बानी। भाग ।

२ माया अथवा अविद्या से मुक्त होकर मानव ही ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित होता है।

उपर्युक्त क्रम के अनुसार सन्तों और आचार्य शङ्कर के मतों में भेद नहीं है। आचार्य शङ्कर ने त्रिगुणात्मक या त्रिदेवात्मक माया का वर्णन केवल श्वेताश्वतर भाष्य में ही किया है। सगुण्य के अनुसार उन्होंने ब्रह्म की शक्ति रूपता का प्रतिपादन किया है। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में ब्रह्म की शक्ति और इसके स्वरूप का कथन (शक्तिविपर्ययात् २।३।३८) ब्रह्मसूत्र के भाष्य में किया है। वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म की शक्तिरूपता की प्रतिष्ठा की गई है। जन्माद्यस्य यतः ब्रह्मसूत्र २।१।१ से जन्म, स्थिति और प्रलय सृष्टि की तीन स्थितियों का कथन किया गया है। ब्रह्मा को सृष्टि के, विष्णु पालक और शङ्कर प्रलयकर्ता कहे गये हैं। सृष्टि के इन रूपों का कारण ब्रह्म कहा गया है[133]। परन्तु कारण और कार्य की पृथक् सत्तायें न होने के कारण शक्ति और शक्तिमान का अभेद शङ्कर के अनुसार तदनन्यत्वादिभ्यः सूत्र से पीछे अनेक सन्दर्भों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। इस प्रकार माया अथवा शक्ति के विकारों से ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म की सृष्टि मायात्मक है अतः इसके संसर्ग से ब्रह्म को भी विकारी होना चाहिए क्योंकि माया विकारों की जननी है परन्तु ब्रह्म अविकारी है ब्रह्म की कर्म के फलों में आसक्ति न होने से उसके कर्म संसर्गित नहीं होते[134]। फल न होने से उसके द्वारा आगामी कर्मों की भी सम्भावना नहीं है। अतः माया का अधिष्ठान होते हुए भी ब्रह्म भी उसके विकारों से युक्त नहीं होता, जैसे मेघों से आकाश विकृत नहीं होता। जैसे आकाश में अनेक रूपों, रंगों और आकारों वाले मेघ आते हैं परन्तु स्थिर आकाश में अस्थिर बादलों का वस्तुतः वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इसी आधार पर 'आत्मा अथवा जीव का स्वरूप' प्रकरण में कहा गया है कि निरुपाधिक जीव ब्रह्म ही है। जीव का परिच्छिन्नत्व आकाश में बादलों के समान अस्थायी है[135]।

---

१३३ सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते॥ दुर्गा सप्तशती। अध्याय ११।

१३४ न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥ गीता। ४।१४।

१३५ न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः॥ ५०१। विवेक चूडामणि।

सन्त काव्य में माया का सिद्धान्त यद्यपि निर्गुण अथवा सगुण भक्ति रूप की छाया में ही विकसित हुआ है परन्तु फिर भी आचार्य शङ्कर के मत में सन्तों के मत में कुछ विभिन्नता है। सन्तों ने यद्यपि माया के कारण ही सृष्टि और संसार का अस्तित्व कहा है तो भी आचार्य शङ्कर की अपेक्षा इन्होंने माया का रूप सन्तों की वाणियों में अधिक व्यावहारिक एवं नित प्रतिदिन की उन अनुभूतियों से पूर्ण है जो वैराग्य की प्रेरणा देती हैं। सन्तों के अनुसार माया एक ऐसा प्रभावशाली तत्व है जिससे मनुष्य में कोई भी सुरक्षित नहीं रह सकता। पीछे इसी प्रकरण में निर्गुण माया के तीन रूप कहे गये हैं। सन्तों ने भी इनको माया के रूप में ही स्वीकार किया है। किन्तु सन्तों के काव्य में फिर भी एक विभिन्नता है। सन्त इन देवताओं को अत्यन्त सामर्थ्यशाली मानते हुए अनुभव करते हैं कि माया ने इन देवताओं को भी प्रभावित कर लिया है। जिस प्रकार मनुष्य को नारी अनेक व्यवहारों में आसक्त करती है उसी प्रकार विष्णु के साथ माया लक्ष्मी रूप में और शिव के साथ पार्वती रूप में छलना का विस्तार कर रही है। माया का दूसरा रूप है कनक अथवा धन। धन से सभी जागतिक व्यवहार चलते हैं। मनुष्य धन से ही अनेक आकर्षणों और आसक्तियों में पड़ता है। जगत के मान सम्मान पुत्र मित्रादि एवं अनेक सांसारिक सम्पन्नताएँ स्थूलरूप जीव को अपने स्वरूप ज्ञान से भिन्न कर देते हैं। माया का तीसरा रूप है पंचभूतात्मक शरीर और संसार। प्राणी शरीर को स्थायी समझ कर उसमें ही आत्मबुद्धि आरोपित कर लेते हैं और उसके संस्कार शृंगार में समय नष्ट करके जीवन-शक्ति का व्यय करता चला जाता है। अज्ञानी प्राणी जड़ में चैतन्यबुद्धि और अनात्म में आत्मबुद्धि करता है। परन्तु इसका परिणाम निराशापूर्ण होता है क्योंकि मृत्यु इनके भूत स्थायी और अस्थायी तथ्यों का निर्णय करके नित्य और अनित्य पदार्थों का ज्ञान करा देता है। माया अनित्य है और ब्रह्म नित्य। सन्तों की वाणी में यह भावना स्पष्ट है कि वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और मृत्यु का समय निकट आ जाता है। उस समय इन सब विषयों की असारता प्रकट होती है। आचार्य शङ्कर ने जीवन के इस पलायन-पक्ष का यद्यपि इस प्रकार विस्तारपूर्वक समर्थन नहीं किया है परन्तु उनके नित्यानित्य विवेक में इन्द्रियों और उनके विषय परिहार में इसके व्यावहारिक त्याग का समर्थन अवश्य किया है।

नित्यानित्य विवेक के आधार पर संज्ञा के समग्र पर्याय सत्ता के

द्वैधात्मक रूप है। जो पदार्थ आता है वह जाता भी है। जो उत्पन्न होता है वही मरता है। अतः मरने वाला अनित्य है। जो अनित्य है उसकी स्थिति वस्तुतः नहीं है। किन्तु मोक्ष और ज्ञान नित्य हैं। संसार का नाश करना ही मोक्ष का लक्ष्य है। द्वैत रूप जगत का विधूनन करके आनन्द में प्रतिष्ठित माया का तिरोभाव होना ही साधना का साध्य है। इसके लिए आसक्ति अनुपादेय है। विषयों से विरक्त होना ज्ञान का साधन है। कर्म और संस्कार जगत और शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं। ये जगत और शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से बने हैं। इसी कारण ये प्रपंच माया कहलाते हैं। यह प्रपंच माया है। विवेक चूडामणि में कहा गया है कि परमतत्त्व के ज्ञान होने पर सत्स्वरूप निर्विकल्प परब्रह्म में विश्व का कहीं पता भी नहीं चलता। त्रिकाल में भी रज्जु में सर्प नहीं होता और मृगतृष्णा में जल की बूँद भी नहीं होती[136]।

संतों ने इस पंचभूतात्मकता को इसी हेतु नाश करने का आग्रह किया है। यावत् रचना प्रपंचात्मक है। शरीर की रक्षा और शृंगार के हेतु नाना प्रकार के व्यवहार मनुष्य करते हैं। किन्तु शरीर नाशवान है। संत इसीलिए शरीरासक्ति के विरोधी हैं।

संतों के अनुसार अविद्या के प्रतिनिधिस्वरूप नित्यानित्य विवेक और वैराग्य को अधिक प्रेरणा मिलती है। पीछे दिये हुए उद्धरणों से यह स्पष्ट है। शङ्कर ने इन दोनों साधनों को साधन सम्पत्ति के क्षेत्र में स्वीकार किया है। निर्गुण संतों ने औपाधिकता मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का निरूपण भी आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त के अनुकूल किया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार अविद्याजन्य विकार आत्मा के शुद्ध रूप के आच्छादक हैं। उनके अनुसार भी उपाधि ब्रह्मस्वरूप जीव को व्यवहार में डालती है और जीव को आत्म स्वरूप के ज्ञान से पृथक् करती है। इसके अतिरिक्त संतों के अनुसार माया में आचार्य शङ्कर की तुलना में कुछ विशेष विषमताएँ भी हैं। वे या तो माया को ईश्वर के आधीन मानते हैं अथवा ब्रह्म की विश्वरूपता के साथ उसका समाधान करते हैं। विरक्त भावना से सम्बन्धित माया ही

१३ न दृश्यते विश्व परतत्त्वबोधात्
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे,
न ह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम्॥ ४०५ ॥ विवेक चूडामणि।

निर्विकारिता और निरावयवता एवं कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित ब्रह्म स्वरूप की प्रतिष्ठा करती है। संतों के अनुसार भी माया ब्रह्म से अतिरिक्त और स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। प्रायः माया संतों के अनुसार दूषण है। सर्पिणी, व्याघ्रणी, डाइन एवं इसी प्रकार के अन्य सम्बोधन संतों के काव्य में मिलते हैं। आचार्य शङ्कर ने माया का इस प्रकार भर्त्सना का भाव नहीं दिखाया। माया को आचार्य शङ्कर ने उसका अकथनीयता का भाव देकर परा प्रकृति के अन्तर्गत उसको ब्रह्मरूप ही मान लिया है। सन्त-काव्य में माया की विलक्षणता अनेकरूपता और व्यावहारिकता के प्रति सन्तों का अधिक ध्यान है।

संतों के अनुसार विषय, इन्द्रियाँ और मन माया के प्रमुख तत्त्व हैं संसार की असारता को माया के रूप में सन्तों ने ग्रहण किया है। अविद्या पक्ष का प्रमाण संतों ने कम किया है। जगत की नश्वरता, मनुष्य के बड़े बड़े मनोरथ, द्रव्य, शरीर और विशाल प्रासादों के वैभव ये सभी सन्तों के अनुसार माया के रूप हैं। आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार के व्यावहारिक स्तर पर माया का विवेचन अपने भाष्यों में नहीं किया है। मनुष्य की बुद्धि इन अविद्यात्मक व्यवहारों में अध्यस्त है। अनित्य पदार्थों में उनकी क्षणिकता का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता। अतः वह इनके व्यवहारों में भ्रमवश लिप्त हो जाता है। वस्तुतः सन्त माया के सिद्धान्त की अधिक चर्चा नहीं करते। वे माया और उपाधि का जो साधारण रूप दिन प्रतिदिन मानव जीवन में व्यवहृत होते देखते हैं उसका ही कथन करते हैं। संतों के अनुसार माया में विलक्षण शक्ति है, क्योंकि वह बलपूर्वक मनुष्य को परमार्थ मार्ग से अलग कर देती है।

इस प्रकरण में माया और मन की अविद्यात्मकता कही जा चुकी है। संतों के मत में मन ही मायिक पदार्थों में अध्यस्त होता है। यह अध्यास बुद्धि शून्य आकाश में नीलिमा का आभास कराता है। वस्तुतः इस नीलिमा को आकाश उत्पन्न नहीं करता। इस नीलिमा को देखने वाला पुरुष भी नीलिमा उत्पन्न नहीं करता। किन्तु फिर भी इसकी उपलब्धि होती है। ठीक इसी प्रकार माया को न तो पुरुष उत्पन्न करता है और न ब्रह्म ही, किन्तु फिर भी माया आकाश में नीलिमा के समान संसार रूप में वर्तमान है। आचार्य शङ्कर ने बौद्धों के शून्य और विज्ञानवादियों के मतों का खण्डन करते हुए संसार के असत् रूप अथवा शून्य रूप को स्वीकार किया है। आचार्य शङ्कर ने कहा है कि वन्ध्या के पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती। निर्गुण में भी

खरगोश के सींग नहीं देखे जा सकते क्योंकि पुत्र और शृङ्ग अभाव स्वभावी है। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि अभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती[१३७]। छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि सृष्टिकल्प के पूर्व जगत कारण अस्तित्व रूप था असत्तित्व रूप नहीं। असत् में सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती[१३८]। समस्त पदार्थों का सद्भाव ब्रह्म ही है। उसी से अनेक रूपों की उत्पत्ति ब्रह्मसूत्र में कही गई है। सन्त कवि कहीं माया अथवा जगत को अभाव रूप में भी ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। परन्तु बौद्ध सत् ब्रह्म और विज्ञान के विरोध में सत्ता को ब्रह्म इस बात का प्रमाण है कि सन्त जगत सत्ता को अभाव नहीं मानते। इसी प्रकार आचार्य शङ्कर और उपनिषद् ब्रह्म के सतस्वरूप की पोषक हैं। अब माया के स्वरूप में सत्ता की जो अभावरूपता प्रतीत होती है उसका कारण है अनित्य पदार्थ सत्ता। सन्त माया को इसीलिए अभाव रूप में देखते हैं कि जागतिक पदार्थ सत्ता वस्तुतः स्थायी नहीं है। जिस वस्तु का अस्तित्व है उसका बाध त्रिकाल में भी नहीं होता है। जिसकी स्थिति नहीं है वह त्रिकाल में भी स्थित नहीं होता। अतः मायाजन्य पदार्थ स्थिर नहीं हैं। इन्द्रियों से भोगे जाने वाले सुख क्षण स्थायी हैं। धनराशि से मनुष्य मृत्यु को नहीं जीत सकता। जिस आनन्द की कल्पना से मनुष्य स्त्री का साहचर्य चाहता है वह भी दो क्षण के प्रवाह से विच्छिन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जिस शरीर मन और बुद्धि से मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है वे स्वयं भी निर्बल होकर भोग भोगने में समर्थ नहीं रह जाते।

जो वस्तु वस्तुतः है नहीं फिर भी नित्य मुक्त आत्मा के बन्धन का कारण है वही माया है। यही उत्पन्न होती है और यही मरती है। यही संसार में आती है और यहाँ से जाती है। सन्त माया के इस अस्थायी और अमंगलकारक स्वभाव से परिचित हैं इसलिए सन्तों ने माया को दूषण रूप में अङ्कित किया है।

सन्त ब्रह्म कारण में ही कार्य की स्थिति मानते हैं। सन्त काव्य में वर्णित समरथाई के प्रसङ्ग से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म के सामर्थ्य को सन्तों ने माया कहीं नहीं कहा। इस अवस्था में माया जीव के लिए केवल एक भ्रम उत्पन्न करने का साधन ही ता है। जीव को ब्रह्मत्व से और अनेक

१३७ नाभाव उपलब्धेः। ब्रह्मसूत्र। २।२।२८।

१३८ नहि गुणिनो द्रव्यगुणवत्त्वभावेन। ब्रह्मसूत्र भाष्य। २।२।२८।

अठारहवां प्रकरण

आत्मा अथवा जीव का स्वरूप

'सात ग्रन्थ में ब्रह्म का स्वरूप अपन विवेचन का
गु म अब हम सन्त ग्रन्थ में जीव अथवा आत्मा का
विषय बनायगे ।

नुसार आत्मा अथवा जीव का स्वरूप प्रकरण म
दर्शन का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म का एकमात्र सत्य
करता है । किन्तु प्रत्यक्ष ससार की उपलब्धि
है एव ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान जीव को नहीं होता ।
आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अथवा जीव का
और अनात्मा का प्रसग उठाया है । आचार्य शङ्कर
मा के विवेक का उल्लेख ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका
स सम्बन्ध आत्मा अथवा जीव सदभ म
। विवेक चूडामणि म कहा गया
मन समस्त विकार हैं । सुखादि
प तपर्यन्त विश्व म सभी
त माया के सम्पूर्ण काय
स्वरूप के सम्बन्ध म
का आधार है एव
का साक्षी है और

ानन्द ।

सन्ता न माया को ठगिनी आदि नामा से सम्बोधित किया है। यहाँ भी शाङ्कर से सद्धान्तिक विरोध नही है। माया की परिभाषा म गीता भाष्य स उद्धरण देते हुए आचाय शङ्कर ने स्वय माया को कपटरूप कहा है। यह माया ही द्वत है। इससे उत्पन्न द्वत स ही जीव और जगत ब्रह्म सत्ता स पथक प्रतीत होते है।

उपयुक्त विवेचन के आधार पर हम निश्चित करत हैं कि सन्ता और शङ्कर की अविद्या अथवा माया सम्बन्धी भावना म सद्धान्तिक भेद नही है। सन्ता के सम्बन्ध म यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन्होंने शङ्कर के अविद्या सिद्धान्त को लोक-व्यवहार के अधिक निकट उतार लिया है। सन्ता के लिए अविद्या केवल शास्त्र चर्चा का विषय नही रह गई है। इन्होंन उस दनिक जीवन म सवसाधारण के लिए अनुभवगम्य और सुलभ बना दिया है। सन्ता ने समाज के लिए आधार की प्रतिष्ठा की और आचाय शङ्कर के अविद्या सिद्धान्त का व्यवहार योग्य रूप रेखा प्रदान की। अत हम कहेंगे कि उपनिषद गीता, ब्रह्मसूत्र और आचाय शङ्कर के दशन म अक्षुण्ण रहता हुआ अद्वत वेदान्त का प्रभाव सन्ता के काव्य म भी चलता रहा।



अठारहवा प्रकरण

निर्गुण काव्य मे आत्मा अथवा जीव का स्वरूप

पिछले प्रकरण में हमने सन्त काव्य में ब्रह्म का स्वरूप अपने विवेचन का विषय रखा है। इस प्रकरण में अब हम सन्त काव्य में जीव अथवा आत्मा का स्वरूप अपने विवेचन का विषय बनायेगे।

आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अथवा जीव का स्वरूप प्रकरण में हम कह चुके हैं कि अद्वैत दर्शन का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म की एकमात्र सत्य और अभेदरूपता प्रतिपादित करना है। किन्तु प्रत्यक्षतः संसार की उपलब्धि प्राणी को सहज ही होती है एवं ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान जीव को नहीं होता। इसी आधार पर हमने आचार्य शङ्कर के अनुसार आत्मा अथवा जीव का स्वरूप प्रकरण में आत्मा और अनात्मा का प्रसंग उठाया है। आचार्य शङ्कर ने आत्मा और अनात्मा के विवेक का उल्लेख ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका चतुस्सूत्री में किया है। इस सम्बन्ध में हम आत्मा अथवा जीव सम्बन्ध में विचार भी कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त विवेक चूडामणि में कहा गया है कि देह इन्द्रियाँ प्राण मन और अहकार ये समस्त विकार हैं। सुखादि सम्पूर्ण विषय आकाशादि पंचभूत और अव्यक्त पर्यन्त विश्व में सभी अनात्मा हैं। माया और महत्तत्त्व से लेकर देह पर्यन्त माया के सम्पूर्ण कार्य मृगतृष्णा के समान असत और अनात्म हैं[1]। आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में विवेक चूडामणि में कहा गया है कि आत्मा अहं प्रत्यय का आधार है एवं नित्य है। आत्मा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी है और

---

[1] देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमाद्य

सर्वे विकारा विषया सुखाद्य ।

व्योमादि भूतान्यखिलं च विश्व

मव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥ १२४ ॥

माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम् ।

असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥ १२५ ॥ विवेक चूडामणि ।

अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों से अतीत है[२]। आत्मा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अहं भाव से स्थित रहता है। मैं जाता हूँ, मैंने स्वप्न में हाथी देखा, अथवा आज मैं अति सुख की निद्रा सोया इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में आत्मा प्रत्येक अवस्था का ज्ञान रखता है। आत्मा इन अवस्थाओं में अहंभाव में स्थित रहता है[३]। विवेक चूडामणि के अनुसार आत्मा समस्त जड़ एवं चेतन पदार्थों का द्रष्टा है किन्तु आत्मा का द्रष्टा कोई नहीं है। आत्मा बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार इन चार अन्तःकरणों को प्रकाशित करता है किन्तु ये आत्मा को प्रकाशित नहीं करते। ये अन्तःकरण आत्मा को इसलिए प्रकाशित नहीं करते कि ये अचिदात्मक हैं किन्तु आत्मा चेतन हैं। आत्मा अधिष्ठान है और अन्तःकरण आत्मा में अधिष्ठित है। अतः ये अन्तःकरण आत्मा को प्रकाशित नहीं करते[४]। आत्मा के द्वारा समस्त विश्व व्याप्त है। आत्मा को अन्य तत्त्व व्याप्त नहीं कर सकते। आत्मा के आभास से समस्त जगत भासित होता है[५]। आत्मा के सान्निध्य से देह इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रेरित होकर अपने विषयों का व्यवहार करते हैं[६]। आत्मा मन अहंकार रूप विकार देह इन्द्रिय और प्राण की क्रियाओं का ज्ञाता है। जिस प्रकार तपाकर लाल किए हुए लोह के पिण्ड की अग्नि लोह के विकारों को प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार आत्मा इन्द्रिय और शरीर आदि का

२ अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षणः ॥ विवेक चूडामणि।१२७।
पंचकोश विवेक का वर्णन सिद्धान्त पक्ष के आत्मा अथवा जीव प्रकरण में हो चुका है।

तीनों अवस्थाओं का वर्णन भी इसी प्रकरण में हुआ है।

४ यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम्। ।१२८। विवेक चूडामणि।

३ यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तु यं चेतयत्ययम्॥ ।१२९। विवेक चूडामणि

५ येन विश्वमिदं व्याप्तं यं न व्याप्नोति किंचन।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम्॥ १३०। विवेक चूडामणि।

६ यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव। १३१। विवेक चूडामणि।

अनुवतन करता है किन्तु इनके विकारा स विकृत नही होता[७]। आत्मा जन्म मत्यु वृद्धि क्षीणता आदि स विकृत नहा होता। आत्मा नित्य है एव शरीर के लान हो जान पर, घट के फूटने पर घटाकाश के समान लीन नही होता[८]।

आत्मा अनादि है अत उसका उत्पत्ति नहा होती। तदुपरान्त पचकोश विवक और अवस्था त्रय का वणन है। किन्तु शोध सन्दभ म यहा इनका उल्लख करना आवश्यक नहा है क्योकि स त्दो य म इनका महत्वपूण स्थान नहा है। शकराचाय और आचाय शकर क सिद्धान्त म इनका स्वतन्त्र स्थान भी नहा है वरन उपनिषदो क भाष्या म भी इनका प्रासगिक वणन हा हुआ है।

'आत्मा अथवा जीव' सन्दर्भों म हमन कहा है कि आत्मा का कतत्व भोक्तत्व पारमार्थिक नहा है वरन् औपाधिक है। वस्तुत जीव और ब्रह्म म अभेद है एव उसक कत त्व भोक्तत्व अविद्यात्मक एव उपाधिकृत हैं। विवक चूडामणि म कहा गया है कि आत्मा स्वयप्रकाश एव विज्ञान स्वरूप है। आत्मा हृदय के अन्दर प्राणा म स्फुरित हो रहा है। आत्मा कूटस्थ एव निर्विकार है किन्तु उपाधि क कारण कता और भाक्ता है[९]। आत्मा मिथ्या बुद्धि स परिच्छिन्न होकर अपन को अपन म भिन्न दखता है। जिस प्रकार लोह क पिण्ड म याप्त होकर अग्नि लोह क भिन्न आकार की हो जाती है उसी प्रकार उपाधिवश आत्मा निर्विकार होत हुए भी विकारी होता हुआ सा प्रतीत होता है[१]। जिस प्रकार मिट्टी क घड का मिट्टी म पृथक समझन

---

[७] ज्ञाताऽमन दन्निविनियाणा
    इन्द्रियप्राणान्नियाणान।
अया_तिनवत्तानुच्छमाना
    न चकत्र ना न्दिराणि किमन ॥ १२५ ।

[८] न जायते ना म्रियत न वधत न क्षीयत ना विकराति नित्य। विवक चूडामणि।
f लीयन्मान_पि वपुष्यमुष्मन् न लीयत कम्भाकाश मन्वर ॥१३६॥ विवक चूडामणि।

[९] धा_न विज्ञानमय प्राणषु हृदि स्वयज्योति।
कूटस्थ सन्नात्मा कर्ता भाक्ता भवत्युपाधिस्थ ॥ १३७ ।

[१] उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा
    ह्यपाधिधर्माननुभाति तद्गुण । विवक चूडामणि।
अयोविकारादविकारवह्नि
    सदैकरूपोऽपि परं स्वभावा ॥ १९ ।

विवक चूडामणि।

की बुद्धि सहज ही उत्पन्न होती है उसी प्रकार अविद्यावश आत्मा को आत्मा से अन्य समझने की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है[११]।

विवेक चूडामणि में कहा गया है कि संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है देहात्म बुद्धि अंकुर है राग पत्ते हैं कर्म जल है शरीर तना है प्राण शाखाएं हैं इन्द्रियाँ उपशाखाएं हैं एवं विषय पुष्प हैं। अनेक प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुआ दुख फल है। जीव रूपी पक्षी इन कर्मरूपी फलों का भोक्ता है। यही अनात्म बंधन कहा गया है। यह स्वाभाविक है। यह अनादि एवं अनन्त है। यह जीव के जन्म मरण व्याधि और वृद्धावस्था के दुखों का प्रवाह उत्पन्न करता है[१२]।

अब हम आगामी पृष्ठों पर सन्तों के मत में आत्मा अथवा जीव के स्वरूप का विचार इन्हीं संक्षिप्त विचारों के आधार पर करेंगे। इस संबंध में सन्तकाव्य में अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि संत भी जीव और ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। संत आत्मा की उपाधिरूपता को स्वीकार करके उपाधि को बंधन का कारण मानते हैं। संत इस बात का भी विचार करते हैं कि जीव अपने बंधन का कारण स्वयं उत्पन्न करता है।

संत काव्य में हम मुख्यतः नीचे लिखे विवरण के अनुसार आत्मा अथवा जीव के संबंध में सामग्री उपलब्ध करेंगे। इस सम्बन्ध में हम यथास्थान प्रमाण भी प्रस्तुत करेंगे —

१ आत्मा शरीर के धर्मों से रहित है।

२ आत्मा और ब्रह्म में अभेद है।

३ परमार्थतः आत्मा अक्रिय और निर्विकारी है।

---

११ स्वयं परिच्छेदमुपेत्यबुद्धे स्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः ।
सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ॥१६२॥
विवेक चूडामणि।

१२ बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो ।
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः ।
अग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं ।
नाना कर्म समुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥ १४७ ॥ विवेक चूडामणि।
अज्ञान मूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः ।
जन्माप्ययव्याधिजरादि दुःख
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥ १४८ ॥ विवेक चूडामणि।

४ सर्वत्र में आत्मा ही विभु है। आत्मा ही समस्त पदार्थों का अधिष्ठान है।
५ परमात्मा आत्मा के बंधन और मोक्ष नहीं होते। आत्मा नित्य मुक्त है।
६ स्वरूपतः जीव जन्म लेता, दुःखी सुखी होता और मृत्यु को प्राप्त होता है।
७ व्यावहारिक जीव औपाधिक जगत में आसक्त होकर अपने स्वरूप को भूल गया है। वस्तुतः यह उसका स्वरूप नहीं है।
८ उपाधि से मुक्त होकर साधक अभ्यास का नाश करता है और स्वयं ब्रह्म-स्वरूप में एकाकार होता है।

गोरखनाथ आत्मा को अखंड और अविक्रिय तत्त्व मानते हैं। आत्मा को आकाश छिपा नहीं सकता, अग्नि सुखा नहीं सकती, वायु उड़ा नहीं सकता, जल डुबा नहीं सकता और पृथ्वी का भार उसे भग नहीं कर सकता। आत्मा निरवयव है अतः भौतिक तत्त्व उसको प्रभावित नहीं करते। अतः गोरखनाथ के द्वारा आत्मा का प्रस्तुत रूप गीता के मत से तुलनीय है। गीता में कहा गया है कि आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल डुबा नहीं सकता और पवन सुखा नहीं सकता। जल वायु इत्यादि पंचभूत आत्मा के आश्रित हैं आत्मा इनका आश्रित नहीं है। आत्मा ही प्रपंच का अधिष्ठान है[१३]। इस प्रसंग की तुलना हम गीता के सिद्धान्त से कर सकते हैं। गीता में कहा गया है कि समस्त भूत अथवा प्राणी आत्मा में स्थित हैं आत्मा भूतों अथवा प्राणियों में स्थित नहीं है।

आचार्य शङ्कर का आत्मा के निरवयवत्व के पक्ष में कथन है कि सावयव वस्तु को ही मिला कर उसके अंगों को पृथक्-पृथक् कर देने की सामर्थ्य जल में है। परन्तु निरवयव आत्मा में ऐसी सम्भावना नहीं है[१४]। निरवयव आत्मा के क्षेत्र में उन्हें प्रस्तुत रात दिन का कोई भाव नहीं है। वह न सूक्ष्म है और न स्थूल। पदार्थों के अस्तित्व में आत्मा का भाव न होने पर भी पदार्थों की

१३ गगन न सोखन मुखै न मरत पवने न पहुं चा।
महा भार न भाजन उस न हूतन कहा ना को पनिहार। गोरखबानी।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः। गीता। २।२३।
१४ यथा हि सावयवं वस्तु न ... इत्यवयवविश्लेषणापादने सामर्थ्यं तत्र न निरवयवे आत्मनि सम्भवति। गीता भाष्य। ... ३।

सत्ता उससे भिन्न नहीं है[15]। गोरखनाथ के अनुसार आत्मा आकाश के समान है जिसमें वायु गतिशील रहता है परन्तु आकाश उसमें लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार शरीर इस आत्मा में ही अधिष्ठित है परन्तु आत्मा शरीर के धर्मों से अछूता रहता है[16]। गोरखनाथ के अनुसार आत्मा की सुगन्ध में ही समस्त जगत् संयुक्त है। समस्त मधु आदि विषयों का आधार यही आत्मा है। उसमें माधुर्य आदि स्वाद हैं अतः इस भूतात्मक जगत् में भी माधुर्य आदि अनेक रस उत्पन्न हैं। ब्रह्मसूत्र में आत्मा अथवा ब्रह्म को ही पृथ्वी और अन्तरिक्ष का अधिष्ठान कहा गया है[17]। गोरखनाथ तथा अन्य संतों ने इसी अनुभूति के आधार पर आत्मा को ही जाल और बद्ध मत्स्य धीवर और मत्स्य रूपों में देखा है। आत्मा में भौतिक वैषम्य है परन्तु पारमार्थिक नहीं। दो विरोधी भाव एक ही आत्मा के दो रूप हैं। गोरखनाथ के मतानुसार प्राप्य प्रापक और प्राप्ता भाव एवं नाश्य नाशक और नाशा भाव एक आत्मा के स्वरूप हैं। आत्मा ही धीवर है आत्मा ही जाल और आत्मा ही उस जाल में फँसने वाला मत्स्य है। स्वयं ही सिंह रूप में स्वयं को गो रूप में आहार

१५ उदय न अस्त राति न दिन सरबे सचराचर भाव न भिन्न।
साईं निरंजन डाल न मूल सर्व व्यापी न सुषम न अस्थूल।
गोरखबानी।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। गीता। ९।४।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः। गीता। ९।५।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ गीता। ९।६।

१६ घटि घटि गोरख बाही क्यारी। जो निपजै सो होय हमारी।
घटि घटि गोरख कहै कहाणी। काचै भांडै रहै न पाणी।
गोरखबानी।

घटि गोरख फिरै निरुता। को घट जागै को घट सूता।
घटि घटि गोरख घटि घट मीन। आपा परचै गुरुमुखि चीन्ह।
गोरखबानी।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। गीता। १३।१।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गीता। १३।२।

१७ [illegible]
[illegible]। गोरखबानी।
[illegible]। ब्रह्मसूत्र। १।३।१।

करने वाला यही आत्मा है[18]। आत्मज्ञान हो जाने पर हम और तुम भेद नहीं रहते। समस्त भेद अन्तत आत्मा के स्वरूप में अन्तर्भूत होते हैं एवं भौतिक विषमता समत्व को प्राप्त होती है[19]। गीता के अनुसार अद्वैतात्म बोध से सर्वात्मभाव निष्पन्न होता है।[20] । गोरखनाथ ने व्यावहारिक जीवत्व का नगण्य कथन किया है। सर्वात्म भाव ही अद्वैतात्मक भाव है। अद्वैतात्म भाव ही अद्वैत ब्रह्मानुभूति का प्रकाशक है।

सत कबीरदास आत्मा में ही विषयी और विषय भावों की अद्वैतरूपता मानते हैं। इस आत्मा में अनात्म अध्यस्त है अत आत्मा का आत्मा से ही ज्ञान होता है। परन्तु अनात्म जगत स्वाप्न दृश्य के समान व्यावहारिक सत्य है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा का बंधन कारण है और आत्मा ही उसके मोक्ष का स्वरूप है। अत ज्ञाता और ज्ञेय विषय और विषयी में अभेद सत कबीरदास ने स्वीकार किया है[21]। जीव औपाधिक सत्ता में व्यवहार करने

---

१८ आत्मा अभ्यास अरधूँ गाउ, विरुद न राम कोई।
नाना अव अभ्यास ना मा राम माउ।
आपण ही कद मद कर आपण ही ज्ञान।
आपण ही भीतर आपण ही बाहर। १।
आपण ही रथ यान आपण ही गाउ
आपण ही मारन्ता आपण ही पाउ। २।
आपण ही डाँगी पण्डिता आपण ही बंध
आपण ही मूनक आपण ही कंध। ३।
न्हावे का तीरथ न पूजिबे को देव
भगत गोरखनाथ अगम अभेव। ४। गोरखबानी।

१९ निरंजन निजातमा अगम तुम्हे जाना। गोरखबानी। पद १३१।
युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो नम प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयो रितरेतरभावानुपपत्तौ। ब्रह्मसूत्र भाष्य।१।१।१।

२० यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। ईशावास्योपनिषद्। ६।

२१ आप आप ध जानिये है पर नाही ना।
कबीर सुपिने कर धन ज्यू जागत हाथ न होइ। कबीर ग्रंथावली। रमैणी।
समझि विचारि आप त्यूं ज्यो यहु उभार सुजन करि लेइ।
भाइ बुधि कछू ज्ञान निहारा, आप आप [redacted] किया बिचारा।
आपण में ज रह्यो समाइ नेड़ै दूर कह्या नहिं जाइ॥ कबीर ग्रंथावली।

का अध्यस्त हो गया है। अतः आत्मा अनात्म व्यवहारों में पड़ कर सुखी और दुःखी होता है।

आत्मा की औपाधिकता के सम्बन्ध में हम प्रस्तुत प्रकरण के प्रारम्भ में विवेक चूड़ामणि से उद्धरण दे चुके हैं और कह चुके हैं कि औपाधिकता ही सुख दुःख का कारण है। वस्तुतः आत्मा तो विशुद्ध एवं निर्विकार सत्य है।

सन्त कबीरदास के अनुसार केवल आत्मा ही सत स्वरूप अथवा अस्तित्व वाला है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व नहीं है। संसार एवं जीवत्व पर विचार करने पर ये स्वप्न के रूपमात्र रह जाते हैं। आत्मज्ञान होने पर समस्त भेद व्यवहार नष्ट होते हैं एवं केवल आत्मा अवशिष्ट रह जाता है। जिसको आत्मज्ञान हो जाता है उसके लिए निकट और दूर भेद नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा स्वयं सिद्ध है और उसकी अनुभूति हो जाने पर उसके ज्ञान का अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। सन्त कबीरदास की इस विचार पद्धति की तुलना हम ईशावास्य उपनिषद् से कर सकते हैं। ईशावास्य उपनिषद् के अनुसार आत्मा को दूरी और निकटता आदि व्यवहारों से अतीत कहा गया है[२२]।

सन्त कबीरदास के अनुसार आत्मा जीव रूप में उपाधिवश अविद्यात्मक प्रपंच में उलझ जाता है और आत्मा की वास्तविकता परोक्ष हो जाती है। सन्त कबीर का कथन है कि आत्मा एक है। यही आत्मा मन्त्र है। यही आत्मा मन्त्र का ज्ञाता है। यही आत्मा पूजन है और यही पूजक। यही अन्तरात्मा गायन वादन का रूप है एवं यही गायक एवं वादक का रूप है। आत्मा आत्मसाधन से आत्मा को ही प्राप्त करता है। शरीर इन्द्रिय एवं मन इत्यादि सभी मिथ्या है। केवल आत्मा ही सत्य है और आत्मा शरीर इत्यादि समस्त विकारों से रहित है।

परमार्थ में उसको न निकट ही कहा जा सकता है और न दूर ही। परन्तु सबका प्रत्यगात्मा होने से आत्मा ही समस्त ज्ञान धाराओं का प्राप्य प्रापक और प्राप्ता है। वस्तुतः यही पारमार्थिक आत्मा ब्रह्मरूप में सर्वव्यापक है। जिस प्रकार अनेक पात्रों में एक ही जल अथवा घट और मठ के भेद से आकाश

२२ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ईशावास्योपनिषद् ।५।
भठे भूर रह या उरमाइ माचा अन्तर जग लरया न जाइ।
कथ्या न जाइ नियरे अरु दूरी सकल अतीत रह या घट पूरी।
जहाँ रह या सकल घट पूरी भाव बिना अभिअन्तरि दूरी।
कबीर ग्रन्थावली। रमणी।

में भेद होता है उसी प्रकार गुरु शिष्य भेद भी व्यावहारिक हैं। शरीर और आकार भेद-बुद्धि-जन्य हैं परन्तु आत्मा में ये भेद नहीं होते। अतः आत्मा के अतिरिक्त समस्त जगत या तो आत्मस्वरूप है, अथवा उससे पृथक् जगत की सत्ता नहीं है[२३]। यही अद्वितीय आत्मा एक ओर जगत के उपादान और निमित्त कारण में व्यक्त है और दूसरी ओर मन-वाणी का अविषय होकर ब्रह्म की पूर्णता में प्रतिष्ठित है। आत्मा अनादि और जन्म-मरण से रहित है। वह श्मशान से अतीत और विजातीय पदार्थों एवं कार्यों द्वारा नहीं जाना जा सकता। प्रकृति अथवा माया के संसर्ग से आत्मा विकारी होता है। परन्तु यह विकार व्यावहारिक कथन मात्र है।

संत कबीरदास के अनुसार आत्मा समस्त कार्य जगत में स्थित है एवं संपूर्ण कार्य जगत का अधिष्ठान आत्मा ही है। आत्मा ही अनेक नाम रूपों में विभक्त हो गया है तो भी यह पृथकत्व आत्मा के पारमार्थिक ऐक्य को स्पर्श नहीं करता। शरीर ही बालक वृद्ध एवं युवावस्थाओं का आश्रय होता है, किन्तु आत्मा इन अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि त्रिगुणात्मक प्रकृति आत्मा शरीर का आवरण डाल देती है किन्तु प्राकृतिक गुणों से मुक्त होकर जीव ब्रह्म-रूप हो जाता है। मुक्त होकर जीव ब्रह्म रूप होकर प्रपंच का द्रष्टा होता है, किन्तु प्रपंच ब्रह्म का नहीं स्पर्श सकता[२४]।

---

२३ नाद बिंद रंक इक खेला, आपै गुरू आप ही चेला।
आपै मंत्र आप मंत्रेला, आपै पूजै आप पुजेला।
आपै गावै आप बजावै, अपना कीया आप ही पावै।
आपै धूप दीप आरती, अपनी आप लगावै जाती।
कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोही चाम।
जो या देही रहित है सो है रमिता राम॥ कबीर ग्रन्थावली। रमैणी।

२४ मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो, कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो।
ना हम बार बूढ़ नाहीं हम, ना हमरै चिलकाई हो।
पठए न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ, सहजि रहूँ हरिआई हो।
ओढ़न हमरै एक पछेवरा, लोग बोलैं इकताई हो।
जुलहै तनि बुनि पान न पावल, फारि बुनी दस ठाँई हो।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाउँ राम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो॥

कबीर ग्रन्थावली।

इस विषय का हम गीता में उल्लेख पाते हैं। गीता में कहा गया है कि समस्त प्राणी जगत आत्मा में स्थित है आत्मा प्राणी जगत पर आश्रित नहीं है। आत्मा का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि वह दूरस्थ और निकट और दूर सर्वत्र एक समान रूप से व्याप्त है एवं वह और घनीभूत तत्त्वों का ज्ञाता है। अतः इस प्रकृति का ही जन्म और मरण होता है। आत्मा इस प्रकार माया विकारों से निर्विकार ही रहता। वृद्धावस्था रोग और अनेक दुष्कार्य से सम्बन्धित परिवर्तन आत्मा को स्पर्श नहीं करते। कर्मों और संस्कारों के वशीभूत होने के कारण अद्वैत आत्मा में विषमता प्रतीत होती है। जिस प्रकार घटाकार और मठाकार आकाशों में भेद प्रतीत होता है परन्तु घट और मठ के भग्न हो जाने पर आकाश में कोई आकार नहीं होता ठीक इसी प्रकार पानी के रहने पर एक जल अनेक रूपों में ग्रहण किया जाता है परन्तु पात्र भेद के नष्ट होने पर जल समस्त आकारों से मुक्त होकर एक रूप होता है[२५]।

संत कबीरदास के अनुसार पारमार्थिक आत्मा न जन्म लेता है और न मर कर स्वर्ग या नरक में ही जाता है। पंचतत्त्वों की उत्पत्ति अविद्या से होती है और इन तत्त्वों का अधिष्ठाता एक ही आत्मा रहता है। आत्मा पंचभूतों की नगरी में अविद्या के कारण आ जाता है किन्तु आत्मा इस प्रपंच से मुक्त होकर ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। जिस प्रकार घड़े के भीतर और बाहर पानी हो जाता है और घड़े के फूट जाने पर घड़े का जल जल में मिल जाने पर एक रूप हो जाता है उसी प्रकार प्रपंच कृत उपाधि से मुक्त होकर जीव ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। संत कबीरदास का कथन है कि जिस प्रकार आदि मध्य और अंत में आकाश समान रूप से व्याप्त है उसी प्रकार सर्वत्र आत्मा की स्थिति है। उपाधिवश एवं अविद्यावश जीव में कर्तृत्व एवं कर्म का संसर्ग होता है किन्तु वस्तुतः आत्मा कर्म इत्यादि विकारों से मुक्त

---

२५ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। गीता। ९।४।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ गीता। ९।८।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ गीता। १३।१५।

है[२६]। इस प्रसंग की तुलना हम छान्दोग्योपनिषद् से कर सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में आकाश को अन्तः एवं अन्तर्बाह्य रूपों में सर्वव्यापी कहा गया है[२७]।

गीता में आत्मा को निर्विकारी कहा गया है फिर भी वह अविद्याजन्य विकारों का अधिष्ठान है और जीव के कर्म और संस्कार रूपों से प्रभावित नहीं होता। आत्मा तो सतत मुक्त स्वभाव है। अतः वास्तविक बंधन उसको नहीं होता। दूसरे अनेक देहों और आकारों में व्यक्त होकर भी वह एकरूप रहता है। उसके परमार्थ स्वरूप में स्वर्ग और नरक भेद तथा तारक-तरण भेद भी नहीं है। इस प्रकार कबीर के काव्य में भी सर्वात्मभाव वर्तमान है।

सन्त कबीरदास के अनुसार जीव के संसार बंधन में तारक न तो राम है और न तरने वाला जीव। परमार्थतः राम का तारक और जीव का तरक भेद नहीं है। वस्तुतः बैकुण्ठ और मोक्ष भी नहीं हैं। आत्मा तो स्वयं मुक्त स्वरूप ही है किन्तु अविद्यावश आत्मा को संसारी होना पड़ता है। अविद्या से मुक्त होने पर जीव ब्रह्म-स्वरूप होता है अतः बैकुण्ठ की व्यवस्था निरर्थक है। जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तारक और तरक भाव द्वैत रूप में वर्तमान रहते हैं[२८]।

आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा और परमात्मा एकरूप होते हैं। व्यवहार में यह मैं यह तू यह तेरा आदि व्यवहार होते हैं किन्तु वस्तुतः ये भेद

२६ कौन मरै कौन जनमै आई। सरग नरक कौने गति पाई।
पंचतत अविगत थैं उतपनां एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समानां रेख रही नहीं आसा॥
जा मैं तुम तुम्ह मैं ... अन्तर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथ्यौ गियानी॥
आदै गगना अन्तै गगना मधे गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागै झूठी संक उपाई॥ कबीर ग्रन्थावली।

२७ यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः। ३।१२।७। छान्दोग्य उपनिषद्।
यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः। ३।१२।८। छान्दोग्य उपनिषद्।
योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। ३।१२।९। छान्दोग्य उपनिषद्।

२८ राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।
सो बैकुंठ कहौ धूँ कैसा करि पसाव मोहि दैहौ।
जे मेरे जिव दोइ जानत हौ तौ मोहि मुकति बतावो॥
एकमेक रमि रह्या सबनि मैं तौ काहे भरमावौ।
तारण तिरण जबै लग कहिये तब लग तत न जाना॥ कबीर ग्रन्थावली।

व्यवहार असत्य है। आत्मज्ञान होने पर इन व्यवहारों का निरोभाव हो जाता है। गीता में आत्मा को अमृत और अजन्मा कहा गया है, परन्तु सन्तों ने उसका परिणाम कहीं नहीं माना है। यद्यपि वह आवागमन से रहित है तो भी एक मिट्टी के पिण्ड से अनेक पात्र के रूप में स्त्री पुरुष रूप में एवं कर्म के अनेक फलों के रूप में और हिन्दू मुसलमान जैसे विषम जाति भेदों के रूपों में भी तथा इन सबके मूल में यही आत्मा व्यक्त हुआ है। पिण्ड रूप जीव रूप और ब्रह्म रूप में यही अद्वितीय आत्मा देखा सुना और अनुभव किया जाता है[१६]। शास्त्र और अनुभव द्वारा इसी सत्य की व्याख्या की जाती है। आत्मा ही समस्त पदार्थों का ज्ञाता और अनुभवकर्ता है। मैं हूँ ऐसा ज्ञान सभी को होता है। मैं नहीं हूँ ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। अतः समस्त जगत आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण है। पुरुष निश्वास के समान आत्मा के स्वरूप से सृष्टि रचना ब्रह्मसूत्रों में कही गयी है। इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरा सत्य नहीं है। ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता में एकत्व का प्रतिपादन हम गोरखनाथ और सन्त कबीर के द्वारा प्रतिपादित जीव की पारमार्थिकता के साथ कर चुके हैं। बृहदारण्यकोपनिषद में इसीलिए मैं ब्रह्म हूँ और मैं यम हूँ कहा गया है[३]। सन्त कबीरदास के काव्य में ये प्रसंग उपनिषद सम्मत हैं और शङ्कर के मत से सर्वथा पोषित हैं।

---

१ एक राम देख्या सबहिन में कहै कबीर मन माना। कबीर ग्रन्थावली।
अब का डरा डर डरहि समाना
तब थैं मोर तोर पहिचाना।
जब लग मोर तोर करि लीन्हा भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हा।
कहि कबीर मैं मेरी खोई तबहि राम अवर नहि कोई॥ कबीर ग्रन्थावली।
कहु या चाहू कछु कन्या ना भा जब जीव है तन नहीं बिनसा।
सकल आतमा बचन ते छान बन का सत शीष बस
जीनियत जीनियत ता चौहिते से निजि जोहियत धू का करा।
आपा पर सब एक समान तब हम पाया पद निरवाण।
कबीर ग्रन्थावली।

३ अहं ब्रह्म अहं यम। बृहदारण्यक उपनिषद। ५।१७।
अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक उपनिषद। १।४।१।
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। छान्दोग्य उपनिषद। ६।११।३।
आऊँ गा न जाऊँ गा मरूँ गा न जिऊँ गा।
आप कमेरा आपै थारी आपै पुरषा आपै नारी
आप मस्जिद आपै नांद आपै मुसलमान आपै हिन्दू॥ कबीर ग्रन्थावली।

सन्त कबीरदास के अनुसार आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही है। अनेक नामरूपात्मक कार्य जगत में आत्मा का स्वरूप ही विकसित हुआ है। आत्मा सब कार्य जगत रूप है और कार्यरूप जगत का आत्मा ही अधिष्ठान है। आत्मा अद्वितीय सत्य है। उसके अतिरिक्त और दूसरा तत्त्व नहीं है। तीन लोकों की रचना आत्मा की अध्यक्षता में माया के द्वारा हुई है। आवागमन आत्मा की लीला मात्र है। परमार्थतः आवागमन भी नहीं होते। आत्मा ही जीव रूप में व्यवहार करता है और आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मा की सर्वरूपता की तुलना हम श्वेताश्वतर उपनिषद के अंश से कर सकते हैं। इसमें कहा गया है कि ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही स्त्री पुरुष कुमार या कुमारी है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है। यह आत्मा ही प्रपंच रूप में एक से अनेक रूप होता है[31]। आत्मा की विश्वरूपता ब्रह्मरूपता एवं सर्वरूपता के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह समस्त संसार ब्रह्म ही है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि यह सब आत्मा ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा अजर अमर और अमृत है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ही कहा गया है कि आत्मा ही समस्त कार्यों का अन्तर्यामी द्रष्टा है। वहीं पर और भी कहा गया है कि समस्त भेद नष्ट होकर आत्मस्वरूप ही हो जाता है[32]। सन्त कबीरदास के आत्मा सम्बन्धी विचारों में हम इन सभी कथनों की पुष्टि होते देखते हैं।

कहै कबीर सोहि मरम हम मानी, हम थे और दूसरा नाहीं।
कहै कबीर हम नाहीं रे नाहीं ना हम जीवत न मुवल माहीं॥

कबीर ग्रन्थावली।

तीन लोक में हमारा पसारा आवागमन सब खेल हमारा।
मन रमन वन्दिन हम मेरा, हमहीं अतीत रूप नाहीं रहा।
हमहीं आप कबीर कहावा हमहीं अपना आप लखावा।

कबीर ग्रन्थावली।

31 त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।३।

32 ब्रह्मैवेदं। मुण्डक उपनिषद्। २।२।११।
आत्मैवेदं सर्वम्। छान्दोग्य उपनिषद्। ७।२५।२।
अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः। बृहदारण्यक उपनिषद्। ४।४।२५।
एष आत्मा सर्वान्तरः। बृहदारण्यक उपनिषद्। ३।४।१।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्। बृहदारण्यक उपनिषद्। २।४।१४।

सन्त रैदास ने जीव को नदी और ब्रह्म को समुद्र से समतुलित किया है। इस प्रकार का साम्य विधान मुण्डक उपनिषद् में उपलब्ध है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर समुद्र रूप ही हो जाती है वैसे ही जीव ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मरूप होता है। यह अधिष्ठान रूप ही प्राणी की मन वाणी द्वारा व्यवहार को व्यक्त करता है। व्यवहार में इसकी आराधना होती है परन्तु परमार्थ में वह इन्द्रियों का अविषय है[33]। उपाधि के नष्ट होने पर विषय विषयी में लीन हो जाते हैं। सन्त रैदास का कथन है कि उस समय गावनहार अर्थात् विषय स्वरूप औपाधिक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् का आचार्य शङ्कर के अद्वैत सम्प्रदाय में स्वीकृत महावाक्य तत्वमसि इस प्रसंग का पोषक है। उपनिषद् के समान सन्त रैदास के काव्य में भी हरि को साक्षी कहा है। जीव कर्म करता है परन्तु उसके फल का अधिकारी वह तब तक नहीं होता जब तक साक्षी आत्मा के फल का निर्णय नहीं करता। यदि यह साक्षी आत्मा न होता तो कोई जीव कर्म करता और फल कोई दूसरा ही पाता। कुछ कर्म करता और उसका फल कुछ और ही होता। अतः ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म को ही फल देने वाला कहा गया है[34]। अन्तः आत्मा के ज्ञान का भी साक्षी यही है। यह साक्षी व्यावहारिक कर्मों का द्रष्टा है। परमार्थ में द्विधा नहीं है अतः परमार्थ में यही आत्मा ब्रह्मरूप है। सब ब्रह्म है छान्दोग्य के इस वाक्य के आधार पर समस्त पदार्थ आत्मरूप है। वहाँ आत्मरूपता में भेद तथा जन्य भेदों की विषमता नहीं है[35]। सन

---

३३ गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ।
गावनहार को निकट बताऊँ।
जब मन मिल्यो आस नहि तन की तब को गावनहारा।
जब लग नदी न समुद्र समावै तब लग बढ़ै हंकारा।।
जब मन मिल्यो राम सागर में तब यह मिटी पुकारा।। रैदास की बानी।

३४ फलमत उपपत्तेः। ब्रह्मसूत्र।३।२।३ ।
सब में हरि है हरि में सब है हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोई दूसर जाननहार सयाना।।
मन थिर होइ तो कोइ न सूझै जानै जाननहारा।। रैदास की बानी।

३५ सब घट अन्तर रमसि निरंतर मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब औगुन कृत उपकार न माना।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों कैसे करि निस्तारा। रैदास की बानी।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्। गीता। ९।१८।

रदास आत्मस्वरूप की अकथनीयता मानते हैं[३६]। अनादि, एकरस, सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, अजन्मा एवं बन्धन मोक्ष से आत्मा रहित अद्वैत स्वरूप है। उसमें ज्ञाता ज्ञेय और दृष्टि अदृष्टि भेद नहीं है[३७]।

सन्त रैदास के अनुसार जीव और ब्रह्म में द्वैत का सन्देह करना भ्रम है। जिस प्रकार सूत और उससे बुना हुआ वस्त्र, सुवर्ण और कुण्डल, जल और तरंग तत्त्वतः एक ही हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में अभेद है। भ्रम माया का कार्य है और रज्जु में सर्प के समान यह भ्रम मिथ्या है। अतः सन्त रैदास के अनुसार जीव और ब्रह्म का द्वैत जन्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

नानक और उनके अनुयायियों ने भी आत्मा को अन्य सन्तों के समान अजन्मा और आवागमन से रहित कहा है[३८]। इस सम्बन्ध में गीता और उपनिषदों के उद्धरण पीछे दिए जा चुके हैं। आत्मतत्त्व के कारण नानक सन्त

---

३६ कह रैदास अकथ कथा उपनिषद सुनीजै।
जस तू तस तू तस तुही कस उपमा दीजै॥ [illegible] रैदास की बानी।

३७ है आनन सुर परकास सोता।
निराकार निराधार कलपित न पाया।
आदि मध अन्त न एक रस तार बन्धा हो भाई।
थावर जंगम कीट पतंग पूरि रह्या हरि राई।
सर्वेश्वर सर्वांगी सब गति करता हरता सोई।
सिव न असिव न साध अरु सेवक उभै भाव नहिं होई।
अधरम धरम मोह नहिं बंधन [illegible] मरन भव नासा।
[illegible] दृष्टि नाद अरु आना [illegible] नासा। रैदास की बानी।
[illegible] ज्ञान निराम परम पद तब सुर मनि तर होई।
[illegible] नाम [illegible] ॥ रैदास की बानी।
यथा सर्व [illegible] नानारूप विभाव।
तथा [illegible] ॥ २।१।८ ॥ मुण्डकोपनिषद

३८ आवै जाय कहाँ प्रभु भाई।
जो किछु कहना सु कहन न जाई।
सब तें दूरि सबन के माहि।
आपहि एक आपहि अनेक।
मरै न बिनसै आवै न जाई।
नानक [illegible] ॥ [illegible] साहब।

गया है। उपाधिवश जीव ने समस्त पदार्थों में पृथक् बुद्धियाँ उत्पन्न कर ली हैं। प्रत्येक जीव के कर्म पृथक्-पृथक् हैं, अतः एक ही आत्मा कर्मानुसार फल भोगने के लिए अनेक शरीरों को धारण करता है। ईश्वर किसी को दुःखी और किसी को सुखी नहीं बनाता वरन् जीव स्वकर्म वश सुख और दुःख का अनुभव करता है। जब अनेक पात्रों में एक कुएँ का पानी रख दिया जाए तो पात्र के आकार में जल का आकार लघु, दीर्घ, गोल और चौकोर हो सकता है परन्तु इससे जल की एकरूपता में कोई अन्तर नहीं आता। ठीक इसी आधार पर जीव में संस्कारों की विषमता है परन्तु यह विषमता व्यवहार जन्य और कल्पित है। आत्मा के स्वरूप में देह, वर्ण और जाति का अध्यास है। ऐसा होने पर भी वस्तु की वास्तविकता में अन्तर नहीं आता। शरीर कर्म करता है अतः वही उसके दुःखों और सुखों का अनुभव करता है। आत्मा कर्म नहीं करता, प्रकृति करती है। अतः प्रकृति ही उसको भोगती है। सन्त दादूदयाल ने इस सिद्धान्त के अनुसार ही जीव और ब्रह्म का व्यावहारिक अन्तर स्वीकार किया है जो वस्तुतः आचार्य शङ्कर का भी अभीष्ट है। मनुष्य समझता है कि शरीर ही उसका रूप है परन्तु एक शरीर में तो अनेक अङ्ग होते हैं फिर भी प्रत्येक अङ्ग आत्मा नहीं होता। इसी प्रकार शरीर अनेक अंगों का समूह है जो वस्तुतः आत्मा नहीं होता। आत्मा देहातीत सत्य है। यही देहातीत सत्य ब्रह्म का स्वरूप है[४४]।

दादू मैं ही मेरी जाति मैं मैं ही मेरा अंग।
मैं ही मेरा जीव मैं आप कहै परसंग॥ दादूदयाल की बानी। १२।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् । ३।१६।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।
श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।१९।

४४ दादू क्या जीव है ... सब आत्म समान।
दादू दर्पण ... नाही भान॥ २
कर्मी के बस जीव है कर्म रहित सो ब्रह्म।
जहँ तहँ आतमा दादू भागा मन॥ दादूदयाल की बानी। २१।
काया उद्भव उपजै काया हानी माहि।
दादू पासा मिलि रहे ... ब्रह्म है नाहि। दादूदयाल की बानी। २ ।
अपना अपना करि लिया मन्न माहै बाहि।
दादू एकै कूप जल ... का भरे न्यारा। १२८।

सन्त मलूकदास की वानी में आत्मस्वरूप के निरूपण का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। उनके अनुसार अद्वैत आत्मा ही समस्त जागतिक पदार्थों में व्यक्त हो गया है। सन्त मलूकदास की यह अनुभूति सर्वात्म भाव के अनुकूल है। जिस प्रकार एक ही जल अनेक पात्रों के आकार में भिन्न भिन्न रूपाकार वाला प्रतीत होता है अथवा एक ही सुवर्ण से अनेक आभूषण बन जाते हैं उसी प्रकार सन्त मलूकदास ने आत्मा के अन्तर्गत अनन्त पदार्थमयी सृष्टि का दर्शन किया है। सन्त मलूकदास की वाणी में कार्य कारण का अभेद भी स्पष्टतः निर्दिष्ट है। आत्मा की माया का प्रसार तीनों लोकों में हुआ है। माया इस आत्मा के ही आश्रित है। अन्यत्र कहीं उसका स्थान नहीं है। क्योंकि इसको ही जगत का अधिष्ठान कहा गया है। अनेक नामों वाला पवन रात दिन वृक्ष और कीट-पतंग आदि आत्मा के ही रूप हैं। गंगा दुर्गा आदि देवियाँ तीर्थ व्रत वैराग्य पांडित्य कृपणता त्याग आदि सभी भाव आत्मा के ही रूप हैं। देव दैत्य और दस्यु तक उसी के आकार हैं। हाथी महावत, घोड़ा अश्वारोही सेवक स्वामी आदि नियन्त नियतक विषमताएं आत्मा में ही सम होती हैं। सूर्य, चन्द्र कृष्ण दशरथ और राम सब उसी की विभूतियाँ हैं। रावण कंस पुरुष नारी, आत्म भाव की अद्वितीय सत्ता में प्रतिष्ठित हैं[५४]। ये विरोध वस्तुतः व्यावहारिक हैं पारमार्थिक नहीं। ईशा

दादू ऐसा एक बहु भाव धरि नाना विधि की भाँति।
बोलणहारा कौन है कहीं था कहाँ समाति।
जब पूरण ब्रह्म विचारिये तब सकल आत्मा एक।
काया के गुण देखिये तो नाना वरण अनेक॥
दादू सब दिसा सो सारिखा सबै दिसा मुख बैन।
सबै दिसा श्रवणहु सुणै, सबै दिसा कर नैन॥
सबै दिसा पग सीस हैं सबै दिसा मन चैन।
सबै दिसा सन्मुख रहै सबै दिसा अंग अंग॥
बिन श्रवणहु सब कुछ सुणै, बिन नैनहु सब देखै।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै, यहु दादू अचिरज पेख॥ दादूदयाल की बानी।

५४ सबहिन के हम सबै हमारे, जीव जन्तु मोंहि लगै पिआरे।
तीनों लोक हमारी माया, अन्त कतहुँ से कोउ नहिं पाया।
छत्तिस पवन हमारी जात, हमहीं दिन औ हमही रात।
हमहीं तरवर कीट पतंगा, हमहीं दुर्गा हमहीं गंगा।
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी, तीरथ बरत हमारी बाजी।
हमही पण्डित हम बैराग, हमहीं सूम हमहि है त्याग।

वास्यापनिषद् म उपनिषद् समस्त जड़ चेतन भाग का ईश्वर का रूप कहा गया है भत सुन्दरदास की इस भावना म पन्त सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है[४६]।

सन्त सुन्दरदास के अनुसार जीव वस्तुत ब्रह्म है, परन्तु वह स्वय ही मास लोभी मछली के समान अथवा बन्दर के समान ससार के अध्यास रूपी मिथ्या भ्रम म अपने स्वरूप का भूल गया है[४७]। जिस प्रकार एक ही वन म

हमही दव भी हमही नाना मारे जाको तमा माना।
हमही चोर हम महा बटमार, हम ऊच नीच करें पुकार।
हमहि मवावन हमही हाथा हमही पा पुत्र न माधी।
हमहि अवर हमहि अगवार हमहि न्याय हमही मरन्हार।
हमही मूरज हम ही चन्दा हमही भय तृष्णा के फन्दा।
हमही दसरथ हमही राम हमर क्रोध हमारे काम।
हमही रावन हमही कस हमही मारा अपना वस।
हमहि नियावे हमही मारें हमही बारें हमही तारें।
चहा तहा सब जाति हमारी हमही पुरुष हमही ह नारी।
एसी विधि कोई जब लावै सो अविगत म रहन करावै।
म* कुमहि भार सुमिर नाव मब भग देखे एक भाव। सन्तरुज्म का बाना।

४६ ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्। ईशावास्योपनिषद्।
४७ अजर अमर अविगत अविनाशी अज
कहत सकल मत श्रुति अवगाह तें।
निर्गुन निर्मल अति शुद्ध निरबन्ध नित
गाउ कहत और प्रथनि क थाह तें।
व्यापक अखण्ड एक रस परिपूरन है
अन्दर सकल रमि रह्यो ब्रह्म ताहि तें।
सन्त सदा उपजि याही तें अरु भी हान
आपु ही का आपु भूलि गया सुनी काहि त।
जैस मान मास को निगलि जात लाभ लागि
लोह की कण्टक नहीं जानत उमाह तें।
जैम कपि गागरि म मूठी बाध राख सठ
छाडि नहीं देत सु तो स्वाद ही क चाह तें।
जैम वक नारि पर चूच मारि लटकन
[illegible] र चहत दुख दखि याही चाह न।
देह को ममत पाय इन्द्रिन क बमि परयो
आपुही को भूलि गयो सुख चाह तें। सुन्दर ग्रन्थावली। भाग २।

अनेक प्रकार और जाति के वस्त्र होते हैं तो भी तन की एकात्मक स्थिति में भेद नहीं होता, जल को कुएँ तालाव, वापी आदि स्थानों में देख कर स्थान-गत भेद होने से जल में भेद नहीं होता इसी प्रकार, अनेक रूपात्मक सृष्टि में एक रूप जन की स्थिति है। फिर भी, आत्मा का य आकार बाधित नहीं करते[५८]। उपाधियुक्त बुद्धि इन विभिन्न रूपों में नाम रूपों का आरोपित कर लेती है। अतः व्यवहार में इनका ऐसा ही उपयोग होता है। सन्त सुन्दर दास के काव्य में अनुभूति की रसमयता का अभाव होने के कारण इन्हें कबीर जैसे सन्तों की कोटि में नहीं रख सकते। सन्त कबीरदास नानक और दादू दयाल की वाणियों में तत्व के अनुसंधान के लिए भाव और बुद्धि दोनों ही की सहायता ली गई है परन्तु सन्त सुन्दरदास की रचनाओं में प्रायः शास्त्रीय बौद्धिकता प्रधान है। इनके अद्वैत सिद्धान्त का शाङ्कर भाष्य और उनके अन्य ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्तों से उतना अधिक मेल नहीं खाता जितना उत्तर कालीन अद्वैत वेदान्त के ग्रंथों से मिलता है। फिर भी आत्मा जीव ब्रह्म प्रकृति और माया के सिद्धान्तों में शाङ्कर मत से मूलतः भेद नहीं है। सुन्दरदास का विषय प्रतिपादन शैली अन्य सन्तों से नितान्त भिन्न है। उनकी शैली तर्क और सदाशिव गुरुता से युक्त है। इनकी रचनाओं में शास्त्रीयता अधिक किन्तु काव्य की सरसता का अभाव है।

सन्त धरनीदास की बानी में इस प्रसङ्ग में कोई उल्लेखनीय विवरण नहीं मिलता। मारवाड़ वाले दरिया साहब के मत में भी जन्म-बन्धन में पड़ने के कारण पंच भूतात्मक शरीर में जीव उत्पन्न होता है। परन्तु मुक्त होने पर जीव पुनः ब्रह्म में अवस्थित होता है[५९]। जीव की जाति ब्रह्म है

५८ ज्यों वन एक अनेक मय द्रुम नाम अनन्तनि जातिहु न्यारा।
वापी तड़ाग अरु कूप कहावत है जल एक सी देख निहारा।
पावक एक प्रकाश बहु विधि दीप चिराग मसाल हु बारा।
सुन्दर ब्रह्म विलास अखण्डित भेदित भेद की बुद्धि सु न्यारा।
मोह मोह कहत नहीं लगा तब लग दूजा कहिये।
सुन्दर एक न दोइ तभी कहु ज्यों का त्यों है रहिये।

सुन्दर ग्रन्थावली। भाग २।

५९ जन्म लाग में बन्धुवा पर पच तत को संग।
दरिया निज घर आवता, पाया ब्रह्म अभंग।
जाति हमारा ब्रह्म है, मात पिता है राम।
गिरह हमारा सुन्न है अनहद कर विश्राम।

दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी।

किन्तु जन्म और मरण की व्यवस्था में पड़ने के कारण ईश्वर उसका नियन्ता है। निरुपाधिक ब्रह्म उसका अन्तिम लक्ष्य और स्वरूप है।

बिहार वाले सन्त दरिया साहब के मतानुसार भी जीव और ब्रह्म में भिन्नता नहीं है। एक ही आत्मा अनेक रूपों में प्रकट हो गया है। साधन की अनुभूति के साथ आत्मा की अनुभूति होती है। उसकी सर्वरूपता के लक्षण इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं[५]। एक जल बिन्दु में समाए हुए सिन्धु के दृष्टान्त से जीव की ब्रह्मरूपता सन्तों ने मानी है। यह उसकी अद्वैत भावना का निश्चय कराता है। अनेक प्राकृतिक उपादानों में आत्मरूपता का कथन अद्वैत ब्रह्मात्मानुभूति का परिचायक है। बिहार वाले सन्त दरिया साहब और मारवाड़ वाले सन्त दरिया साहब की वाणियों में अद्वैत सिद्धान्त के पूर्णतः पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। अद्वैत ज्ञान की उत्कृष्टता इन सन्तों ने साधना रूप में स्वीकार की है। अतः आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त से इन सन्तों की वाणियों में कोई विरोध नहीं है। जीव और ब्रह्म की एकता, जीव में औपाधिकता और आत्मा की भौतिक क्रियाशक्तता का कथन सन्त गरीबदास, सन्त यारी साहब, सन्त गुलाल साहब, सन्त चरनदास, सन्त भीखा साहब

---

५ आपना ध्यान तुम आप करो नहीं
आपने आप में आप देखा।
आपही गगन में मगन आपही
आपही निरगुन अधर परा।
आपही तत्व निःतत्व है आपही
आपही सुन्न में सुन्न दरा।
आपही घटा घनघोर है आपही
आपही बुन्द है सिंधु लहरा।
आपही छटा चमकि रहे आपही
आपही मोतिया माल परा।
आपही चन्द है सूर है आपही
आपही तारगन अनन्त लगा।
आपही मना मनियार है आपही
आपही छत्र सिर आप धरा।
कहै दरिया जिव ब्रह्म आप किया
धर्म औ प्रेम मन ज्ञान रचा। दरिया साहब बिहार वाले की बानी।

और सन्त पलटू साहब की बानियों में भी उपलब्ध है[५१]। सन्त गरीबदास योग साधनाप्रधान सन्त हैं। अतः पिण्ड ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त इनकी बानी में प्रमुख है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जहाँ जिसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ कौन किसको देखे और कौन किसको जाने। इस उद्धरण के समानान्तर सन्तों की उक्त भावना सन्तुलित की जा सकती है[५२]।

सन्त यारी साहब का मत है कि जिस प्रकार एक स्वर्ण से अनेक आभूषण बनते हैं किन्तु आभूषण रूप में सुवर्णत्व विकृत नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के अनेक नाम रूप हो जाने पर भी आत्मा का स्वरूप विकृत नहीं होता[५३]।

सन्त चरनदास के काव्य में सिद्धान्त और अनुभूति का समन्वय उपलब्ध होता है। जीव और ब्रह्म की एकता की प्रतिष्ठा उनके काव्य में है। देहाध्यास और इन्द्रियों का उत्पात बाध करने का उपदेश उनकी बानी में प्राय मिलता है। उनके अनुसार दृश्यमान पदार्थ सत्ता भ्रममात्र है। साधक स्वयं स्पष्ट ही है। अतः वह किसे सिर झुकाता है? गीता के नवें अध्याय के अनुसार आत्मा को ही समस्त काम जगत का अधिष्ठान सन्त चरनदास ने माना है। निर्गुण और सगुण ब्रह्म की एकरूपता यद्यपि आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त का प्रमुख अङ्ग नहीं है तो भी उपनिषदों और गीता के आधार पर उक्त मत की अनुकूलता सन्तों में चरितार्थ होती है। आत्मा की सर्वरूपता उसकी बुद्धिगम्यता

५१ सेव हो नहीं तो सेव किसका करूँ,
        जिसे पूजूँ कोई नाहिं दूजा।
ध्याता नहीं तो ध्यान किसका करूँ,
        बिछुरा नहीं किस ढूँढ़ने जाऊँ। पद ६। गरीबदास की बानी।

५२ यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं   विजानीयात्।
                                        २।४।१४। बृहदारण्यक उपनिषद्।

गहने में गढ़े से कहीं सोनो भी जात है,
        सोनो वाके गहनो आरु गहनो वाके नाम है।
गहने भी सोनो बाहर भी सोन दासै,
        नाना तो अनन्त अन्त गहनो को नाम है।
नाम को तो नाहिं लागै गहना दरशै कान,
        यारी एक साना ... केवल नाम है। ११।
                                        यारी साहब की रत्नावली।

५३ एकै ब्रह्म सकल महँ अहई। नाम रूप में भरमत रहई।
                                        बुल्ला साहब का शब्द सागर।

और अनिर्वचनीयता का उल्लेख सन्त चरणदास की बानी में पुनः पुनः हुआ है। उनके अनुसार ध्याता और ध्येय में अन्तर नहीं है। आचार्य शंकर के सिद्धान्त के समानान्तर प्रत्यगात्मा से समस्त पदार्थों का ग्रहण और त्याग होना इनकी वाणी में स्पष्ट है। अहं के सम्बन्ध से ही जगत् की स्थिति ग्रहण और त्याग होता है। जैसे मैं अमुक वस्तु जानता हूँ इसमें वस्तु का अस्तित्व मैं के सम्बन्ध से है। परन्तु सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों भिन्न भी नहीं हैं। इस कोटि की अद्वैत भावना सन्त कबीर, सन्त दादू, सन्त नानक, सन्त सुन्दर और सन्त चरणदास की बानियों में उपलब्ध है[५४]।

सन्त भीखा साहब के सिद्धान्तानुसार जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है[५५]।

---

५४ देह मरै तू अमर है, पारब्रह्म है सोय।
अज्ञानी भटकत फिरै लख सो ज्ञानी होय॥
देह नहीं तू ब्रह्म है, अविनाशी निर्वान।
निज न्यारे तू देह सों देह कर्म सब जान॥ भक्तिसागर। ब्रह्मज्ञान सागर।
द्वन्द्वा दुष्कर दूर आप तू ब्रह्म है आवे।
औरे दुनीया कौन तासु को सीस नवावे। भक्ति सागर।
है कोई जाने भेद हमारा।
सब सब में सब के माहीं मैं अव्यापक मैं न्यारा।
हम अभेद, हम होनत निसदिन हम सूक्ष्म हम भारा।
हमही निर्गुण हमही सगुण हमही दस अवतारा।
हमही एक बहुत हो खलै हमही सकल पसारा।
हमहीं ज्ञान ध्यान पुनि हमहीं हमहीं धारण हारा।
हमही आदि अन्त पुनि हमहीं रूप अपारा।
महाराज हम बारम्बार है हमहीं हैं उजियारा।
हमही गुरु शुकदेव विराज हमहि तरे हम तारा।
चरणदास ■ हमही बोलै समझै समझै हारा भक्तिसागर।
५५ मन भयो ब्रह्म जीव नहिं दोसर
अविगत अकथ कहानियाँ। भीखा साहब की बानी।
एकै सोन बहुत विधि गहना समुझै द्वैत नसाव।
ताकी सरन साँच है जानहि अजर अमर जन सोई।
जन्म विघ्न बरनन मांही को, जनन मरे न कोई। भीखा साहब की बानी।
व्यापक पूरन अगम अगोचर निज साहब विस्तार।
भीखा बोलन एक समान में ■ रूप सकल हमार। भीखा साहब की बानी।
आतमाराम भरि पूर परगट रह्यो,
श्रुति गदं ग्रंथि निज नाम साँची।

जिस प्रकार मिट्टी के पात्र और मिट्टी दो नहीं हैं अथवा आभूषण और सोना अन्य तत्त्व नहीं हैं अथवा समुद्र और उसकी एक बूंद में तात्त्विक भेद नहीं है उसी प्रकार जीव और ब्रह्म परमार्थतः भिन्न भिन्न नहीं हैं। पत्थर और पानी दोनों का मेल नहीं हो सकता क्योंकि एक द्रव है और दूसरा अद्रव। परन्तु जल में नमक घुलनशील है और उसका जल से समन्वय हो सकता है। इसी प्रकार जीव यदि ब्रह्म से विजातीय अन्य धातु होता तो वह मोक्ष के अनन्तर ब्रह्म के साथ एकरस नहीं हो सकता था, परन्तु बूंद और जल में अभेद होने से दोनों की एकरूपता में कोई व्यवधान नहीं आता। संत भीखा साहब ने इसी तथ्य का वेदान्त-सम्मत निरूपण ब्रह्म और जीव की एकता के प्रसङ्ग में किया है[46]। अनेक उपनिषदों में इसी कोटि की अनेकता का प्रतिषेध और एकत्व की प्रतिष्ठा की गई है[47]।

सन्त पलटू साहब की बानी में ब्रह्म और जीव की एकता का वर्णन अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया गया है। फल और बीज में, जल और लहर में, छाया और पुरुष में, शरीर और स्वामी में, सुवर्ण और अलंकार में, मिट्टी और घड़े में जिस प्रकार तात्त्विक अन्तर नहीं है उसी प्रकार जीव ही एकमात्र परम सत्य है। उससे बड़ा और कुछ नहीं है। आत्मा के चैतन्य से सभी पदार्थ अनुप्राणित होकर क्रियाशील हैं। जड़ सत्ता की स्थिति वस्तुतः नहीं है क्योंकि उसमें स्वतन्त्र गति नहीं है। शरीर संयोग से युक्त होकर जीव व्यवहार में आसक्त होता है। परन्तु शरीर जड़धर्मी है और उसमें अधिष्ठित जीव

भीखा भी एकि गयो जीव और ब्रह्म में,
    भीख भए शक्ति का मिलन साँची। भीखा साहब की बानी।
भीखा आकार आधार अद्वैत है,
    समुद्र अरु बुन्द कोउ और नाहीं। भीखा साहब की बानी।

४६ जो लगि मरम हो तुमहीं। भीने यह बीच उप हमहीं।
छुटै नइ तेब मैं मेरा। रहा ठाकुर न कोउ चेरा।
कबहुँ माँ आपु आवै हो। दुख मोहि जाव आर हो।
उभै हम एक ही तुमहीं। हने तुम्हें मन कम कमना।
भीखा मनो मगन के साह। चीन्हा निज आपना माह।
भीखा साहब की बानी।

४७ नेह नानास्ति किञ्चन। कठ उपनिषद्। २।१।११।
अथनान्तो ब्रह्म। बृहदारण्यक उपनिषद्। २।५।१९।
न तु तद् द्वितीयमस्ति। बृहदारण्यक उपनिषद्। ४।३।२३।
एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उपनिषद्। ६।२।१।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। कठ उपनिषद्। २।१।१०।

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है[५८]। ब्रह्मसूत्रों में जड़ और चैतन्य तत्त्वों की मीमांसा की गई है। जीव औपाधिक सीमाओं से मुक्त होकर उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है जैसे सागर में जल का एक बूंद गिर कर एकाकार होता है[५९]। इन्होंने अविद्याजन्य विवर्त के कारण ब्रह्म से भिन्न जगत का स्वरूप माना है।

५८ जीव सीव सोइ ब्रह्म एक है
   ऋषि भवानी चमा।
जिव से न्यार ब्रह्म तब होना,
   सिव बिनु ब्रह्म न होय।
फल में बीज बीज में फल है,
   अवरन दूजा कोय।
नीर में लहर लहर में पानी
   कैसे के अलगावै।
छाया में पुरुष पुरुष में छाया
   दुइ कहवां से पावै।
अन्दर में ममी ममी में अन्दर
   दुइ कहवां से कहिये।
गहना कनक कनक में गहना
   मरमहि चुपा कर रहिये।
सिव में ब्रह्म ब्रह्म में जिव है
   ध्यान समाधि में सूझै।
मन में पवन पवन में माटी
   पलटूदास मोंं बूझै॥ पलटू साहब की बानी। भाग ३।
सभा नाहि करो काम की हम से कोऊ बड़ नाहीं हो।
पलटूदास कवन है दूजा हमहीं हैं सब माहीं हो।
अवना जनै और कछु मेरा आन के हाथ बिकानी।
लोन की न्यौं परी जल भीतर गलि कै होइ गई पानी।
पलटू हरत भाग हिरानो कहि विधि करै मनुहार। पलटू साहब की बानी।

५९ जीव ब्रह्म अन्तर नहि कोय
एकै रूप सब घट घट होय।
जग बिदन सू न्यारा मान।
परम अद्वैत रूप निशान॥ पलटू साहब की बानी। भाग ३।
घट मठादि में रम रह्यो रमता राम जु होय।
ज्ञान दृष्टि सू देखिये है अवगमन मोय। दयाबाई की बानी।
जीव रूप में राम सभै यों महारूप है जारे। सहजो बाई की बानी।

सन्त सहजोबाई और सन्त दयाबाई के काव्य में भी इसी प्रकार के अभिमत प्रकट करने वाले उदाहरण मिलते हैं। इनके अनुसार घट और मठ में स्थित आकाश मूलतः अभिन्न है। भेद केवल बाहरी आकार का है। जिस प्रकार घट और मठ के आकार में भेद लने पर इनमें स्थित आकाश एक रूप ही है उसी प्रकार अविद्याजन्य औपाधिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर जीव और ब्रह्म में कोई व्यवधान नहीं है।

जीवात्मा सिद्धान्त के सन्दर्भ में सन्तों की कृतियों में आचार्य शङ्कर जैसी सिद्धान्तबद्धता नहीं मिलती। उपनिषदों की छाया में भी मतों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना चाहिए। इस प्रक्रिया में आचार्य शङ्कर और सन्त एक ही ज्ञान स्रोत से प्रेरणा पाते दिखाई देते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सन्त-काव्य में अद्वैत सिद्धान्त की शास्त्रीयता कम किन्तु साधनाजन्य अनुभूति की प्रधानता है। आचार्य शङ्कर और सन्तों के अनुसार जीवात्मा पारमार्थिक सत्य है और जीवन मरण से मुक्त है। वह मन वाणी का विषय नहीं है। उसमें विकार और परिवर्तन प्रमत्त नहीं होते। ये समस्त लक्षण व्यावहारिक जीव में घटित नहीं होते।

जीव स्वरूप निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि —

१ जीव अपने कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु उसका फल भोगने के लिए भोगायतन शरीर की आवश्यकता है। समस्त सुकर्मों और कुकर्मों को भोगने अथवा सुख एवं दुःख का अनुभव करने के लिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की आवश्यकता है। सुख की आशा में कर्म करने और उसके फलों को भोगने के लिए प्राणी जन्म लेता है।

२ उपाधिजन्य प्रभाव से जीव अपने स्वरूप को विकृत और विस्मृत कर लेता है।

३ जीव का अध्यास स्वाभाविक और अनादि है। शरीर इन्द्रियाँ मन और आत्म बुद्धि का उत्पन्न होना और अनात्म पदार्थों अस्मद् युष्मद् भेद प्रसूत विषमताएं उत्पन्न होना जीव को ब्रह्मत्व से भिन्न करती हैं। इससे पारमार्थिक आत्मा व्यवहारी हो जाता है।

४ उपर्युक्त समस्त घटनाओं का कारण अविद्या है। जिस प्रकार आकाश में नीलिमा का भाव न रहने पर भी अविद्यावान अथवा नाना का दर्शन पर नीलिमा प्रत्यक्ष होती है उसी प्रकार अविद्या में आसक्ता रहने के

कारण ब्रह्मस्वरूप जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है और द्वैतात्मक व्यवहार को ही सत्य मान लेता है।

इस प्रकार—

(१) जीव अपने बन्धन को स्वयं उत्पन्न करता है।

(२) उसका औपाधिक अथवा अध्यासजन्य प्रभाव व्यावहारिक है।

(३) इस अध्यास के बाध होने पर वह पुनः ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है।

(४) इस अध्यास के उत्पन्न होने से पूर्व तक जीव व्यावहारिक है। लोक और वेद के व्यवहार जीव के लिए व्यवहार काल तक करणीय हैं।

व्यावहारिकता में अध्यस्त जीव सुख-दुःख दोनों का भागी होता है। परन्तु इससे मुक्त होने पर—

(१) जीव ब्रह्म ही होता है।

(२) आत्मा वस्तुतः व्यवहार दोष से संश्लिष्ट नहीं होता। कर्म और त्रिगुणात्मक प्रकृतियाँ व्यवहार में निवास करती हैं। किन्तु आत्मा परमार्थतः किसी प्रकार विकार युक्त नहीं होता। शरीर और इन्द्रियों के स्वभाव और धर्म आत्मा को नहीं छूते।

(३) आत्मा ही शरीर और इन्द्रियों का अधिष्ठान है। गीता में उसको साक्षी, उपद्रष्टा, अनुमन्ता और भोक्ता कहा गया है। यद्यपि आत्मा में गुण, माया अथवा उपाधि का आरोप आकाश में तल मलिनता के समान अविद्यात्मक है तो भी समस्त पदार्थों का वह प्रत्यगात्मा होने के कारण जगत कारण और कार्य में अनुस्यूत है।

(४) इस प्रकार जीव की आसक्ति अहं प्रत्यय के साथ पदार्थों में होती है। पदार्थों को अहं बुद्धि से ही जीव ग्रहण करता है। उसका यह अहं प्रत्यगात्मा अनेकात्मक विषयों में विकीर्ण होता है परन्तु परमार्थोन्मुख होने पर एकात्मक सत्य स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप होता है। अद्वितीय होने के कारण द्वैतात्मक भाव और जागतिक विकार उसको स्पर्श नहीं कर सकते। तब वह अकथनीय होता है और मन वाणी का विषय नहीं होता।

जीव के व्यावहारिक स्वरूप का उल्लेख सभी संतों ने नहीं किया है। संत काव्य में भाव और साधना की प्रधानता है। वे परमार्थ को ही विशेषतः लक्ष्य करते हैं। इनमें गोरखनाथ, बिहार वाले संत दरिया साहब और मारवाड़ वाले संत दरिया साहब, संत धरनीदास, संत गरीब दास, संत यारी साहब, संत बुल्ला साहब, संत गुलाल साहब और संत पलटू

साहब मुख्य हैं। संत कबीरदास, संत दादूदयाल, संत सुन्दरदास, संत मलूकदास और सन्त जगजीवन साहब के सिद्धान्तों में जीव की व्यावहारिकता के स्वरूप का विशद विवरण मिलता है। सन्त नानक साहब, सन्त दयाबाई, सन्त सहजोबाई और संत रैदास की कृतियों में भी इसका यत्किंचित रूप वर्तमान है।

सन्तों के मत में जीव की व्यावहारिकता का भाव इस प्रकार वर्तमान है :

(१) नलिनी के सुए के समान एवं मर्कट के समान किसी भ्रमपूर्ण स्थिति में अथवा बन्धन में जीव ने स्वयं को डाल दिया है।

(२) जीव को पूर्ण चेतावनी की आवश्यकता है क्योंकि वह जगत व्यवहार भ्रम में पड़ा हुआ है।

(३) लोक अथवा समाज की रूढ़ियों में ग्रस्त मनुष्य जीवन की वास्तविकता को अस्वीकार करके भ्रान्त रूढ़ियों में भटक रहा है। उपर्युक्त और आत्मकल्याणकारक लोक व्यवहार से ऊपर उठकर उसकी दृष्टि परमार्थ पर नहीं जाती।

(४) भ्रामक जगत और मिथ्या व्यवहार में निष्ठा होने के कारण मनुष्य अपना आध्यात्मिक लक्ष्य को भूल गया है। क्षणिक जगत को वह चिरन्तन मान बैठा है। शरीर को ही वह अन्तिम सत्य समझ रहा है। भौतिक द्रव्य और पदार्थों के द्वारा इन्द्रियों का पोषण कर रहा है।

जीव सम्बन्धी विचारों में सन्तों के काव्य में इस प्रकार की मौलिकता भी है :—

(१) सन्तों ने लोक-व्यवहार में आवृत्त जीव का जितना अधिक स्वरूप अंकित किया है आचार्य शङ्कर ने उतना ग्रहण नहीं किया। आचार्य शङ्कर के ग्रंथों में व्यावहारिक जीव के स्वरूप का वर्णन सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसंग में ही आया है। सन्त लोकसुधारक हैं जब कि शङ्कर परमार्थ की रक्षा में लोक सत्ता को अस्वीकार करते हैं। सन्तों ने लोक और जीव का यथार्थ व्यावहारिक चित्रण किया है।

(२) सन्तों ने परमात्मा की मधुर भाव, सेवक-स्वामी भाव अथवा पिता-पुत्र भाव से आराधना की है। उपासना के इस वेग के साथ ही जीव में अहं ब्रह्मास्मि की अद्वैत ज्ञानपूर्वक अनुभूति भी सन्त काव्य में प्रतिबिम्बित हुई है। इस प्रकार साधक जीव और साध्य ब्रह्म के बीच भक्ति के नित्य

उपयोगी अंश इन सन्तों ने प्रस्तुत किया है। ज्ञान और योग साधनाओं के साथ ही जीव की प्रेम साधना का महत्त्व भी इन्होंने स्वीकार किया है।

(३) साधना या भक्ति के बिना जीव की स्थिति निन्द्य है।

(४) जीव माया में भ्रान्त है और साधना से मुक्त होता है।

(५) पिंड ब्रह्माण्ड सिद्धान्त योगशास्त्र सम्मत मत है। आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार की योजना वस्तुतः व्यवहार में स्वीकार नहीं की परन्तु सन्तों ने इसको विशेष निष्ठापूर्वक स्वीकृति दी है।

इस प्रकरण की भूमिका में हम कह चुके हैं कि जीव के बन्धन का कारण अविद्यात्मक कर्म है। गीता में कर्म को त्रिगुण का कार्य कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया कहा गया है[९]। अतः कर्म का माया कार्य होना संगत है। कर्म को अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार बंधन का कारण कहा गया है। कर्म अपने फल रूप में अस्थायी है। मनुष्य फल के लोभ से कर्म करता है। क्रिया या विकार प्रकृति का स्वभाव है। इससे सिद्ध है कि जीव कर्म विवश होकर जन्म ग्रहण करता है[१०]। सन्त कबीर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

जिस प्रकार आकाश पर दृष्टि डालने पर वह सर्वत्र नीलिमायुक्त दिखाई देता है परन्तु वस्तुतः आकाश में नीलिमा वर्तमान नहीं है उसी प्रकार जीवत्व पर जब जब द्वैत दृष्टि पड़ती है जीव विकारी प्रतीत होता है परन्तु स्वरूपतः जीव विकारी नहीं है। जिस प्रकार आकाश की ओर से दृष्टि फिरा लेने पर नीलिमा का आभास नहीं होता जबकि आकाश सर्वत्र व्याप्त है। ठीक इसी दृष्टान्त के समान जीव में ब्रह्म भाव का ज्ञान होने पर और इसके अतिरिक्त अन्यथा दृष्टि का विरोध कर लेने पर जीव का सर्वव्यापी ब्रह्म स्वरूप प्रकाशित होता है[१२]।

---

९ मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्वतर उपनिषद्। ४।१०।

१० कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥
श्वेताश्वतर उपनिषद्। शंकरकृत सम्बन्ध भाष्य से उद्धृत।
तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।
छान्दोग्य उपनिषद् ।८। १।६।

१२ करम काटि की ओट रच्यौ रे नेह गय की आस रे।
आपहि आप बंधाइया ■ लोचन मरहि पियास रे॥ कबीर ग्रंथावली।
राम न रमहु मन्न कहा भूले परत अंधेरे कूवा।
कहै कबीर सो आप बंधायौ ज्यूँ नलिनी का सुवा॥ कबीर ग्रंथावली।

प्रश्न होता है कि ब्रह्म तो मवन है अत वह जानबूझ कर अपने को कर्म अथवा माया में क्या फसाता है ? दूसरी बात यह है कि जब ब्रह्म अद्वितीय है और वही जीव है तब वह किस तत्त्व में अपने को फसा देता है ? इन प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हो सकते हैं —

(१) जीव पारमार्थिक सत्य है अतः वह बंधन में नहीं पड़ता। इसलिये उसके लिए मुक्ति का भी प्रश्न नहीं उठता।

(२) साधना जगत में अथवा विद्या के स्वरूप का ग्रहण करने के लिये ब्रह्म को वाणी विकार द्वारा शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वरूप में लक्षित करते हैं। वस्तुतः शुद्धता, बुद्धता और मुक्तता भी उसमें आरोपित नहीं किये जा सकते, क्योंकि उपनिषद् में कहा गया है कि 'वहाँ से मन सहित वाणी वापस लौट जाती है। अस्तु विद्या के द्वारा ग्रहण के लिये ब्रह्म में उक्त स्वरूपों का आरोप होता है।

(३) ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा सत् चित् और आनन्दमय सत्य नहीं है। सृष्टि में इन तीनों लक्षणों का प्रत्यक्ष होता है। जीव में इनका उपलक्षण है। अतः ब्रह्म ही व्यवहार में परिणत हो गया है।

(४) जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल की अनन्त लहरों पर अनन्त रूप होता है उसी प्रकार ब्रह्म व्यवहार की विविधता में आत्मा विविध होता प्रतीत होता है यद्यपि एक चन्द्रमा के समान ब्रह्म भी बहुरूप नहीं होता।

(५) उपर्युक्त प्रसंग में ही जिस प्रकार वस्तुतः चन्द्रमा एक ही होता है तो भी अनेक चन्द्र जल में प्रतिबिम्बित प्रतीत होते हैं। किन्तु प्रतिबिम्ब आभास मात्र है और चन्द्र सत्य है। इसी प्रकार जीव की अनेकता आभास मात्र है और अद्वितीय ब्रह्म ही परम सत्य है।

(६) जिस प्रकार अंधकार में पड़ी हुई रस्सी को देखकर मनुष्य सर्प भय से भयभीत हो जाता है और यहाँ तक कि उसकी प्रतिक्रिया में कर्म,

पञ्च तत्त्व ले काया कीन्ही। तत्त्व कहा ले कीन्ह।।
करमों के बसि जीव कहत है जीव करम किनि दीन्हा। कबीर ग्रन्थावली।।
मृगतृष्णा नीर नित्य पी, अब मोहि कछू न सुहाइ।
मनके जनन करि डारिये करम पासि नहि जाइ। कबीर ग्रन्थावली।।
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्। गीता। १४।५।
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। गी०।। ३।५।

कम्प स्वर भय आदि विकार होते हैं और बिना भामा पीड़ा देगे गिर कर हाथ पर तोड़ लेता है उसी प्रकार जीव अज्ञानवश अपने को अत्यन्त गुच्छ समझ कर अनित्य व्यवहार में संलग्न होता है। परन्तु रस्सी में रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्प ज्ञान का बाध होता है इसी प्रकार जीव में ब्रह्म के का ज्ञान होने पर जीव की अविद्याश्रय व्यावहारिकता नष्ट हो जाती है और साधना द्वारा जीव ब्रह्मत्व में प्रतिष्ठित होता है।

(७) ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहा गया है, एवं कार्य और कारण का अभेद कहा गया है। अतः कार्य रूप में व्यक्त हो जाने पर भी ब्रह्म की एकता में अन्तर नहीं आता। जीव के शरीर प्राप्त हो जाने पर जीव और ब्रह्मत्व में परमार्थतः भेद नहीं होता। पहले एक सत् ही था पहले एक आत्मा ही था इस प्रकार तत्त्व की एकता उपनिषदों में कही गई है। उसने ईक्षण किया उसने बहुत होने की कामना की, इस प्रकार उपनिषदों में एक ही चैतन्य सत्ता का समस्त नाम रूपों में प्रवेश कहा गया है। ये ईक्षण और प्रवेश श्रुतियाँ एक अद्वैत सत्ता से अनेक नाम रूपात्मक जगत के अस्तित्व में आने की सूचना देती हैं।

अब हम जीव के व्यावहारिक स्वरूप का विचार करते हैं। उपाधि मन बुद्धि चित्त और अहंकार से युक्त ब्रह्म को जीव कहते हैं। वस्तुतः मनुष्य की सूक्ष्म शक्तियाँ के रूप में ये वर्तमान रहते हैं। इनके द्वारा जीव इन्द्रियोन्मुख हो जाता है। विषय और इन्द्रियों के व्यवहारों का सचालन होता है। पीछे कहा जा चुका है कि इन्द्रियाँ विषयों मुख हैं और इन्द्रियाँ ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान में सहायक नहीं हैं। अतः परिणाम यह होता है कि जीव अन्तर्जगत की स्थिरता का अनुभव नहीं करता और वह बाह्य भौतिक विकारों के प्रति आसक्त हो जाता है। इससे वह अपने स्वरूप से हट कर अनात्म में आत्मबुद्धि का अध्यास कर लेता है। जड़ को चेतन समझने लगता है। उसके समक्ष द्विधा त्मकता उत्पन्न हो जाती है। केवल लोक अथवा लोक और परलोक जीवन और मरण कार्य और कारण मैं और तू जैसे अनेक खंडों में विकीर्ण भाव और अभाव उसके समक्ष होते हैं। नैसर्गिक अविद्या को ही वह सार तत्त्व मान लेता है। दुर्गा सप्तशती में अविद्या शक्ति ज्ञानियों को भी मोहित करने वाली कही गई है[६३]। उपाधि वस्तुतः अविद्यात्मक है। एक ही सुवर्ण खण्ड

६३ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ दुर्गा सप्तशती। प्रथम अध्याय।

से बने अलंकारों में मनुष्य की व्यवहार अलंकार बुद्धि रहती है सुवर्ण-बुद्धि गौण हो जाती है। अलंकार स्वभावतः सुवर्ण से अधिक प्रिय है, क्योंकि मनुष्य की उसमें व्यवहार-बुद्धि अध्यारोपित है। इसी प्रकार औपाधिक पदार्थों में भी व्यवहार बुद्धि का अधिक लगाव होता है। अतः उपाधि के आधारभूत प्रत्यगात्मा का अनुभव उसको नहीं होता। वैराग्य सन्दर्भों में कनक और कामिनी दोनों की निन्दा सन्तों ने की है। मनुष्य अपना अलौकिक सामर्थ्य को इनमें बिखेर देता है और क्षणस्थायी सुख से सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करता है। सन्तों ने जीव की इस क्षमता को पहचान कर साधना द्वारा उसके संचित करने का उपदेश दिया है। अतः उपाधि नाम के प्रयत्न में सन्तों ने साधना का अविकार्य योग, भक्ति और ज्ञान की प्रक्रियाओं में सन्निहित किया है।

उपर्युक्त उपाधि के रूप जीव को कर्म में नियुक्त करते हैं।

जीव ही कर्ता है और जीव स्वयं ही कर्म करता है और अपने लिए बंधन प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त में मोक्ष के पक्ष में एक और विशेषता है। वह यह कि यदि जीव कर्म करता है तो उसका वह त्याग भी सकता है। यह बात ठीक है क्योंकि परमार्थतः कर्म न तो जीव का स्वरूप है और न उसका स्वभाव। त्रिगुणात्मक प्रकृति ही कर्मों के लिए उत्तरदायी है यह पहले कहा जा चुका है। अतः प्रकृति कर्म करके उसके दुःख और सुखों की याजना करती है। जीवत्व में स्वभावतः गुण और कर्म प्रसक्त नहीं होते। प्रकृति के ही बंधन और मोक्ष होते हैं और वही अनेक रूपात्मक व्यवहार में व्यक्त होती है। अध्यास प्रकरण में इसीलिए विषय और विषयी, अनात्म और आत्म का संयुक्त तादात्म्य कहा गया है। अध्यास में अविद्या-काय क्रियाशील रहता है। जो पदार्थ जैसा नहीं है उसमें उस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में सन्त सजग हैं। नित्यानित्य विवेक प्रकरण और पुनः अनित्य से विरक्ति और नित्य के प्रति उन्मुख होना अध्यास बोध करने के प्रशस्त साधन हैं। रज्जु में सर्प की बुद्धि होना, स्थाणु में मनुष्य का सन्देह होना और आकाश में नीलिमा की प्रतीति होना अध्यास के ही लक्षण हैं। अतः इन कारणों से जीव और अक्रिय अविकारी और गुणरहित स्वरूप में क्रिया, विकार और गुणों का आरोप अविद्यात्मक अध्यास के कारण है। जो काम मनुष्य के अधिकार की बात है वही कर्म उसके त्याग का भी विषय हो सकता है। इस प्रकार व्यावहारिक जीव स्वयं के लिए व्यावहारिक बंधन प्रस्तुत करता है। जीवत्व में बंधन और मुक्ति की कल्पना भी व्यवहार

सम्बन्धी है। उपाधि भी जीव की व्यवहार सम्बन्धी कल्पना है। अत नलिनी के सुग्गे, और बन्दर के समान जीव अपने को बन्धन में डालता है। यह बात आत्मा के स्वरूप में दिखाई में नहीं जाती। सन्तों की वाणी में भी यह मान्यता नितान्त सगत और अद्वैत सिद्धान्त सम्मत है।/

जीव के सम्बन्ध में नलिनी और सुग्गा का दृष्टान्त गज और कांच का दृष्टान्त अथवा मर्कट का दृष्टान्त शङ्कर के भाष्य ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होते हैं।

सन्त कबीरदास के मतानुसार जीव कर्म के वशीभूत हैं क्योंकि कर्म के अनुसार ही जीव फल भोगता है। जैसे आकाश तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त है। शरीर में जीव उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार घट में आकाश। घट का नाश होने पर आकाश का नाश नहीं होता। इसी प्रकार औपाधिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी ब्रह्म स्वरूप जीव आकाश के समान नित्य रहता है। शरीर घट के भीतर और बाहर आकाश के समान ब्रह्म के स्वरूप में डूबा हुआ है। ब्रह्म स्वतः शरीर में उसी प्रकार वर्तमान है जिस प्रकार घट में आकाश। किन्तु घट के नष्ट हो जाने पर जैसे घट के अन्दर का आकाश आकाश रूप हो जाता है उसी प्रकार औपाधिक शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्म का स्वरूप ही हो जाता है[१४]। सन्त कबीरदास के अनुसार व्यावहारिक बन्धनों में बंधा हुआ जीव जगत के व्यवहार करता है। कर्म व्यवहार का ही रूप है। किन्तु आत्मा वस्तुतः कर्म से रहित है और पारमार्थिक सत्य है।/अतः उसके स्वरूप में कर्म की व्यावहारिक सत्ता का संसर्ग नहीं होता। वस्तुतः आत्मा कर्म नहीं करता[१५]। सन्त कबीरदास के मत में जीव ने अपने बन्धन के कारण स्वतः उत्पन्न किये हैं। जिस प्रकार कांच के मन्दिर में कुत्ता अपने प्रतिबिम्ब को देख कर और प्रतिबिम्ब को दूसरा कुत्ता समझकर भौंक कर मर जाता है उसी प्रकार जीव जगत में आत्मस्वरूप का विस्मरण करके द्वैतजन्य व्यवहारों में पड़ कर अपने

---

६४ पंच तत्त ले काया कीन्हा तत्त कहा ते कीन्हा।
करमा के बसि जीव कहत है जीव करम किन दीन्हा।
आकास गगन पाताल गगन दसो दिसा गगन रहाइ ले।
आनन्द मूल सदा परमातम घट बिनस गगन न जाइ ले॥
हरि में तन है तन में हरि है है पुनि नाहीं सोइ। कबीर ग्रन्थावली।

६५ भाया बंधा किन्ह बनजारा। करम बिवरजित बसै निनारा। बीजक।

लिए दुःख की सृष्टि कर लेता है। जिस प्रकार सिंह कुएँ में अपनी प्रतिच्छाया को देखकर कूद जाता है उसी प्रकार जीव अपने लिए जगत भ्रम की व्यवस्था कर लेता है। जिस प्रकार स्फटिक शिला में अपने प्रतिबिम्ब को देख हाथी उस पर प्रहार करता और पीड़ित होता है उसी प्रकार जीव भी द्वैत भ्रम में भ्रमित होकर बार-बार जन्म लेता और मरता है। खाद्य भोजन पाने की लालसा से बन्दर अपने दोनों हाथ बन्दर पकड़ने के लिए बनाये हुए गढ़े में डाल देता है और मुट्ठियां में पकड़े रहने के कारण वह उसमें छूट नहीं पाता। इस प्रकार वह अपने को पकड़ा समझ लेता है। उसी प्रकार प्राणी अपने को भ्रम के बन्धन में डाले हुए है। जैसे तोता पकड़ने वाला तोते के लिए एक नलकी लगा देता है और तोता उस नलकी पर बैठ जाता है। नलकी के घूम जाने पर तोता नलकी को गिर जाने के भय से दृढ़ता से पकड़े रहता है उसी प्रकार प्राणी माया के भ्रम के कारण अपने को बन्धन में पड़ा हुआ समझ रहा है। वस्तुतः प्राणी बन्धन मुक्त है जिस प्रकार ब्रह्म मुक्त स्वरूप है, उसी प्रकार जीव का व्यावहारिक बन्धन पारमार्थिक नहीं है[६६]।

संत कबीरदास के मतानुसार संसार माया के भ्रम से पूर्ण है। वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप जीव सत्य है। अखण्डित ब्रह्म स्वयं ही माया के भ्रम से भ्रमित हो कर ईश्वर बनकर एक से अनेक रूप हो गया है[६७]।

संत दादू के अनुसार जीव त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण संसार और विषयों के बन्धन में पड़ गया है। जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है किन्तु माया के कारण अपने वास्तविक रूप को भूल गया है[६८]। जिस प्रकार एक राजा स्वप्न में अपने को भिक्षुक रूप देख कर दुःखी होता है, उसी प्रकार जीव संसार की

६६ आपुन पौ आपुन ही बिसरा।
जैसे सुनहा काँच मन्दिर महँ भरमत भूँकि मरो (रे)।
जौ केहरि बपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो (रे)।
वैसे ही गज फटिक सिला पर दसनन्हि आनि अरा (रे)।
मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे घर घर रटत फिरा (रे)।
कहहिं कबिर ललनी के सुगना तोहि कवने पकरा (रे)। बीजक। शब्द ७।
६७ सन्तो धनी भुज जग माही, (बात) नित मिथ्या म जाना।
पहिले भूल ब्रह्म अखण्डित झाई आपुहि मानी।
झाई में भूलत इच्छा कीन्ही, इच्छा ते अभिमानी। बीजक।
६८ त्रिगुन संसार व्यापक, व्यापक तत,
आद ग्रुप बिषै भोग बध भूला। दादूराम की बानी।

माया के कारण अपने स्वरूप को भूल कर दुःखी हो रहा है। जीव जब तक माया के वशीभूत हो कर अहंकार करता है तब तक उसको आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। किंतु मायाकृत अहंकार के आत्मज्ञान के द्वारा दूर हो जाने पर जीव का ब्रह्म स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। जिस प्रकार सरिता का जल जब तक समुद्र में नहीं मिलता तभी तक वह सरिता का जल रहता है किंतु सरिता के समुद्र में मिल जाने पर सरिता का जल समुद्र का रूप हो जाता है। उसी प्रकार जीव जब तक मायिक व्यवहार में आसक्त रहता है तब तक वह व्यावहारिक जीव रहता है किंतु आत्मज्ञान में जीव जब ब्रह्म स्वरूप हो जाता है तब जीव और ब्रह्म एकरस हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी से मनुष्य भयभीत हो जाता है उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मस्वरूप को विस्मृत करके जगत व्यवहार के बंधनों में जीव बंध गया है। किंतु प्रकाश होने पर जैसे रज्जु की रज्जुता का ज्ञान हो जाता है और मनुष्य भय से मुक्त हो जाता है वैसे ही जीव आत्मस्वरूप से परिचित हो जाने पर संसार की माया के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

संत रैदास के अनुसार सृष्टि की अनेकरूपता भ्रामक है। वस्तुतः एक ब्रह्म तत्व ही नित्य सत्य है एवं समस्त मायिक व्यवहार ब्रह्म में अधिष्ठित है। संसार की अनेकता पारमार्थिक नहीं है किंतु जैसे एक सुवर्ण राशि से अनेक अलंकार बनते हैं और अलंकारों के अनेक नाम रूप होने पर भी अलंकार सुवर्ण रूप ही रहते हैं वैसे ही जीव ब्रह्म और जगत में भेद नहीं है। भेद केवल नाम रूपात्मक और व्यावहारिक है[६६]। संत नानक साहब के सिद्धान्त के अनुसार कर्म करने के कारण ही जीव रूप में शरीर धारण करना पड़ता है[७०]।

---

६६ माधवे ना कहियत भ्रम ऐसा। तुम कहियत होहु न जैसा।
नरपति एक सेज सुख सूता सपने भयो भिखारी।
आछत राज बहुत दुख पायो सो गति भई हमारी।
जब हम हुते तब तुम नाहीं अब तुम हौ हम नाहीं।
सरिता गवन कियो लहरि महोदधि जल केवल जल माहीं।
रजु भुजंग रजनी परगासा अस कछु मरम जनावा।
समुझि परी मोहि कनक अलंकृत अब कछु कहत न आवा।

रैदास की बानी।

७० ए सरीरा मेरिआ हरि तुम महि जोति रखी ता तू जग महि आइआ। हरि जोति रखी तुधु विचि ता तू जग महि आइआ। हरि आपे माता आपे पिता जिनि जीउ उपाइ जगतु दिखाइआ।

संत दादूदयाल के मत में कर्म जीव के बंधन का कारण है। जिस प्रकार काम के वशीभूत हो कर हाथी पकड़ा जाता है, उसी प्रकार विषयों में आसक्त हो कर जीव पुन पुन जन्म लेता और मरता है। जीव में विषयों के भोग से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं उनके कारण ही जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। जिस प्रकार बंदर जिह्वा के स्वाद के लिए पकड़ा जाता है उसी प्रकार जीव विषयासक्ति के कारण पुन पुन बंधन में पड़ता है। जिस प्रकार तोता सुख की लालसा से पकड़ने वाले के द्वारा लगाई हुई नलकी पर बैठ जाता है और अपने को किसी के द्वारा पकड़ा हुआ समझकर नलकी नहीं छोड़ता उसी प्रकार सांसारिक विषय मनुष्य के बंधन के कारण हैं। संत दादूदयाल के मत में अंधेरी रात में मनुष्य जैसे रस्सी को सर्प समझ लेता है उसी प्रकार जीव माया के भ्रम में भ्रमित हो कर अपने स्वरूप को भूल गया है। जिस प्रकार मृग मरीचिकाओं में जल नहीं होता और अंत में मृग को पिपासा से व्याकुल हो कर मरना पड़ता है उसी प्रकार जीव के लिए संसार में सुख नहीं है। संसार और जीव का व्यावहारिक स्वरूप वस्तुत भ्रम है। जीव कर्म करके सुखी होता है किन्तु यह सुख उसी प्रकार का होता है जैसा स्वप्न का सुख क्योंकि भौतिक सुख अनित्य होता है। जीव को आत्म ज्ञान हो जाने पर कर्म विलीन हो जाता है। यह संसार मिथ्या है केवल ब्रह्म ही सत्य है। व्यावहारिक जीव अपने वास्तविक एवं पारमार्थिक स्वरूप को विस्मृत करके व्यवहार में रत रहता है, किन्तु जब उसको आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो अविद्यात्मक जगत भ्रम उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार प्रकाश होने पर रज्जु की रज्जुता प्रकाशित हो जाती है और जीव सर्प भय से मुक्त हो जाता है[1]।

---

७१ कर्मै कर्म काटै नहीं कर्म कर्म न जाइ।
कर्म कर्म छूटै नहीं कर्म कर्म बंधाइ। दादूदयाल की बानी।
जैसे कुंजर काम बस आप बंधाणा आइ।
ऐसे दादू हम भये क्यूँ करि निकस्या जाइ॥ दादूदयाल की बानी।
जैसे मर्कट जीभ रस आप बंधाणा अंध।
ऐसे दादू हम भये क्यों करि छूटै फंध॥ २
ज्यूँ सुवा सुख कारणे बंध्या मूरिख माहिं।
ऐसे दादू हम भये क्यूँ करि निकसैं नाहिं॥ दादूदयाल की बानी।
निसि अंधियारी कछू न सूझै संसै सरप दिखावा।
ऐसे [illegible]।

सन्त सुंदरदास के मतानुसार यद्यपि आत्मस्वरूप एक ही है किन्तु औपाधिक बुद्धि के कारण नाना रूपों में दिखाई पड़ता है। जैसे मुख दर्पण के सम्मुख आता है वैसा ही प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है। इसी प्रकार संसार में एक आत्मा ही बुद्धि की औपाधिकता के कारण विविध रूपों में दिखाई देता है। अतः यद्यपि ब्रह्मस्वरूप जीव एक ही है परन्तु उपाधि भेद के कारण वह अनेक रूपों में प्रगट होता है[72]। जैसे काँच के भवन में कुत्ता अपने अनेक प्रतिबिम्ब देख कर भूँकता फिरता है उसी प्रकार एक रूप आत्मा अविद्यात्मक संसार में अपने को अनेक रूपों में देखता है और दुःखी होता एवं व्यवहार में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार स्फटिक शिला में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस पर आक्रमण करके हाथी अपने दाँत तोड़ देता है, उसी प्रकार जीव मायात्मक जगत में भ्रमित होता है और दुःख परिणामी व्यवहार करता है। जैसे सिंह अपने प्रतिबिम्ब को देख कर कुएँ में गिर जाता है, उसी प्रकार जीव अविद्यात्मक भ्रम का आश्रय है। जैसे चक्कर खाते हुए मनुष्य को सारा संसार घूमता दिखाई देता है, वैसे ही जीव संसार में भ्रमित हो कर अद्वैत ब्रह्म में जगत आदि कार्यों का आरोप करता है। भ्रम से दूसरे भावों का द्विधात्मक ज्ञान होता है, किन्तु जब भ्रम नष्ट हो जाता है तब केवल ब्रह्मस्वरूप अवशिष्ट रहता है[73]। पारमार्थिक अवस्था में जीव जगत और ब्रह्म में भेद

मग जल खोजि तहाँ जल नाहीं फिरि फिरि भूठी आसा।
जल नहिं नदी कहीं जल नाहीं। तिहूँ मांहि पियासा।
कर्म विलास बहुत विधि कीन्हा, यों सुपिन सुख पावै।
जागत भूठ तहाँ कछु नाहीं फिरि पीछे पछितावै।
जब लग सूता तब लग देखे जागत कर्म विलाना।
दादू अब कछु नाहीं है मैं माहि समाना। दादूदयाल की बानी।

७२ एकही आतुमा भास तहाँ नहीं बुद्धि के योग तें विभ्रम भास।
जो यह दृग तो वह उहाँ पुनि यार सित ते उहाँ पुनि पास।
जो यह साधु तो साधु उहाँ पुनि यार हम तैं उहाँ पुनि हास।
त्यौंहि आतु कर मुख सुन्दर सीस दर्पन माहि प्रकासे। सुन्दर ग्रन्थावली।

७३ जैसे श्वान काँच के मन्दिर मध्य देखि आर
भूँकि भूँकि मरत करत अभिमान जू।
जैसे गज फटिक शिला सौं अरि तोरि दन्त
जैसे सिंह कूप माहि उझकि भुलान जू।

सन्त गरीबदास के अनुसार उपाधि के कारण जगत भासित होता है। जीव उपाधि के कारण अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है[७६]।

सन्त भीखा साहब के अनुसार रज्जु में सर्प के भ्रम के समान द्वैतजन्य जगत् प्रतीत होता है। किन्तु जीव और ब्रह्म एक रूप है। ज्ञान होने पर जिस प्रकार सर्प रज्जु में समा जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर द्वैत भाव नष्ट हो जाता है[७७]।

सन्त पलटू साहब ने भी कर्म की निन्दा की है क्योंकि यही जीव के बन्धन का कारण है[७८]।

४ सन्त काव्य में आत्मा अथवा जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि सन्त आत्मा को आचार्य शङ्कर के समान पारमार्थिक सत्य मानते हैं। शङ्कर के समान ही सन्त भी जीव में अविद्या एवं उपाधि का आरोप करते हैं। शङ्कर के समान ही सन्त भी जीव के बन्धन अविद्याजन्य व्यावहारिक और भ्रमकृत मानते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त भी आत्मज्ञान के द्वारा जीवत्व की ब्रह्म में प्रतिष्ठा मानते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त भी विषयों जागतिक व्यवहारों एवं कर्म को जीव के बन्धन का मिथ्या

नाभि सुगन्ध नासिका बासा, चरचत फिरे उद्दिम धामा।
सूना देखो दरपन माहीं, छवि तनु एक बहुरि दुइ नासा।
नलनी बैठि सुगा जिमि भूला, भरमत अध अधोमुख झूला।
जल महँ प्रतिमा देखलावै, खोजत बिरमत हाथ न आवै।
ज्ञानन नहरि सरप भ्रम धारे, निरखि दीप सो दापर करे।
फटिक शिला अरुझ ममता, अपना कुबुधि गवायो स्वाना।
मुँहन स्वान काच के गेहा, भा अभिमान बिसारे देहा।
मग तृस्ना जल धोखे धावै, थाकि परे पाछ पछितावै। धरनीदास की बानी।

७६ कहे दास गरीब उपाय लागा,
सब भूत भये ज्यों है त्यों है। गरीबदास की बानी।
दुख दुन्द उपाधि में जीव बधे,
समरथ की नहीं उपामा है।
सूझै नहीं सिर अकथ कथा,
पानी तारे नर प्यासा है। गरीबदास की बानी।

७७ भीखा एक दुइत का भयऊ,
सर्प समाय रज्जु मह गयऊ। भीखा साहब की बानी।

७८ बूझि विचारि गुरु कीजिये, जो कर्म से न्यारा।
कर्म-बन्ध हरि नारि है, बूड़ि मझधारा। पलटू साहब की बानी। भाग २।

कारण मानते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त भी आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को कर्तृत्व, भोक्तृत्व से मुक्त मानते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। आचार्य शङ्कर के समान ही सन्त आत्मा को नित्य और मुक्त मानते हैं। जीव के बन्धनों के उच्छेदन का साधन जिस प्रकार शङ्कर ने आत्मज्ञान को माना है उसी प्रकार सन्तों ने भी आत्मज्ञान साधन को प्रधान मुख्य साधन माना है। इस भाँति हम उपर्युक्त विषयों में आचार्य शङ्कर और सन्तों के विचारों में साम्य पाते हैं।

सन्तों ने आत्मा को जिस रूप में ग्रहण किया है वह रूप गीता और उपनिषदों के भी अनुकूल है। इस सम्बन्ध में हम यथास्थान संकेत करते चले हैं। आत्मा के विशेषणों का प्रयोग भी सन्तों ने गीता और उपनिषदों के अनुसार ही किया है।

सन्तों ने आत्मा को आचार्य शङ्कर के समान अविकारी माना है। यद्यपि समस्त जगत विकार और कार्य आत्मा में ही अधिष्ठित है तो भी आत्मा के पारमार्थिक रूप में अन्तर अथवा विकार नहीं आता। इस सम्बन्ध में सन्तों ने विवर्त भावना का आश्रय लिया है। इस प्रकार की विचार पद्धति भी शाङ्कर अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल है।

सन्तों ने जीव के बन्धन के सम्बन्ध में बन्दर, शुक, हाथी, सिंह एवं स्वप्न देखते हुए राजा के दृष्टान्त दिये हैं। ये दृष्टान्त शाङ्कर के ग्रन्थों में नहीं मिलते। तो भी, जीव की बन्धन कारणरूपता के सिद्धान्त के क्षेत्र में आचार्य और सन्तों का मतभेद नहीं है क्योंकि दोनों के अनुसार जीव ही स्वतः अपने लिये बन्धन प्रस्तुत करता है। जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और जीव को फल भोग के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। अस्तु, शङ्कर और सन्तों के मतों में इस विषय में भी भेद नहीं है।

सन्तों ने आत्मा की सर्वव्यापकता सर्वात्म भावना एवं सर्वशक्तिमत्ता कही है। ये भावनायें भी शाङ्कर सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं हैं। सन्तों ने आत्मा की अप्रमेय एकरसता अद्वैतरूपता एवं अकथनीयता का वर्णन भी शङ्कर-सिद्धान्त के अनुकूल किया है। अतः उपर्युक्त मुख्य बातों के आश्रय में हम सन्तों और शङ्कर के मतों में समानरूपता पाते हैं।

तृतीय खण्ड

निर्गुण काव्य का सिद्धान्त पक्ष और उस पर शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव

ब्रह्म अथवा आत्मा का ही स्वरूप ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान साध्य और साधन दोनों ही है। आचार्य शङ्कर ने ज्ञान शब्द की परिभाषा करते हुए ज्ञान को ज्ञान साधन होने के कारण भी ज्ञान संज्ञा दी है।

सन्तों के अनुसार ज्ञान प्राय साधन रूप है। मायाकृत अज्ञान के बोध से अवशिष्ट ब्रह्मज्ञान रहता है। ज्ञान के सम्बन्ध में गोरखनाथ का कथन है कि यह बिना बीज और पत्र का वृक्ष है। वह पत्ता और फल के बिना ही फलता है। वह वन्ध्यापुत्र है। वह बिना आकाश का चन्द्रमा बिना ब्रह्माण्ड का सूर्य बिना स्थल का वृक्ष है। इस परमार्थ के जानने वाले के शरीर में परमज्ञान का उदय होता है। वह न शून्य है न स्थूल। उसके चिह्न और पूजा के रूप नहीं हैं। बिना अनाहतनाद के शब्द का गर्जन होता है। बिना वाटिका के पुष्प और बिना पुष्प की सुगंध है। बिना पवन का भ्रमर है। वह राहु के बिना ग्रस लेता है अग्नि के बिना जला देता है आकाश के बिना बादल उमड़ते हैं। यह परमार्थ अगर ज्ञानी वेदादि के पढ़ने वाले पण्डितों द्वारा नहीं कहा सकता। वह स्वसंवेद्य स्वयंप्रकाश और सोऽहं भाव है। वह भौतिक तत्त्वों पृथ्वी आकाश और जल इत्यादि से भिन्न परमार्थ सत्य है। ज्ञान के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अभिव्यक्तियाँ अन्य सन्तों के काव्यों में भी मिलती हैं। वन्ध्यापुत्र बिना शाखा मूल और फल का वृक्ष शशशृंग आदि उपमाएं ब्रह्मज्ञान के लिए सन्तों ने दी हैं। इस प्रकार की उपमाएं आचार्य शङ्कर ने भी दी हैं और इसके पूर्व बौद्ध ग्रन्थों में लंकावतार सूत्र आदि में भी मिलता है। आचार्य शङ्कर ने बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन करते हुए इन दृष्टान्तों के द्वारा इनके मत की असिद्धता प्रमाणित की है। सन्तों ने इन दृष्टान्तों द्वारा ज्ञान की अनादिता

१ सुनौ पण्डित ब्रह्म गियान गोरष बोलै जाण सुजान।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पान फूल बिन फलिया।
बांझ केरा बालूड़ा प्युन तरवरि चढ़िया ॥१॥
गगन बिन चंद्रमा ब्रह्मंड बिन सूर झूझर बिन रचिया थानें।
ए परमारथ जे नर जांणे ता घटि परम गियानं।
सुनि न अस्थूल ल्यंग नहिं पूजा धुनि बिन अनहद बाजै।
बाड़ी बिन पहुप बिन सौरभ पवन बिन भवरा छाजै।
राहु बिन गिलिया अगिनि बिन जलिया अंबर बिन जल भरिया।
यहु परमारथ कहौ हो पण्डित रुग जुग स्याम अथरबन पढ़िया॥
स्वसंवेद्य मोह प्रकाश धरता गगन न आप। गोरखबानी।

अव्यवहारिकता निर्गुणरूपता का कथन किया है। वस्तुत इस प्रकार की अभिव्यक्ति अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल है। ब्रह्मज्ञान का अनुभव इन्द्रिया द्वारा नहीं होता। यह गुण और विकारों से रहित है। साधना इस ज्ञान के उदय होने पर समाप्त और पूर्ण हो जाती है। यह ब्रह्मज्ञान ही समस्त ज्ञानो का अधिष्ठान है। अत उसके प्राप्त होने पर ही अन्य व्यावहारिक ज्ञानों का भी बोध हो जाता है। इसमे आत्मा की निर्गुण सत्ता और अनिर्वचनीयता लक्षित है।

सन्त कबीरदास[१], सन्त दादूदयाल सन्त सुन्दरदास, सन्त चरनदास सन्त यारी साहब और पलटू साहब के काव्य में इस प्रकार के परमार्थ ज्ञान के पुष्ट उदाहरण हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रकार की दृष्टान्त परम्परा बौद्ध शंकर और सन्तो में प्रमुख है।

सन्त कबीरदास ने आत्मस्वरूप ज्ञान के लिए इस प्रकार की दृष्टान्त परम्परा स्वीकार की है। उन्होंने आत्मा को 'बेलो' शब्द से अभिहित किया है। सन्त कबीर दास के मत में लकड़ी अर्थात भौतिक प्रपंच रूपता ज्यों ज्यों नष्ट होती जाती है वैसे ही आत्मा के ज्ञान का उदय होता जाता है। जैसे जैसे अभ्यास का निरसन होता जाता है वैसे ही आत्म बोध प्रखर होता जाता है। यह संसार और शरीर एक वन के समान है। गीता में भी संसार की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की गई है। कर्म और संस्कारों से उत्पन्न यह जगत और शरीर आत्म शब्द का बोध हो जाने पर तिरोहित हो जाता है। सन्त कबीरदास ने इसको बिना ब्यायी हुई गाय का दूध खरगोश का सींग और बन्ध्यापुत्र कहा है। इन दृष्टान्तों की सार्थकता पर विचार करने पर आत्मस्वरूप की अद्वैत दर्शन सम्मत रूप की प्रतिष्ठा होती है। जिस प्रकार अनब्यायी गऊ का अस्तित्व होता है परन्तु दूध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उससे कभी दूध उत्पन्न ही नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञान सनातन और स्वतन्त्र है। उसकी

---

१ अब तौ ऐसी है बनी ना मूल नहीं न बेलि ।
सागण आगी लाकड़ा ऊगी च पल मेल्हि ॥ १ ॥
आग आगै ... पाइ इंरिया होइ ।
... विरष को ... फलिदा फल होइ ॥ २ ॥
... तो टहटहा माया तो कुम्हिलाइ ।
... गुणत ... बेलि का कुछ गुण कहा न जाइ ॥ ३ ॥
आंगणि बेलि अकासि फल अण ब्यावर का दूध ।
ससा सींग की धूनहीं रमैं बांझ का पूत ॥ ४ ॥ ... ।

उत्पत्ति के लिए किसी साधना और क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार वंध्यापुत्र भी एक असम्बद्ध पद है। भगवान के सींग नहीं होते। अतः ब्रह्म के स्वरूप में संसार का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पंगुल शब्द का भी इसी भाव में संतों ने प्रयोग किया है[३]। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और माया दोनों ही अनादि हैं। इनमें से माया की उपलब्धि व्यवहार में होती है ब्रह्म की नहीं। किन्तु यह अनादि माया ब्रह्म साक्षात्कार में बाधक है।

इसका मूल यद्यपि ब्रह्म है किन्तु वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान दृष्टि से देखने पर माया एक आभास मात्र रह जाती है। अज्ञान की दशा में इसका बोध और व्यवहार होता है। प्राणी इसमें ही भ्रमित होता रहता है और आत्मज्ञान से विमुख रहता है। अस्तु माया के अनस्तित्व में ही उसका अस्तित्व निहित है।

संत दादूदयाल ने भी इसी प्रकार ज्ञान का स्वरूप निश्चित किया है। ज्ञान नित्य है और माया के विकारों से रहित है। ज्ञान की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञान की वस्तुतः उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्म नित्य है। अतः ज्ञान भी अनादि है। यह ज्ञान कर्म द्वारा साध्य नहीं है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर जीव स्वतः निरंजन के रूप में स्थित हो जाता है[४]।

---

३ यह मन शक्ति पताल ले सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल है पिव पिव कर पीछे काल न खाइ॥ कबीर ग्रन्थावली।

४ ज्ञानम ना उपजे दादू पंगुल ज्ञान।
कृतम जा उपजि करि जाई निरंजन थान॥
आतम बोध बंझ का बेटा गुरु मुख उपजे आइ।
दादू पंगुल पंच बिन जहाँ राम तहँ जाइ॥
दादूदयाल की बानी। गुरुदेव को अंग।

दादू काया व्यावर गुणमयी मन मुख उपजे ज्ञान।
चौरासी लख जीव कौं इस माया का ध्यान॥
दादूदयाल की बानी। उपजणि को अंग।

दादू बंझा आतमा सम्पूर्ण पुत्र पत हो।
सहजि सन्ति सतगुर कहै बूझै बिरला कोइ॥ ४॥
न साहिब मारैं जला तो बेला उपजाइ।
दादू सींचै सा या तो बेली बधना जाइ॥ ८॥
हरि तरवर तन आतमा बनी करि विस्तार।

आत्मा में ही ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर अविद्या का उल्लंघन करके प्राणी चरम पद मोक्ष का अधिकारी होता है। सन्त दादूदयाल के अनुसार ज्ञान गुरु मुख से ही मिलता है। यह अध्यात्म ज्ञान ही प्रपञ्चातीत परब्रह्म की उपलब्धि का साधन है आत्मा का ज्ञान ही ब्रह्म ज्ञान है। माया दिक विकारों से आच्छादित रहने के कारण आत्मा नित्य अनुभवगम्य होते हुए भी सांसारिक प्राणी को अनुभूत नहीं होता। संत दादूदयाल ने इसको बेली या लता का रूप माना है। अज्ञान जन्य विषयों और पदार्थों से निरन्तर घिरे रहने के कारण यह आत्म बेलि मुरझाई रहती है किन्तु आत्म बोध से पोषित होने पर यह फलती फूलती है। इस प्रकार इसी आत्मा में अमृत फल फलते हैं जिनके रसास्वादन के अनन्तर प्राणी को अन्य किसी रस की अभिलाषा नहीं रहती।

अविद्या निरसन और आत्मज्ञानोपलब्धि की दृष्टि से सत कबीरदास और सत दादूदयाल की अभिव्यक्तियों में समानता है। सत सुन्दरदास ने भी ज्ञान के पक्ष में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है।[५]

सत सुन्दरदास ने संसार के नाना नामरूपात्मक पक्ष को प्रपञ्च माना है। इस नामरूपात्मक पदार्थ जगत के आकर्षणों का अन्त नहीं है। मनुष्य की तृप्ति इनसे कभी नहीं होती किन्तु वस्तुतः ये मरुभूमि में उपलब्ध होने वाले जलाभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह संसार रस्सी में सर्प भय के समान है। रात्रि में अज्ञानवश मनुष्य रस्सी को सर्प समझकर भयग्रस्त होता

अमृत का फल खाइ करि मुवा न सुणिया कान।
दादू सिर की बली बाहिर बिरला का फल होइ।
दादूदयाल की बानी। बेली का अंग।

५ अब तो एक करि हम जान्या।
जो नानात्व प्रपंच जहाँ लौं मृग तृष्णा को पान्या।
रज्जु ही अहि रजनी में भ्रम तें भ्रमि भय मान्या।
रवि प्रकाश जब भया प्रगट ही रज्जु को रज्जु पहिचान्या।
ज्यौं बालक अज्ञान बुद्धि करि याही बधा डरान्या।
वा कछु भया नहीं कछु है यह निश्चय करि मान्या।
हाटक [illegible] भूषण मिथ्या नाम धरान्या।
तैसे ज्ञान जगत मय नाहीं समुझि सकल भ्रम भान्या।
भी कछु है रह्यौ पुनि सोइ दुनिया नाव बिचान्या।
[illegible] आदि अन्त मध्य सुन्दर सुन्दर ही ठहरान्या। सुन्दर ग्रंथावली। राग २।

है किन्तु उषाकालीन प्रकाश में जिस प्रकार भ्रम नष्ट होता है और भयभीत मनुष्य आश्वस्त होता है वैसे ही अविद्यात्मक प्रपंच-जगत् बोध होने पर मनुष्य शान्ति अनुभव करता है। यह प्रपंच असत् दिवा स्वप्न, गगनपुष्प, वन्ध्यापुत्र के समान असत् है। इसके वास्तविक रूप को समझकर ही आत्म ज्ञान का उदय होता है। द्वैतभाव का निरसन होकर अद्वैतब्रह्म भाव में स्थित होकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है।

सन्तों ने जगत को रज्जु में सर्प के भ्रम के समान असत् कहा है। सन्त चरनदास ने भी इन्हीं दृष्टान्तों के आधार पर जगत का मिथ्यात्व प्रमाणित किया है[6]। ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए प्रपंच के पक्ष का विरोध करना आवश्यक है। व्यवहार और जगत की आसक्तियाँ मनुष्य को वस्तु भाव से पृथक कर देती हैं। परमार्थ ज्ञान में व्यावहारिक भावना उसकी अनुभूति में सहायक नहीं होती। ऐसी स्थिति में सन्तों का यह विवेक विरक्ति का द्योतक है। परमार्थ में आत्मबोध के अतिरिक्त दूसरी भावना नहीं रह सकती। सन्त चरनदास ने इसीलिए इस प्रपंच जगत की असम्भावना पर्वत में मछली समुद्र में मृग आकाश में खेत पानी की गठरी, धुएँ का किला स्वप्न का राजा, गणिका का शील, गूंगा का नाच, अमावस्या की चाँदनी रात में सूर्य, नारी का नारी से विवाह, चींटी का हाथी को ले भागना, पुरुष के स्तनों में दूध प्राप्ति का कथन करके दिखाई है[7]।

---

६ साधो भाई यह जग या सब सपना।
[illegible] पहार मनुष बिच [illegible] वन प्रकाश [illegible]।
[illegible] का पट [illegible] धुआँ का कलिश [illegible] का नीर।
बालू को पुल [illegible] का मृग [illegible] का नीर।
स्वप्न का भूप [illegible] स्वर्ग की [illegible] गगन को [illegible]।
गनिका [illegible] नाच भूमि का नारि सों ब्याहन नार।
मावस की [illegible] रैन को सूरज [illegible] को [illegible]।
[illegible] सब कहनि [illegible] ते माया हाथी।
[illegible] [illegible] सब [illegible] विचारा पाया।

चरनदास की बानी। भाग २। शब्द ३ ।

७ [illegible] बिना [illegible] [illegible] बिन [illegible] जाना।
[illegible] बिना [illegible] मध बिना [illegible] ।।
[illegible] बिन [illegible] है [illegible] है बिन [illegible]।
[illegible] को [illegible] बांझ के पूत के [illegible]।

दादी साहब के रत्नावली। [illegible] ।२३।

ज्ञान की श्रेष्ठता सभी सन्तों ने स्वीकार की है। गोरखनाथ के अनुसार ज्ञान के बिना सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में सत्य का परिचय नहीं होता। परन्तु गोरख ने गुरु मत्स्येन्द्र की कृपा से आलम्बन रहित निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके संसार रूपी सागर को पार कर लिया है[८]।

सन्त कबीरदास ने ब्रह्मज्ञान को समाधि के सुख के रूप में अनुभव किया है। इससे अविद्याजन्य भ्रम और आवागमन का नाश होता है। वहाँ द्वैत भावना का अभाव होता है। यह आत्मज्ञान आत्मा के द्वारा ही होता है। यह ब्रह्मज्ञान समाधिजन्य होता है, जिसमें मनुष्य की आत्मा अनन्त सुख अनुभव करता है। ब्रह्मज्ञान गुरु कृपा से प्राप्त होता है। इससे हृदय कमल खिल जाता है और जन्म जन्मान्तरों के संचित अज्ञान के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। आत्मज्ञान से ही परम ज्योति का प्रकाशपुञ्ज उदित होता है और अज्ञान निद्रा से जाग कर साधक अमर हो जाता है। ज्ञान अनादि है और इसकी प्राप्ति होने पर जीव अनेक अद्भुत आध्यात्मिक रहस्यों को समझने में समर्थ हो जाता है। पुनः पुनः जन्म मरण के कुचक्र से वह मुक्त हो जाता है और फिर कभी संसार के अनित्य विषयों में रमने के लिए वह जन्म नहीं लेता[९]।

---

८ मति मति मानव श्री गोरष बाला अन ले राख्या रंग।
अनथ पुरिस जिनि जुगजुग चाल्या रच्या निरंजन संग।
सतजुग मध जुग एक रचाया सिहर एक लिखाया।
ग्यानविहूणा गगन गभप अरधू सुन्दी हसि हसि खाया।
त्रेता ज्यां मध जुग गाह रचाया राम रसाइन कन्दा।
नर बन्दर सब लड़ि लड़ि मुवा निज का ग्यान न चन्दा।
द्वापर जा मध जुग सनि रचले कृष्ण कन्दर अनुसार।
घरा पांचो लड़ि लड़ि मुवा नागर किस अधार।
कलियुग मध जा चारि रचाया बूझिया चार विचार।
घरि घरि दन्द घरि घरि बादा घर घर कथण हार।
चहु जुग भये जा चारि आलिग्या ग्यान निरंजन रंग्या।
मछिन्द्र प्रसादै जती गोरष बोल्या बार किरन्या पार उतार्या।

गोरखबानी। पद ५।२९।

९ अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान
सहज समाधें सुख मैं रहिबो कोटि कलप विश्राम।
गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हीं हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या परम जोति प्रकासा।

संत रैदास ने ज्ञान द्वारा हरि चरणों में चित्त लगाना कहा है। इसमें त्रिगुणात्मक माया और संसार के बंधनों का नाश होना कहा गया है। इसी माया ने प्राणी को भ्रम में डाल रखा है। तीन गुणों से प्रसूत यह जगत अनेक जटिल जालों से युक्त है। गुरु द्वारा ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है जिससे अशेष दैविक, दैहिक और भौतिक बंधनों का समूह नष्ट हो जाता है[1]।

संत धरमदास ने ज्ञान के पक्ष में प्रकृति, माया त्रिगुण, पंचतत्त्व, काम मोह विकार आदि की निन्दा की है। इस व्यवहार रूप जगत से निर्गुण ज्ञान

अनत उठया पनक कर जाँय कान अहगा माला।
उपया सुर निम निया पानानी मावन थें तब जागा।
अविगत अकल अनूपम देख्या कहता कह्या न जाय
सैन करै मन ही मन रहसै गूँगै जानि मिठाई।।
पहुप बिना एक तरवर फलिया बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया सहज रूप सो पाया।
देखत कांच भया तन कंचन बिन बानी मन माना।
उड्या बिहंगम खोज न पाया ज्यूँ जल जलहि समानां।
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं न्हाये उदिक न नाऊँ।
भागा भ्रम ये कहीं कहता आये बहुरि न आऊँ।
आपै मैं तब आपा निरष्या अपन मैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपनां अपन पै आपा बूझ्या।।
अपनैं परचै लागी तारी अपन पै आप समानां।
कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन जांनां। कबीर ग्रन्थावली। पद ६।

१० बापुरो सत रैदास कहै रे।
ज्ञान विचार चरन चित लावै हरि की सरनि रहै रे।
पाती तोड़ि पूजि रचावै तारन तरन कहै रे।
मूरति मांहि बसै परमेसुर तौ पानी मांहि तिरै रे।।१।।
त्रिविध संसार कौन बिधि तिरबो जे दृढ़ नाव न गहै रे।
नाव छाँडि के डूंगै बैसे तो दूना दुख सहै रे।।२।।
गुरु को सबद अरु सुरति कुदाली खोदत कोई लहै रे।
राम कहहु या न जानै आसो माने ज्ञ कहै रे।।३।।
झूठी माया जग डहकाया तो तिनि ताप दहै रे।
कहै रैदास राम जप रसना काहू के संग न रहै रे।।४।।

रैदास की बानी। पद ४४।

की श्रेष्ठता स्वीकार की है[11]। इनके अनुसार ज्ञान मार्ग बड़ा विलक्षण है। समझने की बात है कि जगत का विकास जड़ और चेतन तत्वों से हुआ है। पंचतत्वों और पच्चीस प्रकृतियों के सहयोग से सभी अविद्यात्मक व्यापार संचालित होते हैं। 'कनक', 'नारी'—धन और स्त्री का लोभ संवरण करना कठिन है। इनके मोह में पड़कर ही मनुष्य अनेक मिथ्या-व्यवहारों और व्यापारों में लगा रहता है। प्रकृति ही प्राणी में विषयों के प्रति तृष्णाएँ उत्पन्न करती है। षटदर्शन भी अज्ञान का ही प्रसार करते हैं क्योंकि इनमें से ज्ञान का कोई भी अस्तित्व नहीं रहता। प्रकृतिजन्य लोभ मोहादिक विकारों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है।

सन्त नानक के अनुसार समग्र पृथ्वी धन माल सब भ्रम है। ज्ञान के बिना मृत्यु सबका भक्षण कर डालती है। सन्त दादू ज्ञान से अमृत रस का पान होना और जीव का ब्रह्म हो जाना मानते हैं[12]। उनके अनुसार ज्ञान स्वतः अमृतरूप है[13]। ब्रह्मज्ञान का आस्वादन करके जीव स्वयं ही ब्रह्म रूप

---

११ यह ठगना दुइ रूप बनाए एक कनक दुइ नारी।
पाँच पचीस लिए सँग अपना हंसि हंसि लिनि मारी।
इन्द्रिनि संभ गढ़े घर में टप छप छल है तारी।
निरगुन सार न बूझा ज्ञान आम तन्ना गति न्यारी॥
जैसा चन्दन भरि अगना मा की गहबर मारी।
षट परसन पाखंड डालके पकरि लिये बजारी।
लोभ मोह दुइ भरि पितुकारी दूगन बारन्दारी।
जो कोई सम्गुरु सा के सेवै तिनहि पाढ़ नयी कारी।
कुमति गुलाल डारि मुख माँवे कान पुतरिया मारी।
सुर नर मुनि अरु पीर औलिया कीनि रह सम्हारा।
पत्रुगन पगुवा दं दं छूटे मूरख को लगे प्यारी॥
कह कबीर सुना हो सन्तनि निगुन ज्ञान गति न्यारी।

धरमदास की बानी। होली ४॥

१२ नानी भनो मातु धनु वरतणि सरब कूड़ा।
नानक सुनेगिमान विहूँणी खाइ गया जम कालु।

गुरु ग्रन्थ। महला १।

१३ ज्ञान कहै तिस ज्ञान सो अमृत रस पावै।
दादू दूजा छाड़ि के लागी लावै॥
ज्ञान ध्यान पावसी जैसा कहा है ज्ञान।
दादू आतम राम सों सुख रहै ल्यो लाइ॥ दादूदयाल की बानी।

हो जाता है। प्रेम और भक्ति से ज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान ही भगत और अद्वैतानुभूति की चरम स्थिति है।

संत सुंदरदास ने ज्ञान स्वरूप का वर्णन वेदान्त सिद्धान्त के पूर्णतः अनुकूल किया है। इन्होंने रज्जु और सर्प के दृष्टान्त से ज्ञान और भ्रम कहा है। तद्रूप जगत् अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। तज्जन्य अज्ञान के नाश होने पर अद्वैत ज्ञान का प्रकाश होता है[१४]। ब्रह्म ज्ञान से ही द्वैत अज्ञान का निवारण सम्भव है। वस्तुतः द्वैत सत्ता की उपलब्धि भ्रामक है। इसकी उपलब्धि तब तक होती रहती है जब तक मनुष्य इसकी ओर से अपनी दृष्टि को फिरा नहीं लेता। द्वैत ज्ञानरहित दृष्टि ही दिव्य दृष्टि है। इस दृष्टि से देखने पर सर्वत्र एकरस अखण्ड ब्रह्म ही अनुभवगोचर होता है।

संत मलूकदास के अनुसार अंधकार होने पर चोर चोरी करते हैं परन्तु दीपक के जलने पर नहीं कर सकते। इसी प्रकार ज्ञान होने पर अनात्मभाव नहीं स्पर्श कर सकते। मन रूपी मृग बिना सिर का है। वह चारा ओर चरने जाता है परन्तु ज्ञान उसको वश में कर लेता है[१५]।

बिहार वाले संत दरिया साहब ने आत्म ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा परम शुद्ध सत्य है। वह आवागमन से रहित है। वह विकारी

प्रेम भगति दिन दिन बधै सोई ग्यान बिचार।
दादू आतम साधि करि मथि करि काढ्या सार ॥ १७ ॥

दादूदयाल की बानी। पृष्ठ ५४।

१४ ब्रह्म ज्ञान बिचारि करि ज्यों होइ ब्रह्म स्वरूप रे।
सकल भ्रम तम जाय मिटि उदित भान अनूप रे।
ज्यूं दूसरो करि जबहि देखै दूसरो तब होइ रे।
फेरि अपनी दृष्टि ही को दूसरो नहि कोइ रे।
दिव्य दृष्टि करि जब देखिये तब सकल ब्रह्म विलास रे।
अज्ञान ते संसार भासै कहै सुन्दरदास रे। सुन्दर ग्रन्थावली। भाग २।

१५ जब लग थी अंधियार घर मूसत थक सब चोर।
जब मन्दिर दीपक बरया नहीं जात कोउ मोर ॥ ३६ ॥
मन मिरगा बिन मूड़ का चहुं दिसि चरने जाय।
हाँक ले आया ज्ञान तब बांधा ठौर लगाय। मलूकदास की बानी। पृष्ठ ३८।

और गुणों से अतीत है[१६]। इस प्रकार के विचार ही ज्ञान प्रकाशक हैं। आत्मज्ञान ही परम दिव्य ज्ञान है। बिहार वाले दरिया साहब ने इसके आगे आत्मा के अजर अमर लक्षणों का निर्देश किया है। यह आत्मा ही अद्वितीय सत्य है। इसके अतिरिक्त और सभी नाना नामरूपात्मक पदार्थ सत्ता जड़ और अनात्म है। इसके ही ज्ञान से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सका है।

संत गरीबदास ने ज्ञान की प्राप्ति के लिए हठयोग की पद्धति का अनुसरण किया है। इनके अनुसार ज्ञान वैराग्य द्वारा उत्पन्न होता है[१७]। ज्ञान का अनुभव ही उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है। इससे अविद्यात्मक द्वन्द्व दूर भागते हैं। ज्ञान ही ईश्वर के प्रति प्रेम जगाता है और उसके प्रति वियोग की अनुभूति प्रदान करके आत्मबोध को उद्बुद्ध करता है। यह ज्ञान कोई सरल या सुगम बात नहीं है। व्यावहारिक प्राणी में और ब्रह्म में भेद हो सकता

---

१६ साधो ऐसा ज्ञान प्रकासी।
आतमराम जहाँ लग कहिए सबै पुरुष का नामा।
[illegible] पुरुष है [illegible] निवासा।
हम [illegible] निरगुण [illegible] अविनासा।
[illegible] अमर है [illegible]॥
[illegible] नामा।
[illegible] कहै [illegible] न्यारी।
[illegible] गुन रहित [illegible]।
[illegible]॥
[illegible]॥
[illegible] पद ११।

१७ [illegible]।
[illegible]।
[illegible]।
[illegible]॥ १॥
[illegible]।
[illegible]।
[illegible]।
[illegible]॥ २॥
[illegible] की बानी।

है किन्तु परमात्मा में सहज समाधि में रमता है[१८]।

सन्त यारी साहब के मत में ध्यान योग साधना से अन्तर्मुख होता है। आत्मस्थिता ही परमध्यान है। समाधि में आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह नितान्त गूढ़ और अनुभवगम्य सत्य है। वाणी द्वारा इसका निर्वचन नहीं हो सकता है।

सन्त बुल्ला साहब ने ज्ञान को ही त्रिगुणात्मक माया और कर्म बन्धन से छूटने का उपाय माना है[१९]। पंच तत्त्वों और तीन गुणों के व्यवहार के कारण प्राणी जन्मता मरता है। इनसे मुक्त होकर आत्मबोध होता है। इन्द्रिय प्रकृतिजन्य विकारों से कर्म का क्रम उत्पन्न होता है। ब्रह्मज्ञान और सद्गुरु के उपदेश से प्राणी आवागमन से छूट जाता है, और कर्म बन्धन उसको नहीं बाँध सकते हैं।

सन्त चरनदास ने द्वैत तत्त्व और सत्ता भाव के अनुभव के लिए ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया है। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है किन्तु अविद्या के कारण द्वैतजन्य व्यवहार का उदय होता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर उपाधि से उत्पन्न होने वाला भ्रम नष्ट हो जाता है। मायात्मक अज्ञान के नष्ट होते ही स्वयंसिद्ध ब्रह्मज्ञान आविर्भूत होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होते ही सभी प्रकार के बन्धन नष्ट हो जाते हैं और नित्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। इस समय जीव और जगत् माया का अभाव हो जाता है और सर्वत्र

१८　अनहद नाद आदि सुर वाजा बिनु जिह्वा गुन वेद पढ़े।
　　काया उलटि आत्मा पूरन त्रिकुटी ध्यान सुमर करे।
　　भाग सम सुरति सो लागी मन पवन हरि अन्त तरा।
　　ज्ञान के ध्यान धर दिल दाना कहे यारी अब ध्यान धरे।
　　　　　　　　　　　　　　यारी साहब की रत्नावली। शब्द ६।

१९　तन पंचतत्त्व सब जो स्थापन मन त्रय गुन लीन।
　　उलटि निरन्तर निरन्तर विज्ञान परम तत्त्व निज चीन्ह।
　　दरबार के अवतन-अन्तर में कर्म धन का धर।
　　साहब-संग सद्गुरु पार उतरि गये भव पार।
　　तन बुल्ला ब्रह्मज्ञान दातु है मकर तन को मूल।
　　बूडन वन बुद्धि इन्द्रिय रिह ज्ञाता सब मूल॥ बुल्ला शब्द सागर।

एकमात्र अखण्ड ब्रह्म-सत्ता का साक्षात्कार होने लगता है[20]।

संत दयाबाई ने भी ज्ञान का अद्वैतपरक रूप प्रतिपादित किया है। जीव ब्रह्म का अन्तर घट मठादि में समान है। परमार्थतः दोनों में भेद नहीं है। घट मठ में एक ही आकाश आकार भेद से स्थित है परन्तु घटाकाश और मठाकाश इन आकारों के नष्ट होने पर एक रूप होते हैं। समस्त संसार अविद्याजन्य मोह निद्रा में सो रहा है। सद्गुरु की कृपा से ज्ञान आलोक से सम्पन्न प्रभात काल होता है। तब अज्ञान का प्रभाव नष्ट हो जाता है और परम प्रकाश-स्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। इस ज्ञानालोक में समस्त प्राणी एकरूप दिखाई देते हैं और विविध व्यावहारिक विषमताएं लुप्त हो जाती हैं। घट और मठ में स्थित आकाश वस्तुतः अज्ञान-दृष्टि से देखने पर विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु ज्ञान-दृष्टि से देखने पर घट और मठ में स्थित आकाश एकरूप हो जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का बोध या प्रत्यक्ष नहीं होता है[21]।

---

२० [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

२१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

सन्त भीखा साहब, सन्त जगजीवन साहब और पलटू साहब के काव्य में भी इसी प्रकार ज्ञान की निष्ठा के उदाहरण मिलते हैं। सन्त भीखा साहब का मत है कि ब्रह्मज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। ज्ञान की उत्पत्ति होते ही परमज्योतिमय ब्रह्म मन में समाविष्ट हो जाता है। इससे सभी व्यावहारिक विषयों का लोप हो जाता है और मन समाधि की उस दशा में लीन हो जाता है जहाँ दिन और रात नहीं होते। यही ब्रह्मबोध और असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है[२२]।

सन्त जगजीवन साहब के अनुसार ज्ञानोदय होने पर सर्वत्र निर्गुण ब्रह्म की ही महिमा का विस्तार दिखाई पड़ता है। जब तक यह ज्ञान नहीं होता प्राणी अनेक प्रकार के कर्म करके उनके शुभाशुभ फलों को भोगने के लिए अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है। योग साधन से सत्य स्वरूप परमात्मा का ज्ञान होता है और तभी प्राणी सब बन्धनों को काटने में समर्थ हो जाता है[२३]।

सन्त पलटू के मतानुसार ज्ञान ही जागृति है और अज्ञान सुषुप्ति। सोने में अनेक प्रकार के दुःख हैं। अतः ज्ञान खड्ग लिये हुए वे निरन्तर सजग

---

२२ कली बैठि गुरु ज्ञान मूल।
बिगसि कमल फूलो अपार फूल॥
फल प्रापत भयो रितु समाय
परम जोति जित मन समाय॥
पक्क भयो रस अमी खानि।
चाखन दृढ़ि सरूप जानि॥
सोहं आदि मध्य अन्त सोहं।
जीव पवन मन रह्यो न कोहं॥
सब्द ब्रह्म मन सुन्न लीन।
भीखा राति न दिवस चीन॥ भीखा साहब की बानी। बसन्त २।

२३ साधो अब मैं ज्ञान विचारा।
निरगुन निराकार निरबानी जिन्ह का सकल पसारा॥
काया धरि धरि नाचत आवै बंध करम के नारा।
बिनु सत डोरी जोग नहिं छूटै करै कोटि उपचारा॥
कृपा कीन्ह गहि सद्गुरु सम्हारयो उनहिं कदृष्टि निहारा।
सब संसार जित ते बिसर पहुँच सो दरबारा॥
निरगुन यहि गुरु धरयो आदि के राम भयो सुखारा।
जगजीवन गहि नाम उबरिगे सतगुरु नरा अकारा॥
जगजीवन साहब का शब्द सागर। भाग २। शब्द ६१।

प्रहरी के समान ज्ञानमय आवरण कर रहे हैं[24]।

इस ज्ञान का लक्ष्य ब्रह्म है। पीछे प्रकरण में जीव और ब्रह्म की एकता कही गई है। परन्तु इस एक्यानुभूति में अविद्या व धक है। ब्रह्म स्वतः ज्ञान स्वरूप है किन्तु दन्त्व भाव का अनादि कर्म परम्परा में प्राप्त होकर अज्ञान को विषय करता है। नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म में संसार अध्यस्त है। इस अध्यास बुद्धि का नाश होने से जीव ब्रह्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्म ज्ञान होने पर आवरण रूप माया जीव और जगत की सत्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। प्रकृति विकारों के कारण ब्रह्म पर माया का आवरण है। जागतिक व्यवहारों और अनात्म पदार्थों में अध्यस्त बुद्धि जीव को स्वरूप ज्ञान से अलग रखती है। यह अध्यास ही उपाधि रूप में नित्य मुक्त आत्मा के बन्धन का कारण है। यह बन्धन पारमार्थिक नहीं है जीव की उपाधि द्वारा रचा गया है। इस सम्बन्ध में सन्तों के काव्य में पुष्ट सिद्धान्त मिलते हैं। अज्ञान अथवा अविद्या के निरस्त होने पर ज्ञान स्वरूप आत्मा शेष रहता है।

शङ्कर के अनुसार ज्ञान स्वतः मोक्ष स्वरूप ही है। शङ्कर ने शरीर रहते हुए ही मुक्ति का अनुभव होना कहा है। जिस प्रकार कुण्डल धारण किये हुए पुरुष को कुण्डलों का अभिमान होता है किन्तु कुण्डल रहित पुरुष कुण्डल सुखाभिमान से रहित होता है। उसी प्रकार शरीराभिमानी पुरुष शरीर के दुःख सुखादि द्वन्द्व का अनुभव करता है। किन्तु जिस पुरुष को शरीर का अभिमान नहीं है उसको शरीर के दुःखों और सुखों का अनुभव नहीं होता। अतः जीवितावस्था में ही मुक्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार जीवितावस्था में ही मोक्षानुभव करने वाला साधक जीवन्मुक्त कहलाता है। विवेक चूडामणि के अनुसार स्थितप्रज्ञ आत्मानन्द का अनुभव करने वाला और प्रपंच को भूला रहने वाला साधक जीवन्मुक्त है[25]। देह तथा इन्द्रियों में कर्तृत्व अहंकार से रहित उदासीन पुरुष जीवन्मुक्त है[26]। नदी के समुद्र में मिलने पर नदी समुद्र

२४ नाम में पताका दण्ड है सोय के टूटा होय।
ज्ञान ध्यान नित पलटू नाम होना होय सो होय॥
पलटू साहब की बानी। शब्द ६२। भाग [illegible]।

२५ ब्रह्म सूत्र भाष्य। ११११४।
य य चित्त सदानन्द वरवानन्दा निरन्तर।
प्रपञ्चो विस्मृतप्राय स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४२६। विवेक चूडामणि।

२६ दर्श्श्रिन्ते यद्न्द मनाम्भावर्तिन।
औदासीन्येन यस्तिष्ठस जीवन्मुक्तलक्षण। ४ ७। विवेक चूडामणि।

का सम्य ह भोग श्रौर इन्द्रिया की तप्ति । श्रत इन्द्रिया के विषयो को त्याग देने से मनुष्य कम द्वारा उत्पन्न दुःखो से बच सकता है । गीता म कहा गया ह कि इन्द्रिया के भोग दुःख के कारण हैं । ये भोग अनित्य हैं । इनम विद्वान आसक्त नही होता[१४] । यदि कम अनासक्त होकर किया जाए अथवा इन्द्रियो श्रौर विषयो की वृत्तिया से रहित होकर किया जाए तो कम बधन उत्पन्न नही करता । हम स त काव्य म कम के स्वरूप का प्रत्यक्ष इन्ही आधारो पर करगे । हम दखगे कि स त कम फल को अनित्य मानते हैं । कम त्याग की बात स त स्वीकार करते हैं श्रौर अनासक्ति द्वारा की गई करणी का उन्होने भी महत्व प्रदान करते हैं । आचाय शङ्कर के सिद्धान्त के अनुसार कम के दो मुख्य रूप हैं —

१ लोक सग्रह के लिए कम आवश्यक है ।

२ चित्त शुद्धि म कम सहायक है ।

स त काव्य म हम कम के इन उपयुक्त पक्षो का भी विवेचन यथा स्थल करते चलगे । प्रधानत स त काव्य म कम को हम विषयभोग श्रौर माया काय के रूप म देखते हैं ।

गीता म कम का एक अन्य पक्ष भी है । सिद्धान्त पक्ष म कम प्रकरण में कहा जा चुका है कि चित्त शुद्धि श्रौर लोक सग्रह के लिए कम की आवश्यकता है । गीता म कम कई प्रकार म ग्रहण किया गया है । कर्मों को कौशल से करने का महत्त्व गीता म स्वीकार किया गया है[१५] । इस कौशल के द्वारा कम श्रौर उसके फल म आसक्त होने वाले दोषो का परिहार होता है । पीछे कहा जा चुका है कि कम के लिए फल अपेक्षित है श्रौर फल की अपेक्षा से नूतन कर्मों की सृष्टि होती है । इस प्रकार कम श्रौर फल की परम्परा के अनुसार जीव जन्म श्रौर मरण म पडता रहता है । भारतीय दशन श्रौर धम के क्षेत्र म जन्म मरण के उच्छेदन पर अनेक मीमासाए होती रही हैं । स तो का भी यही लक्ष्य है । उनके अनुसार जन्म श्रौर मरण दुःखो के कारण हैं अस्तु इनसे सुरक्षित रहने के लिए जगत श्रौर उसके सम्बन्धो का त्याग करना अनिवाय है किन्तु गीता का निवेदन है कि कम त्याग से जीवन यात्रा नही चल सकती[१६] । अत जो व्यक्ति कम का त्याग करते हैं वे मिथ्याचारी हैं ।

१४ ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध । गीता । ५।२२ ।

१५ योग कर्मसु कौशलम् । गीता ।२।५० ।

१६ नियत कुरु कम त्व । गीता । ३।८ ।